दो शब्द



आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्र अपनी वार्ताओं के द्वारा हिन्दी भाषा की बहुत बड़ी सेवा कर रहे हैं, यह सबको मालूम है। प्रसारित सामग्री में से बहुत कुछ ऐसी होती है जो उसी क्षण तथा उसी दिन के प्रयोजन को सिद्ध करती है। पर कुछ ऐसी सामग्री भी होती है जो अपेक्षाकृत स्थायी मूल्य की होती है और जिसके प्रकाशन से ऐसे लोगों को भी लाभ हो सकता है जिनके पास या तो रेडियो नहीं है या जो रेडियो होते हुए भी उस विशेष वार्ता को किसी और कारण से सुन नहीं पाते।

पर ऐसी सब सामग्री को भी प्रकाशित करना हमारे लिए सम्भव नहीं है, इसलिए उसमें से चुन कर जो सबसे अच्छी वार्ताएं हैं, उन्हें प्रकाशित करने का कार्य बहुत दिन पहले प्रारम्भ किया गया था। सब से पहले 'रेडियो संग्रह', फिर 'प्रसारिका' और बाद को 'आकाशवाणी प्रसारिका' के नाम से इस प्रकार के प्रकाशन किए गए, जिनका जनता में बहुत आदर हुआ। अब 'आकाशवाणी विविधा' नाम से स्थायी मूल्य की वार्ताओं का यह वार्षिक प्रकाशन प्रस्तुत है जो आपके सामने है। जैसा कि इस संकलन को सरसरी रूप से देखने से ज्ञात होगा, इसमें प्रसारित वार्ताओं में से सब तरह के नमूनों को प्रतिनिधित्व देने की चेष्टा की गई है।

भविष्य में भी इसी प्रकार रेडियो वार्ताओं के वार्षिक प्रकाशन होते रहेंगे। हम आशा करते हैं कि पाठक इनका स्वागत करेंगे और हमें इसे उत्तरोत्तर सुन्दर रूप में निकालने का मौका प्राप्त होगा।

—सम्पादक

आकाशवाणी विविधा १९५९

स्वतन्त्रता के पश्चात हिन्दी आलोचना

डा० नगेन्द्र



सन् ४७ के बाद की हिन्दी आलोचना सामान्यत: शुक्लोत्तर आलोचना का विस्तार है। शुक्ल जी के बाद हिन्दी में आलोचना की अनेक प्रवृत्तियां उभर कर आईं :

१. शास्त्रीय आलोचना जिसे शुक्ल जी से प्रत्यक्ष प्रेरणा प्राप्त थी;
२. सौष्ठववादी आलोचना जिसने शुक्ल जी द्वारा प्रभावित होने पर भी जीवन के आनन्दवादी मूल्यों और स्वच्छन्द दृष्टिकोण को अधिक आग्रह के साथ ग्रहण किया;
३. मनोवैज्ञानिक आलोचना जो साहित्य को व्यक्तिगत प्रक्रिया मान कर कवि मानस के विश्लेषण द्वारा कृति का विवेचन करती थी;
४. समाजशास्त्रीय आलोचना जो समाजवादी जीवन-दर्शन से प्रेरणा प्राप्त कर सामाजिक चेतना के विकास को साहित्य का लक्ष्य मानती थी;
५. ऐतिहासिक आलोचना जो सांस्कृतिक-सामाजिक परिवेश में साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत करती थी;
६. सैद्धान्तिक आलोचना जिसका साध्य था भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन; और
७. शोधपरक आलोचना जिसके अन्तर्गत हिन्दी के प्राचीन एवं नवीन साहित्य की तथ्यपरक और तत्वपरक शोध हो रही थी।

स्वतन्त्रता के उपरान्त ये सभी प्रवृत्तियां समान रूप से सक्रिय नहीं रह सकीं। उदाहरण के लिए, मनोवैज्ञानिक आलोचना के अन्तर्गत विशेष कार्य नहीं हुआ। केवल एक शोध-ग्रंथ *'आधुनिक कथा-साहित्य और मनोविज्ञान'* हमारे सामने आया। इसके लेखक डा० देवराज उपाध्याय हिन्दी के परिचित सुलेखक हैं। उन्होंने अतिवादों को बचाते हुए काफी सुथरे ढंग से हिन्दी के कथा-साहित्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। मनोविज्ञान की शब्दावली में लेखक ने गेस्टाल्ट पद्धति का अवलम्बन किया है जिसमें शाखाओं की अपेक्षा मूल का ग्रहण रहता है, अर्थात व्यक्तित्व का खंडश: नहीं वरन समग्र रूप में विश्लेषण रहता है। मनोविश्लेपणशास्त्र का अवलम्ब ग्रहण करने वाले लेखकों में श्री इलाचन्द्र की कृति 'देखा-परखा' उल्लेखनीय है। इलाचन्द्र जी के विश्लेषण में पर्याप्त गहनता रहती है और वह पूर्वग्रह से मुक्त रह कर, प्रबल शब्दों में अपना मत अभिव्यक्त कर सकते हैं। उनकी दृष्टि में अन्तर्प्रवेश की क्षमता जितनी है, उतनी स्वच्छता नहीं है; स्रष्टा कलाकार की ताजगी

जितनी रहती है, आलोचक का बौद्धिक अनुशासन उतना नहीं रहता। इस वर्ग के अन्य आलोचक श्री अज्ञेय अपने में इतने डूब गए हैं कि उनकी आलोचना में उनके अपने मन की स्वरति-जन्य निविड़ताओं का आलेखन मात्र ही होता है। सब मिला कर आलोचना की इस उपयोगी प्रणाली का जैसा विकास होना चाहिए था वैसा नहीं हुआ।

स्वतन्त्रता-पूर्व युग में आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवादी अथवा समाजशास्त्रीय आलोचना का बड़ा ज़ोर था। भारतीय राजनीति में समाजवाद के प्रचार के साथ भारतीय साहित्य में भी समाजवादी दर्शन का प्रभाव बढ़ रहा था। साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा आलोचना में यह प्रभाव अधिक सक्रिय रहा, क्योंकि मार्क्सवादी जीवन-दर्शन भी तो अनुभूतिपरक अथवा दर्शनपरक न हो कर मूलतः बुद्धिपरक या आलोचनात्मक ही रहा है। हिन्दी में समाजवादी आलोचना का प्रमुख योगदान था कल्याणवादी मूल्यों की पुनःप्रतिष्ठा। साहित्य में आनन्दवादी मूल्यों और कल्याणवादी मूल्यों में जाने-अनजाने एक प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा-सी चलती रहती है। द्विवेदी युग में जिस प्रकार रीतिकाल के अतिशय रसवादी मूल्यों की प्रतिक्रिया में लोक-मंगल का आग्रह सहसा प्रबल हो उठा था, उसी प्रकार १९३७ के बाद छायावाद की अन्तर्मुखी रसदृष्टि के विरुद्ध प्रगतिवादी आलोचकों ने बहिर्मुखी लोकदृष्टि का साग्रह उन्मेष किया। इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद के अपकर्ष काल में अतीन्द्रिय कल्पना विलास के अन्तर्गत काव्य की स्वस्थ लोक-मंगल भावना बहुत कुछ विलीन-सी होने लगी थी और हिन्दी कविता को स्वप्न से सत्य की ओर आकृष्ट करने की बड़ी आवश्यकता थी। इसकी पूर्ति प्रगतिवाद ने अंशतः की, किन्तु प्रगतिवाद की सत्य सम्बन्धी धारणा एकांगी और अपूर्ण ही रही और उसी अनुपात से उसकी कल्याण-भावना भी। प्रगतिवाद के लिए सत्य केवल पदार्थ में सीमित रह गया और कल्याण केवल भौतिक सुख-स्वास्थ्य का ही वाचक बन कर रह गया। फलतः एक अतिवाद का निराकरण करन में उसने दूसरे अतिवाद का प्रसार एवं प्रचार करना आरम्भ कर दिया। उसने काव्येतर बहिरंग मूल्यों का आरोप इतनी हठधर्मिता के साथ किया कि काव्य का मूलधर्म ही बाधित हो गया। सन् ४७ के बाद प्रगतिवादी आलोचना सक्रिय तो रही किन्तु उसका तेज मानो किसी ने छीन लिया। उसके आरम्भिक उत्साह का परिपाक जिस स्वस्थ प्रौढ़ रूप में होना चाहिए था वह नहीं हो पाया। इस पद्धति पर लिखे हुए ग्रंथों में श्री शिवदानसिंह के कतिपय ग्रंथ, जैसे 'हिन्दी साहित्य क अस्सी वर्ष', 'साहित्यानुशीलन'; डा० रामविलास के दो ग्रंथ 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं', 'संस्कृति और साहित्य'; तथा श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त की 'साहित्य धारा' उल्लखनीय हैं।

ऐतिहासिक आलोचना के समर्थ प्रतिनिधि हैं डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। स्वतन्त्रता से पूर्व और उसके पश्चात भी इस क्षेत्र में उनका ही योगदान प्रमुख है। द्विवेदी जी साहित्य को व्यापक सांस्कृतिक जीवन का अंग मान कर चलते हैं। आचार्य शुक्ल जी जहां साहित्य को केवल शिक्षित समुदाय के सांस्कृतिक जीवन से सम्बद्ध कर देखते थे, वहां द्विवेदी जी समस्त जनसमुदाय के सांस्कृतिक जीवन के साथ उसका अंतरंग सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इस प्रकार साहित्य का आधारफलक अत्यन्त विस्तृत हो जाता है, परन्तु उसको संभालने योग्य पांडित्य और व्यापक मानववादी मूल्यों में अटूट आस्था का संबल उन्हें प्राप्त है। स्वतन्त्रता के उपरान्त इस विषय पर उनकी दो रचनाएं प्रकाशित हुई हैं: 'नाथ सम्प्रदाय' और 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल'। इसमें सन्देह नहीं कि यह उदार दृष्टि अपने आप अत्यन्त श्लाघ्य है, परन्तु मेरा मन इसके प्रति सर्वथा निःशंक नहीं हो पाता: सार्वजनिक जीवन की सम्पूर्ण वाङमयी अभिव्यक्ति 'साहित्य' कैसे मानी जा सकती है? इस प्रकार की उदार दृष्टि साहित्य और असा-

हित्य के भेद को नहीं देख पाती; अत्यधिक विस्तार के मोह में सूक्ष्म दर्शन की शक्ति को खो बैठना भी अधिक श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता। मैं इसे प्रस्तुत आलोचना-पद्धति की विशेष परिसीमा मानता हूं। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनेक ग्रंथ अंशतः तथा डा० सत्येन्द्र का शोध प्रबन्ध 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन' इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इधर 'आलोचना' के विशेषांक में प्रकाशित कतिपय लेख भी नए ढंग की ऐतिहासिक आलोचना के सुन्दर उदाहरण थे।

अब स्वतन्त्रता-पूर्व आलोचना की चार अन्य शैलियां शेष रह जाती हैं जिनका विकास इस दशक में नियमित रूप से हुआ है। सबसे पहले शास्त्रीय पद्धति को लीजिए। यों तो इसका प्रवर्तन द्विवेदी युग के आरम्भ में ही हो गया था, किन्तु वास्तविक स्वरूप शुक्ल जी की व्यावहारिक आलोचनाओं में ही आ कर स्थिर हुआ। शुक्ल जी ने संस्कृत काव्य-शास्त्र का पुनराख्यान कर और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों को अपने अनुरूप ढाल कर हिन्दी के लिए एक समन्वित आलोचना-शास्त्र का निर्माण किया और उसके प्रतिमानों के द्वारा हिन्दी के अमर काव्यों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया, जो हिन्दी में शास्त्रीय आलोचना का आदर्श बना। इस पद्धति का अवलम्बन कर अनेक शास्त्रीय अध्ययन प्रकाशित हुए। इस परम्परा में स्वतन्त्रता के उपरान्त भी केशवदास, भिखारीदास, घनानन्द आदि के काव्यों का सर्वांगीण विवेचन किया गया और अनेक प्रामाणिक कृतियां सामने आईं। विशेष काव्य-वादों तथा कवियों का विवेचन अब भी निरन्तर इसी पद्धति पर हो रहा है। शुक्ल जी से प्रभावित किन्तु स्वतन्त्र साहित्य-मूल्यों का अनुसरण करनेवाले आलोचकों में प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रो० गुलाबराय और डा० देवराज का विशिष्ट स्थान है। प्रो० वाजपेयी ने काव्य की दार्शनिक भूमिका को साग्रह ग्रहण करते हुए भी काव्य के रोमानी मूल्यों को ही अन्ततः प्रमाण माना है। शुक्ल जी की काव्य-दृष्टि को सांस्कृतिक कह कर वस्तुतः ये उनके आभिजात्यवाद के प्रति विरोध प्रकट करते हुए अपने रोमानी दृष्टिकोण की ही स्थापना करना चाहते हैं। प्रसाद, निराला तथा सूरदास का पक्ष ले कर उन्होंने वास्तव में काव्य के अंतरंग तत्वों की ही प्रतिष्ठा की है। सन् ४७ के बाद उनके तीन ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। प्रो० गुलाबराय की प्रतिभा इस दशक में निबन्ध-रचना में अधिक संलग्न रही। उनकी एक अभिनव कृति 'अध्ययन और आस्वाद' अभी प्रकाशित हुई है। इस युग में जिन नए आलोचकों के व्यक्तित्व उभर कर सामने आए हैं उनमें कदाचित सबसे अधिक स्वस्थ-स्थिर दृष्टि डा० देवराज को प्राप्त है। डा० देवराज वृत्ति से दार्शनिक और स्वभाव से स्रष्टा साहित्यकार हैं। वह आलोचना में छायावादी मूल्यों के विरोधी और आभिजात्यवादी मूल्यों के कायल हैं, जो अमर साहित्य के अध्ययन से अनुगम विधि द्वारा प्राप्त होते हैं।

अब हिन्दी आलोचना की दो प्रवृत्तियां शेष रह जाती हैं: सैद्धान्तिक आलोचना और शोधपरक आलोचना, जिन्होंने इस दशाब्द में विशेष प्रगति की है। सैद्धान्तिक आलोचना की परिपाटी हिन्दी में बहुत प्राचीन है, भारत की किसी आधुनिक भाषा में इतना प्रभूत साहित्य उपलब्ध नहीं है। मराठी की शास्त्रीय परम्परा अत्यन्त समृद्ध होती हुई भी इतनी प्राचीन नहीं है, तमिल आदि की परम्परा प्राचीन होने पर भी निरन्तर विकासशील नहीं रही। द्विवेदी युग में भारतीय काव्य-शास्त्र पर अनेक प्रौढ़ ग्रंथों की रचना हुई और उधर पाश्चात्य सिद्धान्तों की चर्चा भी नियमित रूप से होने लगी थी। आचार्य शुक्ल ने अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा दोनों का पुनराख्यान और यथावत समंजन करने का सफल प्रयत्न किया। उन्होंने भारतीय सिद्धान्त का पाश्चात्य मनोविज्ञान तथा आलोचना-शास्त्र के अनुसार आख्यान किया और

पश्चिम के साहित्य सिद्धान्तों को भारतीय काव्य-शास्त्र की कसौटी पर कस कर परखा। इस प्रकार नए साहित्य के अनुरूप काव्य-शास्त्र का शिलान्यास हुआ। स्वतन्त्रता के पश्चात इस पद्धति का सम्यक विकास हुआ। शुक्ल जी और उनके युग की अपनी परिसीमाएं थीं। उस समय हिन्दी के लेखक का न तो पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र के साथ इतना घनिष्ठ सम्पर्क था जितना आज हो गया है, और न संस्कृत काव्य-शास्त्र के ही ग्रंथ उसके लिए सुलभ थे। आज हिन्दी का यह अभाव बहुत कुछ पूरा हो गया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के प्रायः समस्त महत्वपूर्ण ग्रंथों के विस्तृत हिन्दी भाष्य आज सुलभ हैं : काव्यादर्श, काव्यालंकारसूत्र, ध्वन्यालोक, वक्रोक्ति-जीवित, काव्यमीमांसा, औचित्य-विचार-चर्चा, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, रसगंगाधर आदि तो मुद्रित ही हो चुके हैं; अभिनवभारती जैसे दुष्प्राप्य और दुर्बोध ग्रंथ की व्याख्या प्रेस में है। उधर उज्ज्वलनीलमणि और अग्निपुराण के काव्य-शास्त्र सम्बन्धी अंश के अनुवाद भी हो चुके हैं सरस्वतीकंठाभरण, काव्यालंकार, (भामह और रुद्रट,) व्यक्तिविवेक आदि पर कार्य हो रहा है। इस प्रकार प्रायः समस्त संस्कृत काव्य-शास्त्र हिन्दी में अवतरित होता जा रहा है। भारत की किसी भी आधुनिक भाषा में इस दिशा में व्यवस्थित कार्य नहीं हुआ, मराठी में भी नहीं। किसी में केवल ध्वन्यालोक ही है और किसी में काव्यप्रकाश अथवा साहित्यदर्पण मात्र। अधिकारी विद्वान उधर पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की ओर भी बढ़े हैं। डा० देवराज उपाध्याय का 'रोमांटिक साहित्यशास्त्र', डा० लीलाधर गुप्त का 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त', डा० एस० पी० खत्री के कई ग्रंथ विशेषकर 'आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त' आदि इस दिशा में स्तुत्य प्रयास हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आदि ग्रंथ 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' प्रकाशित हो चुका है। लांजाइनस के 'दि सब्लाइम' का हिन्दी अनुवाद और 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा' नाम से यूरोप के प्रतिनिधि आलोचकों के सिद्धान्त-वाक्यों के संकलन हिन्दी पाठक को आज उपलब्ध हैं। इस प्रकार सैद्धान्तिक समालोचना के क्षेत्र में गत दशाब्द में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। आज का आलोचक केवल विवरण पढ़ कर अथवा संदर्भ-ग्रंथों के आश्रय से संस्कृत और पाश्चात्य सिद्धान्तों की चर्चा नहीं करता, उसका आधार पुष्ट और ज्ञान प्रामाणिक होता है। शुक्ल जी के युग में यह सुलभ नहीं था।

शोधपरक आलोचना और भी अधिक सक्रिय रही है। हिन्दी में लगभग १५० शोध-प्रबन्धों पर उपाधि प्रदान की जा चुकी है, जिनमें से लगभग ६० प्रकाशित हो चुके हैं और कोई ५०० विद्यार्थी और विधिवत अनुसन्धान कर रहे हैं। ये तथ्य केवल परिमाण की दृष्टि से ही किसी भी भाषा के विद्वान को चौकाने के लिए पर्याप्त है। इसमें सन्देह नही कि ये सभी ग्रंथ आदर्श शोध के निदर्शन नही है। इनमें ऐसे ग्रंथों की बहुत बड़ी संख्या है जो तथ्य-शोध और तत्व-बोध दोनों की दृष्टि से अपूर्ण हैं। परन्तु इनमें ऐसे प्रबन्धों की संख्या भी कम नही है जो किसी भी विषय के अनुसन्धाताओं का मार्गदर्शन कर सकते है। विद्या की वृद्धि मे इनका योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इनके द्वारा हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंग-उपांगों से सम्बद्ध फुटकल सामग्री प्रकाश में आई है और उसका सर्वांग मंथन हुआ है। ज्ञानराशि का एक विशाल सागर हिन्दी के पाठक के सामने आज लहरा उठा है।

—लखनऊ से प्रसारित

जल-हंसी

केदारनाथ अग्रवाल

सुबह-सुबह हंस दी वह
सिहरते जलाशय के लहरदार पानी में,
बालू पर,
सूखी जलघासों के इर्द-गिर्द
हल्दी के पानी-सी हंसी वह फैल गई —
दूर-दूर लहरों में,
लहरों की भीतरी गुफाओं-कन्दराओं में,
गूंजती चली गई ।

यात्री मैं—
देखता रहा केवल पानी में झुकी हुई
धूप की टहनियों को,
गहरे-गहरे धंसती—
पंक्तिबद्ध चिड़ियों को,
बिना लक्ष्य फिंकी हुई डूबती कंकड़ियों को,
जाने कब अकस्मात
एक शब्द उठा और सूने जलाशय को रौंद कर
चला गया बेंत के निकुंजों में ।
यात्री ने सुना,
और उस बूढ़े बरगद के भीतर से बोल उठा—
सुबह के स्वच्छ नील पानी में घुली हुई —
उच्छल हंसी ओ सुनो,
नाम नहीं पूछूंगा ।
मैं तो हूं संवेदन दरपन जलाशय का,
खण्ड-खण्ड हो कर,
जीवन के बिलकुल अंतिम धुंधले छोर तक,
समय के आर-पार
गूंजती अनामा यह हंसी पकड़ रक्खूंगा ।

—इलाहाबाद से प्रसारित

अर्धनारीश्वर

रामधारीसिंह 'दिनकर'



एक दिन ब्रह्मा ने मर्द से पूछा कि तुम्हें कैसी संगिनी चाहिए ? मर्द कुछ सोच कर बोला—जो ढीली हो, लचीली हो, जिसका मेरुदण्ड भी मृणाल का तार हो, जिसका चेहरा गुलाब का, आंखें हिरन की, नाक सुग्गे की, ओंठ फूलों के और उंगलियां कोंपल की हों, और जिसकी हर बोली एक लय हो, हर चितवन अमृत की धार हो और हर कदम ऐसा हो, मानो फूलों की ऋतु झूमती हुई आ रही है। और उसके दिमाग नहीं, सिर्फ दिल ही दिल हो। वह ऐसी हो जैसी पेड़ पर छाई हुई यह लता है और जो पेड़ का सहारा लिए बिना ठहर नहीं सके। खेत-खलिहान के सारे कामों का जिम्मा लेने को एक मैं ही बहुत हूं। अब जो नई कृति आवे, वह आनन्द और सपनों की प्रतिमा हो। वह ऐसी निराकार हो जैसे मन में उठने वाले बादल होते हैं और वह ऐसी शान्तिदायिनी हो जैसे दिन के बाद आने वाली चांदनी होती है। अपनी बगल में अब मैं किसी ऐसी चीज़ को नहीं चाहता जिससे मुझे मेहनत की याद आए, थकान की याद आए, जिससे मुझे मेरी ज़िम्मेदारियों का खयाल हो। बल्कि, मैं तो वह सूरत चाहता हूं जो सपनों की तसवीर हो, जो उस हंस के समान हो जो जल पर तैरने वाले हंस के नीचे-नीचे चलता है, जो उस फूल के सामन हो, जो उपवन में नहीं, उपवन में घूमने वाले दर्पण में खिलता है। बाबा, मुझे चांदनी दो, हरियाली दो और दो वह कल-कल नाद जो दूर पर बहने वाली नदी के हृदय से उठ कर आता है।

ब्रह्मा ने मर्द की सारी नब्ज़ें पहचान कर स्त्री की रचना कर दी। और कुछ दिन बाद, ब्रह्मा ने स्त्री से भी पूछा—क्यों, तुम्हारे संगी में सब कुछ ठीक है या कुछ परिवर्तन किया जाए ?

औरत बोली—वैसे तो सब कुछ ठीक है, मगर मूंछ और दाढ़ी के बाल कुछ और कड़े कर देते तो अच्छा होता। और आपके यहां शेर और रीछ बनाने वाले मसाले अगर बाकी हों, तो उनमें से मर्द को थोड़ा-सा और दे दीजिए।

ब्रह्मा ने मर्द के दाढ़ी-मूंछ के बाल कड़े कर दिए और कई बातों में उसे शेर और रीछ के समान बना दिया।

और तब वे सोचने लगे—यह ठीक हुआ। मर्द धूप है, तो धूप की गर्मी उसमें और बढ़नी ही चाहिए। और औरत चांदनी है तो उसकी शीतलता जितनी बढ़ती जाए, उतना अच्छा है। कर्म है तो हथौड़े और कुदाल चलाने वाली बांहों की फट्ठियां चट्टान चीर कर बनाई जाएंगी। और सपना है तो औरत के एक कल्पना, एक खयाल, रंगों का एक धुआं और सुगन्ध की एक मंजूषा बन जाने में हर्ज क्या है ?

मगर, दुनिया ठीक से चली नहीं। मर्द ने खेतों में काम तो खूब किया, किन्तु खेत के काम उसकी ताकत को थका नहीं सके। वह पहले तो इधर-उधर टकरा कर धक्के-मुक्के के मजे लेता रहा, फिर बड़ी-बड़ी लड़ाइयां लड़ने लगा, क्योंकि लड़ाइयों में वह जी भर कर गरज सकता था, पूरी ताकत को तान कर प्रहार कर सकता था और उछल-उछल कर अपनी मर्दानगी की भूख मिटा सकता था।

और औरत ने दुनिया के कामों में हिस्सा लेना छोड़ दिया, क्योंकि वह सपना थी और सपने पसीना बहा कर काम नहीं कर सकते। और जब भी औरत काम करने को बढ़ती, मर्द उसे रोक देता और कहने लगता—तू तो मेरे मन की तरावट और हृदय का प्रकाश है। काम करने को मैं अकेला ही बहुत हूं। तू केवल इतना कर कि जब भी मैं शाम को घर लौटूं, तब तू जुही के फूल बन कर मुझ पर बरस जा, खिली हुई लता बन कर मेरे गले से लिपट जा और अपने स्पर्श से मेरे उष्ण रक्त की धारा को तनिक शीतल बना दे।

औरत को यह काम बहुत पसन्द आया और वह दिन-दिन अधिक चांदनी, अधिक जुही और अधिक लता बनने लगी, बल्कि, दिन-रात उसे यही चिन्ता रहने लगी कि कैसे वह ऐसी बन जाए कि मर्द की गर्मी और थकान को अधिक से अधिक उतार सके। और तब धरती की आत्मा ने एक दिन ब्रह्मा से शिकायत की—बाबा, तुमने यह क्या किया? औरत तो खैर घास पर की रंगीन शबनम है, मगर, इस मर्द का क्या हो, जो आग का लुक्का बन कर उड़ रहा है, जिसे केवल जलने में ही नहीं, जलाने में भी आनन्द आने लगा है? क्या ऐसा नहीं कर सकते कि औरत को थोड़ा मर्द और मर्द को थोड़ी औरत बना दो?

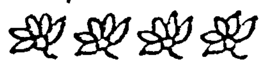
ब्रह्मा ने अपनी छेनी-हथौड़ी को देखा और वे हंस कर बोले—इन औजारों का हर काम अधूरा रहता है। और मैं किसी भी मूर्ति को तोड़ कर दुबारा नहीं गढ़ता, क्योंकि यह काम मैंने आदमी के लिए छोड़ रखा है। तुम जो कहती हो वह कदाचित होने वाला है, क्योंकि नारद मुझसे कह रहे थे कि धरती पर अगला अवतार अर्धनारीश्वर का अवतार होगा। अर्धनारीश्वर जिसकी लताएं पेड़ का सहारा लिए बिना खड़ी होंगी और अर्धनारीश्वर, जिसके पेड़ का तना स्वयं लचीला और नर्म होगा। अर्धनारीश्वर, जिसकी कविता में ज्ञान की रीढ़ होगी और अर्धनारीश्वर जिसके ज्ञान में कवित्व का लोच होगा। नर की धूप और नारी की चांदनी, ये अलग-अलग नहीं रहेंगे, बल्कि, अर्धनारीश्वर की दुनिया गोधूलि से झिलमिल रहेगी। गोधूलि, जो कभी यह नहीं कहती कि सब कुछ स्पष्ट है और गोधूलि, जो यह नहीं मानती कि केवल मेरा कहना ही ठीक है।

और तब से धरती अर्धनारीश्वर की राह देख रही है।

—पटना से प्रसारित

दियाधरी

गिरिजाकुमार माथुर



[मालव प्लेटो की उत्तरी सीमा के एक गांव की पहाड़ी, जिसके पास पहुंच कर लोग कहते हैं, सूरज तुरन्त् डूब जाता है—हर शाम को चोटी की मढ़िया में सदियों से एक दीपक जलता चला आया है। गांव वालों का विश्वास है कि उसे जिन्न जलाते हैं, क्योंकि आज तक किसी को उसे जलाते नहीं देखा गया।]

काले जंगल काले खेत, काली मिट्टी सांवरी,
धूप, फूल दोना ले आती, रातें ओढ़े कामरी
सूरजमुखी हुआ दिन छूकर मिट्टी लाल पठार की
सांझ पहनती दिन डूबे फरिया सल्मों के तार की

ऊपर धरती की छाती पर धूल चुनर की लालिमा,
बीज कोख में रखने वाली नीचे रसमय कालिमा
लुगड़ा छापेदार लाल, हंसली की चमके बीजरी,
लहंगा स्याह कमर में पहने स्याम बरन की गूजरी

वत्सल छाती-सी पहाड़ियां दूध पिलाने आतुरा,
बच्चे-सा सूरज सो जाता ले कर मुंह में आंचरा
नम रहती पलास की चोली, रिसतीं बूंदें दूध की,
माटी घास अमरता पाती चरागाह की रूंद की

चोटी ऊपर दिया चमकता माथे कुन्दन बोर-सा,
नीली रात चंदोवे वाली पंख गिरा ज्यों मोर का
सोंधी मिट्टी, मीठा गेहूं, दूध रसीला ज्वार में,
धूप निकलती है कपास की, हिरन कजलते क्वार में

कंधे कांवर धर कर लाते ठंडा पानी मेघरा,
नीर भरी नदियां चलतीं, सिर धर मटकों के वेहरा
बूढ़े वड़, पीपल, सेमर हैं जटा लटकतीं श्यामला,
खिरनी, जामुन, बील, चिरौंजी छाए नीबू, आमला

उठे गंव गाड़ी महुक से, मीठे महुवा फलते
नरम दाभ की आंखें चरना हिरनी-हिरना भलते
जमती खुर की धूल खरेरी लाली बुझती शाम की,
दियावरी पर सनई जलती सोती चिड़िया घाम की

चनका करती लौ, न कुचलती अंधियारे की नाल से,
कहते हैं, जलता आया यह दिया सैकड़ों साल से
कौन डालता तेल ? कौन अनहोनी बाती डालता ?
संझा डूबे रोज कौन चकमक से आग निकालता ?

गागा पत्थर की सफेद कोरों से चिनगी छूटती,
जलती सूखी खंख सनोरी जोत दिये से फूटती
परम्परा की डोर पुरानी चलती अपने आप है,
बिना कहे दीपक जल जाता, नाम बताना पाप है

+ + +

दियावरी की लौ हिलती है मंडरा रहीं विभूतियां,
पद्मावती, कुसुमपुर, विदिशा, ताम्रवती की वीथियां
टूटे मंडवे, खंब, कलस, धुज, तोरन, तूपे, बावड़ी,
पाथर कंवल, छत्र, सिंहासन, अंगना, चौक महावरी

चंदन, अगर, उसीर, केवड़ा, महलों नौबत आरती,
सून दिये की लौ में से उठती मालविका नाचती
वासवदत्ता करें चितेरी, उदयन आंखें मूंदते,
खौर भरें वसन्तसेना की सखि कस्तूरी बूंद से

कमल सरोवर, कुंड, हजारे, कुंजों माधव मालती,
दमयंती बैठी हंसों में नल की पाती बांचती
अग्निमित्र, यशवर्मन, विक्रम मिहिरगुलों से जूझते,
उड़ते दिखें चमकते घोड़े चांद-सुरज के पूत से

कालिदास बैताल खड़े अनझर केसर के फूल से,
सिंहासन की पुतली गाती उठ गैलों की धूल से
डूह, टौरियां, टगर, खेत बन गईं पुरी रजधानियां,
गांव गोट के गीत बनीं खंडों में टूट कहानियां

"पुर, पाटन, गांव
नगर के राजा
नल, दमयंती रानी,
हमसे कहते, तुमसे सुनते
सुनो महालच्छनो रानी
सोलह बोल की एक कहानी"

सोलह बोल की कथा पुरानी, सुधियां लौ बन डोलतीं
दियाधरी की लाखों बाती खड़ी पांत में बोलतीं।
सोलह बोल की कथा हज़ारों बोल भटक टकरा रहे,
परिवर्तन की अंध गुफा में प्रेत नाद मंडरा रहे।

गढ़ी, हवेली, महल, अटारी, फूटी निसई, छतरी,
जिन्न, चुड़ैल, परेत बन गए इतिहासों के संतरी
ध्वंसों की आत्मा हर रात हवा-सी सांय पुकारती
कभी खिलखिलाती बच्चे-सी रोती धाड़ें मारती

सुन्न टगर के पीपल, इमली, नीचे जले मशाल-सी,
कभी कथा बनती बुढ़िया या कन्या सोलह साल की
वैभव और विभूति मिटीं अनलिखे रहे इतिहास भी,
सत्य धुंध बन गया, रहे कल्पना भरम विश्वास ही

हर टीले का एक देव, हर दबी पुरी पर चौतरा,
हर पाताल बावड़ी रमते राजा, रानी, अप्सरा
चरवाहों का हर पत्थर सिंहासन विक्रम भान का,
रातों होता न्याय, भोर पहरा पड़ता सुनसान का

इतर गंध की लपट, आज डांगर ढोरों की धूल है,
मन भरने को याद रहीं, जीवन पर उगा बबूल है
सुख संस्कृति की बातों से असलियत बहुत ही दूर है,
चमत्कार का मोती भी घूरों पर आ कर चूर है
कथा गीत है सिर धुनते,
टूटे टपरों के सामने
चिथिड़ों में अनगिन विक्रम,
फिरते बैलों को थामने !

जिन हाथों ने माटी से उपजाई संस्कृति चांदनी,
वही भूमि है, हाथ वही, माटी वह ही मनभावनी
दियाधरी भी उपजाती रातों परिया भर चांदनी,
निगल न ले इतिहास शेष जीवन की कोदों काउनी

जो विभूति रमती जनपद में बैसंदर की राख-सी,
कहती है कि अंधेरे पर आता है उजला पाख ही
जलती उस विभूति की आत्मा दियाधरी के दीप में,
मोती जैसा युग लाने को फिर समाज की सीप में

काले जंगल काले खेत, काली मिट्टी सांवरी
धूप फूल दोना ले आती, रातें ओढ़ कामरी

—इलाहाबाद से प्रसारित

क्लेम

मोहन राकेश



अड्डे से तांगा चला तो उसमें कुल तीन ही सवारियां थीं। यदि दूर से बस आती दिखाई न दे जाती तो साबुसिंह अभी और कुछ देर चौथी सवारी का इंतज़ार करता। परन्तु बस के आते ही तांगे में बैठी हुई सवारियां उतर कर बस में चली जाती थीं, इसलिए बस के अड्डे पर पहुंचने से पहले तांगा निकाल लेना आवश्यक हो जाता था। बस के आने से पहले सवारियां कितनी ही उतावली मचाती रहें, वह चार सवारियां पूरी किए बिना अड्डे से बाहर नहीं निकलता था। बस कचहरी से माडल टाउन के पांच पैसे लेती थी, इसलिए तांगे भी पांच-पांच पैसे सवारी ले कर ही जाते थे। यदि पूरी चार सवारियां हों तो कहीं पांच आने पैसे बन पाते थे, नहीं तो घोड़े को सवा मील दौड़ा कर भी दस या पन्द्रह पैसे ही हाथ लगते थे। आज सुबह से उसने माडल टाउन के तीन फेरे लगाए थे, मगर अभी तक उसकी जेब में पूरे सत्रह आने भी जमा नहीं हो पाए थे। मई की चिलचिलाती धूप में घोड़े का वैसे ही दम निकलने को हो रहता था, फिर उसे दस-दस पैसे के लिए दौड़ाते फिरना अक्लमंदी की बात नहीं थी। मगर इसके सिवाय चारा ही नहीं था। गर्मी में एक तो सवारी निकलती ही कम थी, और दूसरे मुकाबला बस सर्विस के साथ था जो कचहरी से माडल टाउन पहुंचने में पांच मिनट भी नहीं लेती थी।

"चल अफसरा, चल, तेरे सदके, चल।" वह खड़ा हो कर लगाम को ही घुमाता हुआ उससे चाबुक का काम ले रहा था। धोबी मुहल्ला पार करने तक उसे आशा थी कि शायद रास्ते में ही कोई सवारी मिल जाए, परन्तु ड्योढ़ियों में ऊंघती हुई दो-एक धोबिनों को छोड़ कर और सारा मुहल्ला सुनसान था। मुहल्ले से निकल कर उसने लगाम ढीली छोड़ दी और आप वज़न बराबर करने के लिए बांस पर बैठ गया।

पीछे से बस आ रही थी, इसलिए पिछली सीट पर बैठी हुई स्त्री ज़रा तेज़ हो उठी—"बैठाते वक्त तो मिन्नत-तरला करके बैठा लेते हैं और चलाते वक्त इस तरह चलाते हैं जैसे सैर करने के लिए निकले हों। इतनी देर लगानी थी तो हमसे पहले कह देते, हम बस में बैठ जाते। हमारा इतना ज़रूरी काम है, नहीं तो हमें इतनी गर्मी में घर से निकलने की क्या पड़ी थी!"

साबुसिंह उचक कर बांस पर ज़रा और आगे हो गया और लगाम झटकने लगा—"चल, तुझे ठण्ड पड़े, तेरी जवानी के सदके, चला चल गोली की चाल, माई बीबी नाराज़ हो रही है। चला चल, तेरी खैर अफसरा। मार दे हल्ला!"

मगर लगाम के झटके खाकर भी अफसरा की चाल तेज़ नहीं हुई और वह दो बार इधर-उधर सिर मार कर अपनी चाल चलता रहा। बस हार्न बजाती हुई पीछे से आई और धूल का बवण्डर छोड़ कर आगे निकल गई।

"देखा, निकल गई न बस ! कहता था बस से पहले पहुंचाऊंगा ?" पीछे बैठी हुई स्त्री फिर बोली।

साधुसिंह कुछ उत्तर न दे कर लगाम झटकता रहा और अफसरा लगाम की परवाह किए बिना अपनी चाल चलता रहा।

एक मील का रास्ता कोई ज़्यादा सफर नहीं था। सूरज ढलने के बाद यही रास्ता चुटकियों में कट जाता था। मगर अभी तो ठीक दोपहर थी और दाएं-बाएं कहीं छाया नज़र भी आती थी तो बहुत सिमटी-सिमटी और उजड़ी-उजड़ी-सी। कोलतार की सड़क भी जगह-जगह से पिघल गई थी। अभी यह तो गर्मी का आरम्भ ही था, आगे जा कर जाने क्या होगा ?

"चल राजा, चल पुतरा, तेरी जान की खैर, तेरी सलामती की बरकत, गम खा जा और चला चल, तेरी मां के दूध की दुआ····"

तांगे में बैठी हुई तीनों सवारियां क्लेम्स के दफ्तर की थीं। आगे बैठा हुआ सरदार कह रहा था कि उसका साठ हज़ार का क्लेम मंज़ूर हुआ है जिसमें से आधा उसे नकद मिलेगा और आधा जायदाद के रूप में। पीछे बैठी हुई स्त्री रो रही थी कि बेड़ा गर्क हो क्लेम मंज़ूर करने वालों का जो उन्होंने उसका केवल अठारह हज़ार का ही क्लेम मंज़ूर किया है। उनके गुजरांवाला में चार मकान थे और एक बगीचा था, साढ़े तीन कनाल का। बगीचा चार कनाल का होता तो उसे और रुपया मिलता। अगर उन्हें पहले पता होता तो वे आधा कनाल और ज़्यादा लिखा देते, वे लोग तो अपनी सचाई में ही मारे गए। घर में उसकी दो जवान लड़कियां थीं, जिन्हें अकेली छोड़ कर उसे रोज़-रोज़ बटाला से जालन्धर के चक्कर काटने पड़ते थे। इसी तरह चक्कर काटते-काटते ही उसके पति की मृत्यु हो गई थी और वह आप भी बीमार रहती थी।

"पता नहीं अपने जीते जी मुझे भी इन कसाइयों का पैसा देखने को मिलता है या नहीं ? जहां वह चले गए, वहां मैं भी चली जाऊंगी और मेरे बच्चे भी पीछे बिलख कर मर जाएंगे।" वह जैसे बात न करके फरियाद कर रही थी और उसके चेहरे का भाव ऐसा हो रहा था जैसे उसे अभी-अभी कोई सदमा पहुंचा हो।

उस स्त्री के साथ बैठा हुआ व्यक्ति बिलकुल खामोश था।

"माई जी, अठारह हज़ार में से अभी तक कुछ मिला है या नहीं ?" आगे बैठे सरदार ने सहानुभूति के स्वर में पूछा।

"मिला है ? कुल छः हज़ार अभी तक मिला है।" वह स्त्री बोली—"मेरा बच्चों वाला घर है, मैं छः हज़ार ले कर सिर मारूं ? मेरे बच्चे अच्छा खाने पहनने के आदी हैं, उन पर तो छः-छः हज़ार महीने में खर्च होते थे। बेड़ा गर्क हो इन दफ्तर वालों का, इन्होंने कुछ भी मेरे हाथ-पल्ले नहीं डाला। छः हज़ार रुपया कोई रकम होती है ? छः हज़ार को आदमी खाए कि रखे ? यह रकम भी कहते हैं कि विधवा होने के कारण तुझे जल्दी मिल गई है। यह भी इन्होंने मुझ पर अहसान किया है। मेरा घर वाला चला गया और ये मुए मुझ पर अहसान करने लगे हैं।····" और वह ज़ार-ज़ार रोने लगी।

खामोश बैठा हुआ व्यक्ति अब सरदार की ओर मुड़ा और तिरस्कार-सूचक ध्वनि गल से निकाल कर बोला—"सच कहते हैं जी कि औरतों की अक्ल टखनों में होती है।"

"क्यों भाई, मैं गरीबनी ने तेरा क्या बिगाड़ा है जो तू मुझ गालियां द रहा है ?" स्त्री आंसू पोंछती हुई तमक कर बोली—"मैं तुझसे तेरी ज़मीन-जायदाद तो नहीं मांग रही। अपना जो कुछ छोड़ आई हूं, उसी का रोना रो रही हूं।"

"तू अकेली नहीं छोड़ आई, हम सब लोग अपने घर-बार पीछे छोड़ आए हैं। शुक्र कर तुझे छः हज़ार मिल गए हैं, यहां हम जैसे भी हैं जिन्हें अभी एक पाई नहीं मिली। हमारा यही कसूर है कि मियां-बीवी दोनों सलामत हैं। दोनों में से एक मर-खप जाता तो हमारे बच्चों को भी अब तक दो कौर रोटी नसीब हो गई होती। आंखें मेरी अंधी हो रही हैं, जोड़ मेरे दर्द करते हैं, मैं जीता हुआ क्या मुर्दों से अच्छा हूं ? मगर सरकार के घर में अंधेर ही अंधेर है जो इनसान की ज़रूरत नहीं देखते, जीता मरा हुआ गिनते हैं। मुझे आज एक हज़ार ही दे दें तो मैं कोई छोटी-मोटी दुकान डाल कर बैठ जाऊं। मेरे बच्चों के पास तो फटी हुई कमीज़ें भी नहीं हैं।"

"अपनी-अपनी तकदीर लेनी है, भाई साहब। कोई किसी दूसरे की तकदीर थोड़े ही ले सकता है।" सरदार मध्यस्थता करता हुआ बोला—"हम भी दुखी हैं, आप भी दुखी हैं और यह माई भी दुखी है, कौन दुखी नहीं है ? कोई कम दुखी है, कोई ज्यादा दुखी है।"

"आपको साठ हज़ार मिल रहे हैं, आपको क्या दुख है ?" वह व्यक्ति बोला।

"मिल रहे हैं यह भी तकदीर की बात है।" सरदार बोला। "क्लेम भरते वक्त हमें अक्ल आ गई, उसी का यह फल समझो। नहीं तो हमें भी ये दस-पन्द्रह हज़ार पकड़ा कर परे हटा देते।"

"आपने क्लेम ज़्यादा का भरा होगा ?"

"हमारी लाख-डेढ़ लाख की जायदाद थी। मगर हमें पता था कि असली क्लेम भरेंगे तो कुछ भी पल्ले नहीं पड़ेगा। सो हमने वाहगुरू का नाम ले कर फार्म इस तरह से भरा कि हमें अपनी जायदाद की असली लागत तो कम से कम मिल ही जाए। मगर फिर भी इन बेईमानों ने कुल साठ हज़ार ही पल्ले डाले हैं। हम छः भाई हैं, दस-दस हज़ार लेकर बैठ रहेंगे।"

"मैं इनसे कितना कह रही थी, मगर इन्होंने मेरी एक नहीं सुनी।" स्त्री हताश-सी हाथ मलती हुई बोली।

"क्या ?" सरदार ने पूछा।

"मैं कह रही थी कि जितनी जायदाद छोड़ आए हो, उससे ज़्यादा का क्लेम भरो। मगर यह ऐसे मूरख थे, ऐसे मूरख थे कि हठ पकड़े रहे कि नहीं जो है वही भरेंगे। आगे इतने दुख उठाए हैं, अब और बेईमानी क्यों करें। आज मेरे सामने होते तो मैं पूछती कि बताओ बेईमानी करने वाले सुखी हैं या हम जैसे लोग सुखी हैं ? लोगों ने जो कुछ छोड़ा था उसका दुगुना-दुगुना ले लिया, और हम बैठे हैं छः हज़ार ले कर। देख लेना, यह सरकार कभी नहीं रहेगी। हाय ! मेरे बच्चों को भूखों मार दिया।" और वह फिर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी।

उसके साथ बैठे हुए व्यक्ति ने दूसरी ओर मुंह करके माथे पर हाथ रख लिया। सरदार फिर सहानुभूति प्रकट करने लगा—"रोने से कुछ नहीं होगा, माई। जो लिखी है, वही मिलेगी। करतार ने सब करनी पहले ही से कर रखी है। जो मिला है, उसे ले कर संतोष कर।"

"संतोष करने को एक मैं ही रह गई हूं ? और सारी दुनिया मौज करे और मैं संतोष करके बैठी रहूं ?····"और वह रोती रही।

"ज़रा जल्दी पहुंचा, भाई, इतनी आहिस्ते क्यों चला रहा है ?" माई के साथ बैठा हुआ व्यक्ति साबुसिंह से बोला ।

साबुसिंह झुंझला कर बार-बार लगाम को झटके दे रहा था, पर घोड़े की चाल में कोई फर्क नहीं आ रहा था । अब वह लगाम का सिरा ज़ोर-ज़ोर से उसकी पीठ पर मारने लगा—"तेरी अफसरा की ऐसी की तैसी । तेरी पूंछ पर ततैया काटे, चल । जल्दी पुतरा, ज़रा जल्दी ।"

मगर ततैया के डर से भी अफसरा की चाल नहीं बदली ।

क्लेम्स के दफ्तर में उन लोगों को छोड़ कर लौटते हुए साबुसिंह को एक भी सवारी नहीं मिली । वह काफी देर मार्केट के मोड़ के साथ खड़ा रहा, मगर सड़कों पर उस समय कोई इनसान ही दिखाई नहीं दे रहा था । तेरह नम्बर दुकान की ओट में दो-एक रिक्शा वाले लड़के सोए हुए थे । तेरह नम्बर वाला सरदार बाहर बैठ कर बर्फ कूट रहा था । साबुसिंह का मन हुआ कि वह सरदार से एक गिलास शिकंजवी बनवा कर पिए और कुछ देर रिक्शा वाले लड़कों के पास ही लेट रहे । मगर तांगा खड़ा करने के लिए वहां कोई छायादार जगह नहीं थी और न ही आस-पास कोई चरही थी जहां से घोड़े को पानी पिलाया जा सके । घोड़ा गर्मी के मारे हूंक रहा था और बार-बार जबान बाहर निकालता था और जेब में जो सत्रह आने थे, वे भी हिसाब से उसके अपने नहीं थे । घोड़े के लिए चारा खरीदने के लिए कम से कम बीस आने अभी और चाहिए थे । उसने ज़बान फेर कर ओंठों को गीला किया और घोड़े का रुख शहर की ओर कर दिया ।

लम्बी, सीधी, वीरान सड़क पर वह अकेला ही तांगा चला रहा था । आस-पास पेड़ भी गर्मी से परेशान सिर झुकाए खड़े थे । फिर भी न जाने किन झुरमुटों में बैठी हुई कुछ चिड़ियां बोल रही थीं—चि चिचि—चिचि—ह्विश् च्यु-यु-यु-यु-यु-यु—चि चिचि—चिचि· · ·

साबुसिंह लगामें ढीली छोड़ कर पिछली सीट पर अधलेटा-सा हो गया था । उसका ध्यान उस समय उस आम के पेड़ की डालों के इर्द-गिर्द मंडरा रहा था जो उसने बड़े चाव से पत्तोकी में अपने घर के आंगन में लगाया था । वह नौ रुपये महीने का घर बरसों के परिचय के कारण अपना घर-सा ही लगता था । एक बार हीरां ने कहा था कि पराए घर में पेड़ लगा रहे हो, इसका पालन करके दूसरों के लिए छोड़ जाओगे । मगर यह तब किसने सोचा था कि वह घर इस तरह छूटेगा कि ज़िन्दगी भर उसके पास से गुज़रना तक नसीब न होगा ।

आम का पेड़ इन दिनों खूब फल दे रहा होगा और· · ·हीरां ?

उस साल पेड़ पर पहली बार फल आया था । फल आने की खुशी में उसने न जाने कितनी कच्ची अमियां खा डाली थीं ।

"क्यों जान-बूझ कर दांत खट्टे करते हो ?" हीरां चिढ़ाया करती ।

"यह अपने पेड़ का फल है, जानी ! इसे खा कर भी कहीं दांत खट्टे होते हैं ?"

और वह हीरां के अधखिले यौवन को अपने आलिंगन में समेट लेता ।

आम हरे से पीले और पीले से सुर्ख हो आए थे, जब एक दिन· · · ·बलवा शुरू हुआ और पत्तोकी की हर गली में खून बहने लगा । आधी रात को बलवई उनके मुहल्ले में भी घुस आए । जब उनके घर का दरवाज़ा तोड़ा गया, उस समय वह हीरां को साथ सटाए, दम साधे पड़ा था । उन्होंने झट से पिछवाड़े की ओर कूद जाने का निश्चय किया । वह पहले कूद गया, मगर हीरां दो बार उचक कर भी कूद नहीं पाई और इससे पहले कि वह फिर साहस कर पाती, किसी हाथ ने उसे पीछे खींच लिया ।

अंधेरा, खेत और रेल की पटरियां····निर्जीव हाथ-पैर और भख····टिकट, कूपन, कार्ड और नम्बर····

नाम, साधुसिंह ।

वल्द, मिलखासिंह ।

कौम, खत्री ।

ज़मीन-जायदाद, कोई नहीं ।

रुपया-पैसा, कोई नहीं ।

क्लेम·····?

साधुसिंह वल्द मिलखासिंह का पाकिस्तान में कुछ नहीं रहा, जिसका वह क्लेम कर सके ।

मगर उसका वह आम का पेड़, जिसके पकने का उसने बेसब्री से इन्तज़ार किया था और जिसकी कच्ची अमियां खा-खा कर वह अपने दांत खट्टे करता रहा था, उस पेड़ की घनी छाया में उसे भविष्य के जो बरस बिताने थे····?

उसके घर की अपनी एक खास तरह की गंध थी, जो कपड़ों की गांठ से ले कर आंगन की दीवारों तक, हर चीज़ में समाई हुई थी । वह गंध····?

और हीरां के शरीर की गंध, जो उसके रोएं-रोएं में समाई हुई थी····?

और वे रातें जो उस पेड़ के नीचे आसमान की ओर ताकते हुए बीती थीं····?

और आने वाली ज़िन्दगी के सब मनसूबे, जो उस घर की देहलीज के साथ आर-पार जाते दिल में उठा करते थे····?

"हीरां, बता, पहले हमारे घर बेटा होगा कि बेटी ?"

"हाय, शरम करो, कैसी बात करते हो ?"

"अच्छा, मैं बताऊं ? पहले तेरे एक लड़की होगी, फिर दो लड़के होंगे, फिर एक लड़की होगी····"

"चुप रहो, क्या यूं ही बके जाते हो ?"

"दूसरी लड़की पहली लड़की से खूबसूरत होगी । उसके तेरे जैसे मुलायम बाल होंगे, बड़ी-बड़ी आंखें होंगी और ठुड्डी के पास, यहां, एक तिल होगा····।"

"हाय, क्या करते हो ?"

"मैं उसके इस तरह चिकुटी काटूंगा, और वह तेरी तरह रोएगी और····।"

वह स्पर्श····! वह सिहरन···! वह कल्पना···! वह भविष्य···!

साधुसिंह, वल्द मिलखासिंह, कौम खत्री, नम्बर···? क्लेम····?

साधुसिंह वल्द मिलखासिंह का कोई क्लेम नहीं है । उसकी पाकिस्तान में न ज़मीन थी न जायदाद । मगर····

आम का पेड़ अब बड़ा हो गया होगा ।

घर की दीवारों की गंध बदल गई होगी ।

और हीरां ? उसकी गोद में किसके बच्चे होंगे ?

साधुसिंह सीधा हो कर बैठ गया । तांगा धोबी मुहल्ले में पहुंच गया था । अब भी चारों तरफ हर चीज़ उसी तरह ऊंघ रही थी । उसने लगाम को दो-एक झटके दिए । घोड़े की गरदन थोड़ी ऊपर उठी और फिर झुक गई ।

अड्डे पर पहुंच कर उसने घोड़े को चरही से पानी पिलाया और तांगा शेड में ला खड़ा किया। फिर उसने कल का खरीदा हुआ चारा निकाल कर घोड़े के आगे डाल दिया और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगा।

"तेरी बरकत है अफसरा, अपने पुराने दिन फिर लौट आएंगे। खाली पेट भर ले। अपने क्लेम तुझी को पूरे करने हैं, तेरी खैर····"

मगर अफसरा गरदन लम्बी किए चुपचाप दाना खाता रहा।

—जालन्धर से प्रसारित

आधुनिक रंगमंच

स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय'



नाट्यकला, कलाओं में सबसे अधिक सामाजिक है। यह नहीं कि दूसरी कलाओं को सहृदय अथवा सामाजिक की आवश्यकता नहीं है— कला का सम्प्रेष्य होना ही एक ओर प्रेषक और दूसरी ओर ग्राहक की मांग करता है। यह भी नहीं कि नाट्यकला सामूहिक रसास्वादन मांगती है, यद्यपि यह भी उसकी एक विशेषता है ही। संगीत का भी आस्वादन सामूहिक रूप से हो सकता है, परन्तु वह उसके लिए अनिवार्य हो, ऐसा नहीं है। संगीतकार के लिए एक अकेले श्रोता की उपस्थिति पर्याप्त हो सकती है, किन्तु रंगमंच अनिवार्यत: एक समाज मांगता है। किन्तु नाट्यकला को 'सबसे अधिक सामाजिक' कहने का तात्पर्य इससे भी कुछ अधिक है। वह यह कि रंगमंच की कला केवल दर्शकों का एक समूह चाहती हो, ऐसा नहीं है; उसकी समुचित प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है कि वह एक सुगठित समाज का अंग हो। विना एक सुगठित समाज के, सामाजिक चेतना-सम्पन्न एक समाज के, नाट्यकला पनप नहीं सकती। मेरा खयाल है कि सर्वत्र नाट्यकला की प्रगति का इतिहास इस वात की पुष्टि करेगा, और हमारे देश में भी रंगमंच के अतीत गौरव और ह्रास और फिर प्रतिष्ठापन का अनुक्रम भी इसी को ध्यान में रख कर ठीक-ठीक समझा जा सकता है।

रंगमंच का आरम्भ हमारे देश में कैसे हुआ या हुआ होगा? कृषिप्रधान समाज में जिन दिनों खेत-खलिहान में काम होता है, उन दिनों ऐसे मनोरंजन का कोई प्रश्न ही नहीं होता; यह तो अवकाश के दिनों में ही सम्भव है कि देहाती टोलियां नाटक की तैयारी करें और मंच पर सफलतापूर्वक अभिनय कर सकें। हमारे देश में रंगमंच के विकास का यह मूल सूत्र है। उसका विकास पुष्ट देहाती समाजों में हुआ; उसके विभिन्न रूप भी इस देहाती स्रोत के कारण ही निर्दिष्ट हुए। लोक नाट्य और लोक रंगमंच के वहुविध रूप, जिनके अवशेष अभी तक मिलते हैं, हमारे देहाती समाजों की जीवन्त विविधता के ही साक्षी हैं।

नागर समाज के साथ दूसरे प्रकार की नाट्यकला विकसित हुई, और उसकी अपनी परम्पराएं वनीं। इस पक्ष की विवेचना इस समय आवश्यक नहीं है। किन्तु नागरिक समाजों के विघटन के साथ-साथ उनसे सम्बद्ध रंगमंच का भी विघटन होता रहा; और अनन्तर जब, जहां, जैसे नए सुगठित समाज उभरते रहे, तव उनके साथ रंगमंच भी वैसे नए रूपों में प्रकट होता रहा। अंग्रेज़ी शासन का पूर्वकाल हमारे सामाजिक विघटन की परिसीमा का काल था, और उसी में हमारा नाट्य मंच भी हीनतम अवस्था म था। सामाजिक पुनरुज्जीवन और नवचेतन के साथ ही हमारा रंगमंच भी जाग्रत हुआ: यह आकस्मिक संयोग नहीं है कि

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जिनसे हम नई चेतना का युगारम्भ गिनते है, हमारे नाट्य-मंच के भी पुनरुत्थान के शलाका-पुरुष है। राष्ट्रीय चेतना का प्रतिबिम्ब पड़ने से रंगमंच जागा हो, ऐसी बात नही है, नवोदित सामाजिक भावना ने ही एक ओर राष्ट्रीयता को उकसाया और दूसरी ओर रंगमंच को नई शक्ति प्रदान की। भारतेन्दु काल के प्रायः सभी साहित्यकार नाटक और रंगमंच की शक्ति को पहचानते थे। उनके राजनीतिक विचार परस्पर बहुत भिन्न रहने पर भी उनमे सामाजिक चेतना एक-सी तीव्र थी और यह नाट्यकला के पुनरुत्थान के लिए अनुकूल परिस्थिति थी। इस काल के सभी नाटककार नाटक को सामाजिक आलोचन और शिक्षण के माध्यम के रूप मे बरतना चाहते थे, यह उनकी तीव्र सामाजिक चेतना का ही प्रमाण है। बल्कि कालान्तर मे जब फिर यह चेतना कुछ दुर्बल पडी, तब रंगमंच का यह पक्ष फिर कुछ पीछे पड़ गया।

आधुनिक रगमंच के बारे मे कुछ कहने से पहले ऐसी ऐतिहासिक भूमिका आवश्यक तो नही है, पर आधुनिक रंगमंच की आवश्यकताओ और समस्याओं को समझने के लिए वह उपयोगी अवश्य हो सकती है, बल्कि आधुनिक रंगमंच को जो कुछ खतरे भी हो सकते है, उन्हे तो इसी के सहारे समझा जा सकता है। बिना किसी राजनीतिक मतवाद का पक्ष लिए भी यह समझा जा सकता है कि राज्यसत्ता के विकास के साथ सभी देशों मे सामाजिक गठन या रचना का विकास समाज की भीतरी शक्तियो के द्वारा सहज भाव से होता है, और उसके साथ बढने वाला नाट्य मच भी सहज भाव से पनपता रहता है; पर राजनीतिक गठन का आरोप बाहर से होता है और उसे नियमित करने वाली शक्तिया भी ऊपर से कार्य करती है। इसलिए इस नई परिस्थिति मे यह सम्भावना बढती जाती है कि रंगमंच के विकास की अपेक्षा उसके उपयोग को ही अधिक महत्व दिया जाए। वह कैसे काम करता है, इसकी ओर न देख कर इसी ओर देखा जाए कि उससे कैसे काम लिया जा सकता है।

कोई पूछ सकता है कि किसी कला से काम लेने मे क्या बुराई है? और विशेषकर नाट्य-कला से, जिसे मैं स्वयं सबसे अधिक सामाजिक कहता हू? क्या जो सामाजिक है उसे समाजोपयोगी बनाना गलत है?

किन्तु प्रश्न को इस रूप मे पूछना उसे अनदेखा कर जाना है। कोई भी कला-प्रकार अपने आप मे अलग जीवन रखता हो, ऐसा नही है, और इसलिए केवल कला-प्रकार का उपयोग करना चाहना वैसा ही है जैसा किसी जीव के शरीर का उपयोग करना चाहना, उसमे बसे हुए प्राण की उपेक्षा करते हुए। शरीर का ऐसा उपयोग उसे मार ही सकता है, और कुछ नही कर सकता, वैसे ही किसी भी कला-प्रकार की प्राणभूत परम्पराओं की उपेक्षा भी उस कला-प्रकार को ही नष्ट कर देती है। नाट्य-मंच के उपयोग मे उसकी परम्परा की उपेक्षा वास्तव मे .समाज की उपेक्षा है, और समाज से कट कर नाट्यकला जी ही नही सकती।

इस सबका यह अभिप्राय नही है कि किसी भी कला मे, और विशेषतया नाट्यकला में नया कुछ लाया ही नही जा सकता। क्यों नही, जब कि' समाज मे भी नया बहुत कुछ लाया जा सकता है? किन्तु नए को पुराने मे से ही प्रस्फुटित हो कर आना चाहिए, क्योंकि नई कला का भी मूल उद्देश्य वही होगा जो पुरानी का, अर्थात अनुभूति का सम्प्रेषण और कला के द्वारा सम्प्रेषण के लिए इस बात का ध्यान आवश्यक है कि उसकी बनी-बनाई प्रणालियों की न केवल उपेक्षा न की जाए, बल्कि उन्हे काम मे लाया जाए।

यह सब सैद्धान्तिक विचार आकाशी ही नही है, यह तुरन्त समझ आ जाएगा यदि हम अपने नाटक और रंगमंच की प्रगति पर इसे परख कर देखें। क्यों भारतेन्दु काल के नाटक

कच्चे और ऊबड़-खाबड़ होने पर भी अधिक प्राणवान थे, और क्यों वाद के नाटक पुस्तकीय ही रह गए ? और उसके वाद फिर रंगमंच को पुनरुज्जीवित करने के लिए क्यों तरुण कलाकार उन नाट्यशालाओं की ओर झुके जिन्हें हम घटिया और गंवारू मानते थे ? मताग्रही यह कह सकता है कि इसका कारण नए साहित्य की लोकोन्मुखता या जनवादिता है। कुछ लोग इससे भी प्रेरित रहे ही होंगे, पर जनवादिता के आग्रह से अधिक गहरा प्राणवत्ता का आग्रह था, और उसकी मांग थी कि जो भी प्रगति हो वह परम्परा भरित आधार पर ही हो, क्योंकि तभी वह पनप सकेगी। कटे हुए पेड़ से नए अंकुर फूटने के लिए न भी रुकें, तो पैवंद लगाने के लिए भी देखना होगा कि जिस तने से रस खींचने की आशा है उसकी जड़ें भी हैं, और गहरी हैं और हरी हैं।

भारत में रंगमंच का नया आन्दोलन इस दृष्टि से स्वस्थ है। विभिन्न भाषाओं में अपने-अपने रंगमंच अपनी परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए विकास कर रहे हैं। शौकिया रंगमंच भी उन्नति कर रहा है और हमारे देश में व्यवसायी थियेटर की हीनावस्था को देखते हुए भविष्य के लिए आशा इसी पर हो सकती है। भारतीय नाट्य संघ से सम्बद्ध दो सौ से अधिक दल हैं, और इधर दिल्ली में प्रतिवर्ष एक नाट्य समारोह भी होने लगा है जिसमें अनेक दल भाग लेते हैं—चाहे प्रतियोगी भाव से, चाहे स्वतन्त्र । ये सब शुभ लक्षण हैं। किन्तु यह भी मानना होगा कि यह पर्याप्त नहीं है। स्मरण करें कि अमेरिका में शौकिया थियेटर आन्दोलन के कारण ही प्रतिवर्ष सोलह हज़ार के लगभग नाटक-नाटिकाएं लिखी जाती हैं, तो समझ में आ जाएगा कि आन्दोलन के आयाम क्या हो सकते हैं—यह दूसरी बात है कि इन नाटकों में से तीन-चौथाई अभिनय के योग्य भी न होते हों।

आधुनिक रंगमंच नाटककार और अभिनेता का निकटतम सहयोग मांगता है। यह नहीं कि इस सहयोग की कभी कम आवश्यकता रही हो। पर पिछले युग में हम प्रायः उसकी उपेक्षा करते थे। कुछ तो रंगमंच की अनुपस्थिति में यह स्वाभाविक था, कुछ नाटककार का अहं भी सहयोग में बाधक था। आज हम फिर से अनुभव करने लगे हैं कि रंगमंच और नाटककार के परस्पराश्रित कर्म से ही नाट्यकला की उन्नति हो सकती है। इस सहयोग के बिना न तो यूरिपिडीस और कालिदास बन सकते थे, न शेक्सपियर और मोलियेर, न इब्सन और स्ट्रिंडबर्ग, और न बेर्ट ब्रेख्ट और क्रिस्टोफ़र फ़्राई, कैम्यू और सार्त्र, यूजीन ओनील और टेनेसी विलियम्स।

—इलाहाबाद से प्रसारित

कमल और केतकी का जन्म

पीटर शान्ति नवरंगी



किसी नगर में एक राजा था। उसकी चामुंडा नामक रानी थी। रानी निःसन्तान थी, इसलिए राजा को बराबर यह चिन्ता सताया करती कि मेरे पीछे राज्य का कौन उत्तराधिकारी होगा ? सो उसने बड़े सोच-विचार के बाद दूसरा ब्याह करने का निश्चय किया। पड़ोस के नगर में गौरी नामक एक बड़ी सुन्दर राजकुमारी थी। राजा ने उसके पास दूत भेजे। राजकुमारी का बाप भी प्रसन्न हुआ। बड़ी सज-धज से विवाह सम्पन्न हुआ।

विवाह के बाद राजा चामुंडा रानी को भूल-सा गया और गौरी के पीछे लट्टू हो रहा। यह देख कर बड़ी रानी को बहुत क्रोध आया। वह सोचने लगी कि कैसे राजा का मन गौरी की ओर से फेर कर अपनी ओर लौटा लूं। वह किसी न किसी बहाने राजा के पास जाती, छोटी रानी की शिकायत करती और धीरे-धीरे राजा के कान भरती जाती। उधर वह गौरी को भी सब समय चिढ़ाने और कष्ट पहुंचाने की कोशिश करती थी, परन्तु गौरी जैसी देखने में सुन्दर थी, उसका चरित्र भी वैसा ही निर्मल था। वह राजा साहब के पास चामुंडा का नाम तक न लेती और सब कुछ सहती जाती थी। कुछ काल के पश्चात वह मां बनने को हुई। यह देख कर बड़ी रानी तो और भी जल गई और गौरी को हर तरह से सताने लगी।

एक दिन राजा शिकार खेलने के लिए वन जाने लगा तो एक दासी ने आ कर खबर सुनाई कि छोटी रानी प्रसूति-गृह में चली गई है। राजा दुविधा में पड़ा कि शिकार को जाऊं अथवा नहीं। परन्तु जब उसने अपने रईसों और ठाकुरों को घोड़ों पर चढ़ते देखा, तो रुकना न चाहा। वह चामुंडा रानी को बुला कर यह कह गया कि यदि लड़का उत्पन्न हुआ तो सोने का घंटा बजाया जाए, और यदि लड़की उत्पन्न हो तो चांदी का घंटा। इसके बाद वह घोड़े पर जा बैठा और वन की ओर चल पड़ा।

उधर प्रसूति-गृह में गौरी रानी ने जुड़वा बच्चों को जन्म दिया—एक लड़का और एक लड़की। गौरी तो प्रसव वेदना से बेहोश हो गई और कुछ जान न सकी। चामुंडा ने उसकी ऐसी अवस्था देख कर बच्चों को चुरा लिया और जा कर एक गहरी झील में फेंक दिया। जब वह लौटी तो गौरी भी होश में आई और बोली—दीदी मैं अपने बच्चों को देखना चाहती हूं।

चामुंडा ने बड़ी निर्दयता से उत्तर दिया—तू अपने बच्चों को देखना चाहती है ? यह देख, आंख भर कर देख, तूने क्या जन्मा है। इतना कह कर उसने गौरी के सामने दो ठूठ झाड़ पटक दिए।

यह सुन कर गौरी तो रोने लगी, पर चामुंडा ने जा कर नौकरों को हुक्म दिया कि जाओ और नगर और महल में जितने कांसे और पीतल के बर्तन मिलें सबको बजाओ। सो नगर भर के बासन बजने लगे। बड़ा शोर मचा। राजा ने दूर ही से आवाज़ सुनी और सोचने लगा कि यह क्या हुआ? क्या नगर में आग लग गई?

राजा घोड़ा दौड़ाता हुआ आया तो देखता है कि लोग उसकी ओर ताक-ताक कर मुसकरा रहे हैं। वह यह बात न समझ सका और प्रसूति-गृह के पास घोड़े से उतरते-उतरते चामुंडा रानी से पूछा कि लड़का है अथवा लड़की?

चामुंडा उसे भीतर ले गई और उसके सामने उन ठूंठ झाड़ुओं को रख कर बोली—यह देखो, तुम्हारी प्यारी छोटी रानी ने यही तुम्हारे लिए जन्मा है।

राजा को यह सब देख-सुन कर बड़ा क्रोध आया और उसने तत्क्षण हुक्म दे दिया कि 'निगोड़ी' को इसी घड़ी महल से निकाल फेंको। दुष्टा ने मेरी बड़ी बेइज़्ज़ती की है। नौकरों ने छोटी रानी को नगर से बाहर एक कुटिया में रख दिया। वहां वह बड़े कष्ट और चिन्ता में रहने लगी। उसने सोचा यह असम्भव बात है कि मैं ठूंठ झाड़ू जन्म देती। इसमें बड़ी रानी की कोई चाल है। उसने राजा का मन जीतने के लिए मेरे बच्चों को मार डाला होगा और यह ढकोसला रचा है। पर बेचारी क्या करती? क्रोधांध राजा तो उसका मुंह भी नहीं देखना चाहता था।

इस घटना के कुछ दिन बाद नगर में यह अद्भुत बात फैल गई कि झील में दो सुन्दर फूल खिले हैं—एक सोने का कमल फूल, दूसरा चांदी का केतकी फूल! सब कोई उन्हें देखने जाने लगे। चामुंडा के कानों में भी यह खबर पहुंची, और वह भी उन्हें देखने गई। देख कर वह लुभा गई और उन्हें तोड़ना चाहा। लोगों ने उसे मना किया। पर उसने न माना और हाथ पसारा। इस पर सोने के कमल से एक गीत सुनाई पड़ा जिसका आशय था—बहन केतकी झील के बीच में चल, यह तो दुष्ट चामुंडा रानी है।......और देखते ही देखते दोनों फूल झील के मध्य में चले गए।

यह देख लोग भी चकित हुए। कुछ लोग राजा के पास दौड़े और सारा हाल बयान किया। राजा भी फूलों को देखने आया। चामुंडा रानी उससे बहुत गिड़गिड़ाई कि वे फूल मुझे तुड़वा दो। राजा ने तैराकों को झील में फूल तोड़ लाने भेजा। उनको आते देख दोनों फूल पुकार उठे—जाओ, जाओ! राजा से पूछो कि क्या कोई मां ठूंठ झाड़ को जन्म दे सकती है?

तैराकों ने राजा को यह बात सुनाई, तो वह और भी असमंजस में पड़ गया कि इस बात का क्या अर्थ है?

सोने के कमल ने पुकार कर कहा—हमारी मां छोटी रानी को बुलाओ, तब हमको पा सकोगे, नहीं तो नहीं।

राजा ने तुरन्त आदमी भेजे और गौरी को बुलवाया। उसके झील-तट पर पहुंचते ही, कमल फूल केतकी फूल से कहने लगा—केतकी बहन, वह देख हमारी प्यारी मां! चल हम उसकी गोद में जाएं।......तब दोनों फूल झील की तरंगों में लहराते हुए तट की ओर यह गाते हुए आने लगे—प्यारी मां, हम तेरे बालक हैं जिन्हें बड़ी मां ने मरने के लिए यहां फेंक दिया था। आज तेरे दर्शन हुए और हमको सुख मिला।

फूल निकट आ गए। छोटी रानी ने उनकी ओर हाथ पसार दिए, तो फूलों के नीचे से दो सुन्दर बच्चे निकल आए—एक लड़का, दूसरी लड़की। गौरी ने उनको गोद में उठा

लिया और वहीं बैठ कर उन्हें दूध पिलाने लगी। राजा तो यह सब देख-सुन कर अवाक् रह गया। उसकी बुद्धि में धीरे-धीरे प्रकाश आने लगा। उसे निश्चय हो गया कि ये मेरे और गौरी रानी के ही बच्चे हैं। बड़ी रानी ने ईर्ष्यावश इनको झील में फेंक दिया होगा। उसने गौरी को और पुत्र और पुत्री को महल में ले जाना चाहा, पर गौरी ने कहा—जब आप ऐसी बात पर विश्वास कर सकते हैं कि कोई माँ ठूंठ झाड़ू जन्म दे सके, तो न जाने आप बड़ी रानी की बात सुन कर और भी क्या-क्या विश्वास कर सकते हैं। इतना कह कर और बच्चों को ले कर वह अपनी कुटिया में लौट गई।

गौरी की फटकार सुन कर राजा को अपनी बुद्धि पर बड़ी लज्जा और ग्लानि हुई, साथ ही वह चामुंडा से अत्यन्त क्रोधित हुआ। उसने झील के किनारे एक गहरी खाई खुदवाई और चामुंडा को पकड़ मंगा कर जीते जी उसमें डलवा दिया। खाई को मिट्टी से पाट दिया गया। इसके पश्चात वह गौरी के पास गया, क्षमा मांगी और बच्चों और छोटी रानी को धूम-धाम से महल में ले आया।

—रांची से प्रसारित

मेरी सर्वप्रथम रचना

सुमित्रानन्दन पन्त

/



रचना उसे कहते हैं जिसमें किसी प्रकार का विधान, संयमन अथवा तारतम्य हो। इस दृष्टि से मेरी सर्वप्रथम रचना कविता न हो कर उपन्यास ही थी। वैसे मैं छोटी-छोटी तुक-वन्दियां वहुत पहले से कर लेता था, पर उन्हें रचना कहने का साहस नहीं होता। मेरे बड़े भाई जव बी० ए० की परीक्षा दे कर गर्मियों में घर लौटे तो वह हिन्दी, उर्दू, संस्कृत के अनेक काव्य ग्रन्थ, हिन्दी के मासिक पत्र आदि तरह-तरह की रस सामग्री अपने साथ ले आए थे। मैं तव १०-११ साल का रहा हूंगा, मुझे ठीक याद नहीं पड़ता। भाई साहव कभी-कभी वड़ी भाभी को मेघदूत अथवा शकुन्तला सुनाते, तो कभी सूर-तुलसी अथवा रीतिकालीन कवियों के मधुर पद, सवैये और कवित्त, और कभी सरस्वती पत्रिका से आधुनिक खड़ी बोली की कविताएं। भाई साहव का कण्ठस्वर वड़ा भावपूर्ण होता और वह वहुत तन्मय हो कर मन्द मधुर लय में अपनी मुग्धा पत्नी के मनोरंजन के लिए प्रायः सन्ध्या समय कविता पाठ किया करते थे। वाहर हिमालय के ऊंचे स्वच्छ शिखरों पर तथा चीड़ और देवदारु की हरी-भरी घनी वनानियों में छाई हुई मौन मनोरम पहाड़ी सांझ अपने सुनहली छायाओं के निष्कम्प पंख सिमटाए हुए, अवाक् हो कर, जैसे उस एकान्त कविता पाठ को मेरे मन की अज्ञात गहराइयों में उड़लती रहती थी और मैं तल्लीन एवं आत्मविस्मृत हो कर किवाड़ों की आड़ में खड़ा उस प्रणय-निवेदन से भरी मधुर छन्दध्वनि का पान किया करता था। धीरे-धीरे मैं भी जैसे उन्हीं छन्द ध्वनियों की आत्माओं से प्रेरित हो कर शब्दों की मालाएं पिरोने लगा और कभी-कभी गजल की धुन पर भी लड़खड़ाती हुई कुछ पंक्तियां जोड़ लेता। किन्तु सर्वप्रथम रचना के उस समय के लिए व्यवस्थित रूप में मेरी लेखनी से पहले उपन्यास ही का प्रणयन हुआ, जिसकी चर्चा मैं संक्षेप में पहले भी कर चुका हूं।

मुझे वहुत अच्छी तरह याद है, मैं तव अल्मोड़े के गवर्नमेंट हाई स्कूल में छठी कक्षा में पढ़ता था और जाड़ों की लम्वी दो-ढाई महीनों की छुट्टियों में अपने पिता जी के पास कौसानी गया हुआ था। कौसानी तो सौन्दर्य का स्वर्ग है ही। मेरे पिता सरकारी मकान में रहते थे। मकान वहुत वड़ा नहीं था, सव मिला कर सात-आठ कमरे रहे होंगे। उत्तर की ओर चहारदिवारी से घिरा हुआ आंगन था, जहां से अन्तरिक्ष में दूध के समुद्र की तरह उफनाई हुई ऊंची-ऊंची हिमालय की चोटियां दिखाई पड़ती थीं। आंगन में एक पत्थर का चवूतरा वना था जो सांझ के एकान्त समय मुझे किसी अदृश्य ऋषि के ध्यान मौन आसन की तरह पावन एवं विचारमग्न लगता था। आंगन के भीतरी वरामदे में खूब चहल-पहल रहती थी

और परिवार के सभी लोग सवेरे-शाम प्रायः वहीं जुटा करते थे। तीन-चार कमरे पार करने पर पश्चिम की ओर एक छोटा-सा बरामदा था जो सड़क की ओर खुलता था। सड़क पर उतरने को तीन-चार पत्थर की सीढ़ियां थीं। सामने पहाड़ी पेड़ों का मर्मर करता हुआ हंसमुख क्षितिज दिन-रात कुछ न कुछ गुनगुनाता रहता था। यह बरामदा ही मेरा छुटपन का सृजन कक्ष था। उसमें एक कोने पर पिता जी की आफिस की मेज़ रहती थी और दूसरी ओर मेरी छोटी-सी डेस्क। पिता जी दिन भर आफिस में रहते थे, इसलिए उस छोटे-से एकाकी बरामदे का मैं ही एकछत्र अधिकारी था। यहीं बैठ कर मैंने अपनी सर्वप्रथम रचना का सूत्रपात किया था। जाड़े की अलस मधुर दुपहरी में उस चढ़ावदार संकरी पहाड़ी सड़क पर न जाने नीचे की किन हरी-भरी तलहटियों और मखमली घाटियों से निकल कर उस छोटे-से उपन्यास के लिए मन्द मंथर गति से आगे बढ़ते हुए नायक-नायिका और करीब आधा दर्जन पात्र-पात्रियां मेरी अधखुली स्वप्न-भरी आंखों के सामने कैशोर प्रेम की मुग्धता, ममता तथा तन्मयता से भरा उस कथानक का सौन्दर्य पट बुन गए, मुझे अब ठीक-ठीक स्मरण नहीं। सम्भवतः अपने किशोर मन की कुछ अस्फुट भावनाओं एवं अस्पष्ट विचारों को कथा के रूप में गूंथने के लिए ही मैंने उस लघु उपन्यास की कागज़ की नाव को साहित्य के सिन्धु में प्रथम प्रयास के रूप में छोड़ने का दुःसाहस किया हो। उस कागज़ की नाव पर बैठ कर आधा दर्जन लोग बिना मानव मन की गहराइयों को छूए, बिना शिल्प की पतवार घुमाए, या अनुभव के डांड चलाए किस प्रकार ऊपर ही ऊपर भावों के फेन को चीरते हुए पार हो सके, मैं आज भी इस बात को सोच कर आश्चर्य में डूब जाता हूं। खैर, किशोर मन ढीठ नहीं तो दुःसाहसी तो होता ही है।

सौभाग्य से या दुर्भाग्य से उस उपन्यास की पाण्डुलिपि इस समय मेरे पास नहीं है, वह मेरे एक स्नेही मित्र की अलमारी या सन्दूकची में इस समय दूसरे नगर में सुरक्षित रखी है—सम्भवतः मेरे बाल-चापल्य के उदाहरण के रूप में। पर अपने उस बाल प्रयास के बारे में मुझे जो कुछ स्मरण है उसे आपके मनोरंजन के लिए निवेदन करता हूं। उपन्यास का नाम मैंने रखा था 'हार'। हार का अर्थ पराजय तथा माला—दोनों ही उस उपन्यास के कथ्य से सार्थक हो जाते थे। इस प्रकार 'हार' शब्द में एक प्रकार का श्लेष था जो मुझे तब बड़ा व्यंजनापूर्ण प्रतीत होता था। कथानक छोटा ही था पर लिखने का ढंग अथवा अभिव्यक्ति अलंकरणपूर्ण होने के कारण— जो कि उस अवस्था के लिए स्वाभाविक ही था—उपन्यास मानव चरित्र एवं मनोविज्ञान से अधिक मेरे शब्द-ज्ञान का ही परिचय देता था। उसकी पृष्ठ संख्या सम्भवतः ३०० के लगभग होगी। कथानक कुछ इस प्रकार था : एक भावुक युवक एक नवयुवती के रूप से आकृष्ट हो कर, उसे बिना अपना प्रणय निवेदन किए, चुपचाप अपने हृदय के आसन पर बिठा लेता है। युवती अपने मां-बाप के साथ ग्रीष्म ऋतु में एक दो महीनों के लिए किसी पहाड़ी प्रान्त मे घूमने-फिरने के लिए आई हुई है। प्राकृतिक सौन्दर्य के उस मनोरम प्रदेश में अबोध युवक और युवती प्रतिदिन परस्पर के सम्पर्क में आकर भद्रता और शील का अभिनय करते हुए अज्ञात रूप से एक-दूसरे की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होते जाते हैं। किन्तु युवती को वस्तुस्थिति का बोध पहले हो जाने के कारण वह धीरे-धीरे सतर्क हो जाती है। और युवक को प्रणय निवेदन का अवसर न दे कर उसके हृदय में प्रेम की अतृप्ति का नैराश्य एवं विषादपूर्ण अन्धकार भर कर एक दिन बिना उसे पूर्व सूचना दिए अपने माता-पिता के साथ उस पर्वत प्रदेश को छोड़ कर चली जाती है। युवक इस अप्रत्याशित मूक विछोह से क्षुब्ध हो कर विरक्त हो उठता है और उसे मानव जीवन का समस्त व्यापार

तथा व्यवहार खोखला एवं आस्थाशून्य लगने लगता है। वह प्रेम की मृग-मरीचिका से अपने को मुक्त करने का प्रयत्न कर मानव जीवन के उचित ध्येय की खोज करता है और अपने अध्ययन तथा चिन्तन से इस परिणाम पर पहुंचता है कि निःसंग रह कर लोक सेवा करने से ही आनन्द तथा आत्मकल्याण की उपलब्धि सम्भव हो सकती है। वह अपने कुछ नवयुवक साथियों को ले कर नैतिक जीवन बिताने के लिए शायद एक आश्रम की स्थापना करता है। मानव जीवन का गहरा अनुभव न होने के कारण मैंने तब 'हार' और 'ग्रन्थि' दोनों ही गद्य-पद्य कथाओं के नायकों को प्रेम सन्यास देकर विरक्त बना कर छोड़ दिया है।

जब मैं अपनी उन दिनों की मनोदशा का विश्लेषण करता हूं तो मुझे स्मरण आता है कि 'हार' लिखने के समय मैं अपने भाई से सुनी हुई रीतिकालीन कवियों की शृंगार-भावना, शकुन्तला की प्रेम कथा तथा मेघदूत की वियोग व्यथा से ज्ञात-अज्ञात रूप से काफी हद तक प्रभावित था। मैंने भाई साहब की पुस्तकों में से बिहारी सतसई तथा तिलक की गीता का भी तब अपनी किशोर बुद्धि के अनुसार अध्ययन अवश्य कर लिया था, क्योंकि 'हार' में यत्र-तत्र एकान्त प्रणय निवेदन अथवा रूप-वर्णन के रूप में बिहारी के नाविक के तीरों का यथेष्ट प्रयोग हुआ है और प्रेम-वंचित हृदय को सान्त्वना देने के लिए मैंने लोकमान्य की गीता के कर्मयोगी भाष्य का भी प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है। उन दिनों अल्मोड़े में जो स्वामी सत्यदेव आदि बड़े लोगों के भाषण होते थे, उनमें देश सेवा एवं लोक सेवा का ही स्वर मुख्य रहता था। उन सब परिस्थितियों एवं बौद्धिक वातावरण से लाभ उठा कर मैंने अपने विचारों तथा भावनाओं को व्यवस्थित वाणी देने के अभिप्राय से ही सम्भवतः 'हार' नामक उपन्यास की रचना की होगी, क्योंकि छन्द में तब अपनी गति उतनी न होने के कारण अपने चंचल किशोर मन को नित्य बढ़ती हुई भाव-राशि के बोझ से मुक्त करने के लिए मुझे गद्य का ही माध्यम अपनाना पड़ा होगा। सम्भवतः मुझे अब स्मरण नहीं पड़ता, मैंने भाई साहब के पुस्तकालय से दो-एक उपन्यास भी तब छिपा कर अवश्य ही पढ़ लिए होंगे, क्योंकि तब, मुझे याद है, हम बच्चे ही समझे जाते थे और हमें उपन्यास-कहानी आदि पढ़ना मना था। भाई साहब के कभी घर से बाहर घूमने-फिरने के लिए निकलने पर मैं जिस क्षुधा एवं उत्साह के साथ उनकी पुस्तकों की अलमारियों पर टूट कर कविता, कहानी, उपन्यास की पुस्तकों को जल्दी-जल्दी उलट-पलट कर पढ़ा करता था, वह मुझे याद है। और कभी-कभी अपनी एक-आध पुस्तक भाई साहब को मेरे सिरहाने तकिए के नीचे दबी हुई भी मिल जाती और तब उनकी लाड़-प्यार की भर्त्सना को सहना मेरे लिए बड़ा कठिन हो जाता था। मैं कई दिन तक उन्हें मुंह दिखाने में शरमाता था।

मैंने अपने ऐसे ही किशोर स्वभाव तथा घर-बाहर की परिस्थितियों के वातावरण से प्रेरणा तथा बल पा कर अपना खिलौना उपन्यास 'हार' लिखा था—जो मेरी सर्वप्रथम रचना कही जा सकती है।

—इलाहाबाद से प्रसारित

नीची तलहटियों से

वालकृष्ण राव



हम, इन नीची तलहटियों के रहने वाले,
कैसे भला देख पाएं
उन हिम-किरीट मंडित शिखरो को ?
कैसे भला जान पाएं हम
कितना ऊंचा उठ जाने के वाद
छोड़ा था वढ़ना पर्वत ने ?

प्रगति-रोध के वे प्रतीक, वे शुभ्र शिखर,
जिन पर संचित है
वे मारी संभाव्य कल्पनाएं उन्नति की,
जिनसे कभी प्रेरणा पा कर
अचलों ने उड़ना सीखा था ।

अव, सुनते है,
सूर्योदय होते ही प्रतिदिन
हर चोटी पर
पराभूत पर्वत की सारी आकांक्षाएं
वज्रायुध के चरणों मे अर्पित होने को
रत्न-राशि-सी विछ जाती है।

कभी न आए किन्तु
हमारी दृष्टि-परिधि में
वे नभ-चुम्वी हिम-किरीट, वे शुभ्र शिखर !
हम तो केवल
देख रहे है
ऊपर-ऊपर जाती राहे
अपनी नीची तलहटियों से ।

—दिल्ली से प्रसारित

अन्तर्ग्रहीय यात्रा

अमरेन्द्र नारायण



इस पृथ्वी पर धरातल के ऊपर उठ कर आकाश में घूमने की मानव की भावना अति प्राचीन है। देवताओं के द्वारा व्यवहार में लाए जाने वाले विमान अथवा परियों की कथाओं के उड़न-खटोले की सृष्टि मानव की इसी भावना से हुई है। परन्तु वास्तविकता में २०वीं शताब्दी में ही मनुष्य के लिए यह सम्भव हो सका कि वह पृथ्वी से ऊपर उठ कर हवा में कुछ दूर तक चल सके। । अमेरिका के राइट बन्धुओं ने पहले-पहल जब वायुयान का आविष्कार किया, तब से उसमें बहुत उन्नति हुई है, और आज ऐसे वायुयान मौजूद हैं जो हज़ारों मील की यात्रा भूमि पर बिना उतरे सुखपूर्वक कर सकते हैं। ऊंचाई की ओर भी जाने में वायुयानों ने काफी प्रगति की है। प्राय: ५० हज़ार फुट ऊपर तक भी वायुयान के उड़ने की सूचना मिली है, परन्तु यदि मीलों में देखा जाए तो यह १० मील से भी कम ऊंचा होता है। सौरमण्डल के जितने भी ग्रह और उपग्रह हैं, उनमें चन्द्रमा सबसे निकट है। इसकी निकटतम दूरी प्राय: २ लाख ४० हज़ार मील है।

हम सभी जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु को पृथ्वी खींचती है। कोई भी वस्तु यदि ऊपर फेंकी जाती है तो वह फिर खिंच कर नीचे लौट आती है। जिस शक्ति के द्वारा ये वस्तुएं खिंच कर पृथ्वी पर चली आती हैं, उसे पृथ्वी की 'गुरुत्वाकर्षण शक्ति' कहते हैं। सभी ग्रहों, उपग्रहों, नक्षत्रों में यह गुरुत्वाकर्षण शक्ति है। जितना ही बड़ा कोई पिण्ड होगा, उतनी ही अधिक उसकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति होगी, जैसे पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य की गुरुत्वाकर्षण शक्ति कई लाख गुणा अधिक है, क्योंकि सूर्य का आकार पृथ्वी की अपेक्षा बहुत बड़ा है। इसी तरह चन्द्रमा, जो पृथ्वी से ५० गुणा छोटा है, कम गुरुत्वाकर्षण शक्ति वाला है। यह स्पष्ट है कि पृथ्वी के खिंचाव से बाहर हुए बिना हम किसी दूसरे ग्रह की यात्रा नही कर सकते। जैसे-जैसे हम पृथ्वी के धरातल से ऊपर उठते जाते हैं, वैसे-वैसे पृथ्वी का यह खिंचाव भी कम होता जाता है। बहुत काफी दूर आगे जा कर पृथ्वी का खिंचाव करीब-करीब नहीं के बराबर हो जाता है। उस स्थान तक पहुंचने के लिए वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है कि पृथ्वी के धरातल से किसी वस्तु को २५ हज़ार मील प्रति घण्टे के वेग से ऊपर फेंकना होगा। इसे 'मुक्ति का वेग' कहते हैं। इस प्रवेग से फेंकी गई वस्तु इतनी अधिक दूरी पर चली जाएगी कि वह फिर लौट कर पृथ्वी पर नहीं आएगी। यह भी हिसाब लगाया गया है कि प्राय: १८ हज़ार मील प्रति घण्टे के प्रवेग से फेंकी गई वस्तु यदि ठीक दिशा में फेंकी गई, तो एक बड़ी ऊंचाई पर वह बराबर पृथ्वी का चक्कर लगाती रहेगी, जैसे अभी रूस के द्वारा फेंके

गए दो स्पुतनिकों ने किया है। लेकिन ये पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से बाहर नहीं गए और इनकी गति में धीरे-धीरे कमी होने पर ये नीचे आते जाते हैं। अतः अन्तर्ग्रहीय यात्रा के लिए यह आवश्यक है कि हम २५ हजार मील प्रति घण्टे से कुछ ऊपर की गति प्राप्त करें।

किसी भी वस्तु की गति को हम धीरे-धीरे बहुत काफी समय में बढ़ा कर २५ हजार मील प्रति घण्टा कर सकते हैं और ऐसा भी कर सकते हैं कि कुछ मिनटों में ही इतनी गति प्राप्त हो जाए। पहला मार्ग सरल है और दूसरा कठिन। फिर भी अन्तर्ग्रहीय यात्रा के लिए दूसरा ही मार्ग अपनाना होगा। पृथ्वी के धरातल के ऊपर कहीं पर एक क्षण के लिए भी किसी वस्तु को किसी खास ऊंचाई पर स्थित रखने के लिए भी शक्ति और ईंधन की आवश्यकता होती है। अतः यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु को जितनी ही अधिक अवधि तक पृथ्वी के आकर्षण के क्षेत्र मे रहना पड़ेगा, उसे उतने ही अधिक ईंधन की आवश्यकता पड़ेगी। सत्य तो यह है कि बहुत अधिक ईंधन ले कर भी यदि कोई मशीन बहुत धीरे-धीरे इसे खर्च करे, तो पृथ्वी के धरातल से कुछ ही फुट ऊंचा उठते-उठते उसका सारा ईंधन समाप्त हो जाएगा। अतः यह आवश्यक है कि २५ हजार मील प्रति घण्टे से ऊपर का प्रवेग हम कम से कम समय में उत्पन्न करें।

इस स्थान पर अब पृथ्वी के चारों ओर रहने वाले वायुमण्डल के सम्बन्ध में भी कुछ कहना उचित होगा। पृथ्वी के धरातल पर हवा सबसे अधिक घनी है। जैसे-जैसे हम ऊपर उठते जाते हैं, वैसे-वैसे हवा पतली होती जाती है। पतली हवा में मनुष्य को सांस लेने में कठिनाई होती है, क्योंकि इससे पूरा आक्सिजन नहीं मिल पाता। प्रयोग द्वारा यह देखा गया है कि तीन से साढ़े तीन मील ऊपर हवा जितनी पतली है, उतनी पतली हवा तक मे मनुष्य जी सकते हैं, परन्तु इसके लिए बहुत काफी दिनों तक अपने को इसके अनुकूल बनाना पड़ेगा। इससे ऊपर जाने पर हवा और पतली हो जाती है और मनुष्य उसमें नहीं जी सकता। उसे फिर सांस लेने के लिए कृत्रिम साधनों की आवश्यकता पड़ती है। अन्तर्ग्रहीय यात्रा मे जहां मनुष्य को बहुत समय तक वायु-शून्य आकाश में यात्रा करनी होगी, अपने साथ में पृथ्वी से आक्सिजन ले जाना होगा। ऊपर उठने पर हवा का यह पतलापन केवल मनुष्य पर ही अपना प्रभाव नहीं दिखलाता, बल्कि मशीनों पर भी दिखलाता है। हवाई जहाज के इंजन पैट्रोल से चलते हैं। पैट्रोल को जला कर शक्ति का उत्पादन करने के लिए आक्सिजन की आवश्यकता होती है। अतः यह स्पष्ट है कि एक विशेष ऊंचाई तक ही वायुयान उड़ सकते है। उससे अधिक ऊपर जाने पर हवा इतनी पतली हो जाती है कि इंजनों को चालू रखने के लिए काफी आक्सिजन नहीं मिल सकेगा। अतः अन्तर्ग्रहीय यात्रा के लिए, जिसमे वायु-शून्य प्रदेशों से हो कर ही जाना है, हवाई जहाज यात्रा का साधन नहीं हो सकता। साथ ही हवाई जहाज के लिए २५ हज़ार मील प्रति घण्टे का वेग विनाशकारी होगा। बैलून भी वायुमण्डल मे इस कारण ऊपर उठते हैं कि उनके भीतर भरी गैस हवा से हल्की होती है। परन्तु ऊपर जाते-जाते एक एसा स्थल आ जाता है जहां पर बाहरी हवा भी उतनी हलकी हो जाती है जितनी बैलून के भीतर की होती है। तब फिर बैलून का ऊपर उठना रुक जाता है। पृथ्वी से केवल ५० मील ऊपर की हवा धरातल की हवा से १० हजार गुणा पतली होती है, जिसे प्रायः वायु-शून्य स्थान कह सकते हैं।

अन्तर्ग्रहीय यात्रा के लिए न तो हवाई जहाज प्रयुक्त हो सकते हैं, और न बैलून ही। तब फिर इसका साधन क्या हो सकता है? इसका उत्तर वैज्ञानिकों ने राकेट के रूप में दिया है।

आपमे से हरेक ने आतिशबाजी का आसमान-तारा देखा होगा। पलीता लगाते ही किस प्रकार तेज़ी से वह ऊपर की ओर उठता है, यह सभी जानते है। राकेट भी कुछ इसी

ढंग की एक विशालकाय वस्तु है । इसमें एक मज़बूत ढांचे के भीतर ईंधन की टंकियां बनी होती हैं और उस ईंधन को जलाने के लिए तरल आक्सिजन, नाइट्रिक एसिड, हाइड्रोजन प्रैराक्साइड आदि पदार्थ दूसरी टंकियों में भरे होते हैं। टंकियों से निकल कर ये एक दहन प्रकोष्ठ में आते हैं, जहां उनके जलने से बहुत अधिक गर्मी उत्पन्न होती है। इसके कारण गैस बहुत गर्म हो जाती है और एक छोटे छेद के द्वारा बहुत तीव्रता से निकलती है। गैसों के निकलने के धक्क से राकेट दूसरी ओर आगे बढ़ जाता है। इसे हम इस तरह समझ सकते हैं कि यदि ट्रौली या नाव पर खड़े हो कर एक ईंट हम सामने फेंकें, तो ईंट के आगे गिरने के साथ-साथ हम भी धक्का खा कर पीछे की ओर खिसक जाएंगे। जितनी ही तेज़ी से और जितनी ही अधिक ईंट हम आगे फेंकेंगे, उतनी ही अधिक हमारी गति उलटी दिशा में होती चली जाएगी । वर्तमान समय में जो ईंधन प्राप्त हैं, उनसे प्रायः ५ हज़ार मील प्रति घण्टे की भयंकर गति से गैसें राकेट से बाहर निकलती हैं। हिसाब लगाया गया है कि यदि एक टन राकेट में हम १.७२ टन ईंधन भरें तो वह राकेट ५ हाज़र मील प्रति घण्टे की गति प्राप्त कर लेगा । इसका दूना ईंधन बढ़ाने से गति दुगुनी अर्थात १० हज़ार मील प्रति घण्टा नहीं होगी । इतनी गति प्राप्त करने के लिए एक टन के राकेट में हमें ६.४ टन ईंधन भरना होगा । गैसों के निकलने की तिगुनी गति प्राप्त करने के लिए एक टन के राकेट के लिए हमें १९.१ टन ईंधन की आवश्यकता होगी । ६.४ टन ईंधन तक तो एक टन के राकेट में भरा जा सकता है, परन्तु १९ टन ईंधन को रखने के लिए केवल एक टन का राकेट काफी मज़बूत नहीं होगा। अतः वैज्ञानिकों ने इसका भी उपाय निकाला है, और वह है राकेट-दर-राकेट। आसमान-तारा जहां ऊपर खत्म हो जाता है, वहीं पर उसमें से एक दूसरा तारा फूट कर निकलता है जो और अधिक ऊंचाई तक और भी तेज़ी से जाता है। इसी तरह से राकेट-दर-राकेट बनाए जाते हैं। पृथ्वी से मुख्य राकेट जब चलता है, तो उसके पहले हिस्से की टंकियों का ईंधन खर्च होता है। ऊपर जाते-जाते जहां पर पहले खण्ड का सारा ईंधन चुक जाता है, वहां आप-से-आप टंकियों वाला वह हिस्सा अलग हो कर पीछे रह जाता है। अब दूसरे खण्ड का ईंधन खर्च होना शुरू होता है। राकेट भी अब पहले से हलका हो गया होता है। पहली टंकियों के हट जाने से इसका बहुत-सा बेकार बोझ हट जाता है। इससे उतने ही ईंधन में अब वह अधिक गति प्राप्त कर सकता है। कुछ दूर जा कर इस ईंधन के समाप्त होने पर राकेट का तीसरा और सम्भवतः अन्तिम खण्ड काम करने लगता है, और दूसरा खण्ड टूट कर अलग हो जाता है। इसी प्रकार के राकेट के द्वारा रूस ने अपने स्पुतनिकों को १८ से २० हज़ार मील प्रति घण्टे की गति से अन्तरिक्ष में भेजा है। रूस के वैज्ञानिकों ने सम्भवतः किसी नए प्रकार के ईंधन का भी आविष्कार किया है, जिससे गैसें ५ हज़ार मील प्रति घण्टे की अपेक्षा बहुत अधिक गति से राकेट से बाहर निकलती है। ऐसा ईंधन होने से ईंधन का बोझ कम हो जाएगा और राकेट अपेक्षाकृत हलका होने के कारण अधिक गति प्राप्त कर सकेगा ।

—पटना से प्रसारित

निराला जी के संस्मरण

डा० रामविलास शर्मा



सन् ३४ से ३८ तक का समय निराला जी के कवि जीवन का सबसे अच्छा समय था। उनका कविता संग्रह 'परिमल' छप चुका था लेकिन गीतिका के अधिकांश गीत, अपनी सर्वश्रेष्ठ कविताएं 'राम की शक्तिपूजा', 'तुलसीदास', 'सरोज स्मृति' आदि उन्होंने इसी समय लिखी। गद्य में 'अप्सरा', 'अलका' उपन्यास छप चुके थे, लेकिन 'प्रभावती', 'निरुपमा' उपन्यास और अपनी अधिकाश प्रसिद्ध कहानियां उन्होंने इसी समय लिखी। यही बात उनके निवन्धों के बारे में भी सही है। उस समय उनकी प्रतिभा अपने पूरे उभार पर थी। उसके पहले जो कुछ था, वह तैयारी था, बाद को जो कुछ आया, वह सूर्यास्त के बाद का प्रकाश भर था।

निराला जी की एक विशेपता यह थी कि कविता लिखने से पहले वह उसकी भाव-राशि, विषयवस्तु की चर्चा बहुत कम करते थे। कोई भी कविता लिखने से पहले वह उसकी भाव-राशि को कुछ दिन तक अपने मन में संजोए रखते थे, मानो वह उनके मन मे धीरे-धीरे रूप और आकार ग्रहण कर रही हो। दूसरों की कविताओं की चर्चा काफी करते थे, अपने पिछले साहित्यिक जीवम की चर्चा भी करते थे, लेकिन उस समय उनके कवि हृदय में कौन-सी अस्फुट कविता गूंज रही है, इसका पता लगाना कठिन था। उस समय निराला जी के वारे में लोगों की यह आम धारणा थी कि वह अपने आगे किसी को नही गिनते। बात किसी हद तक ठीक भी थी। इसलिए यह और भी आश्चर्य की वात थी कि जिन भावों में उनका मन सबसे ज्यादा डूबा रहता था, और जिन्हें चुपचाप वह छन्द और शब्दों का सुन्दर रूप देने में लगे होते थे, उनकी वह वात भी न करते थे। लोग उनकी ऊपरी बातों, रहन-सहन, चाल-ढाल से इतना आकर्षित होते थे कि वे वाहर न प्रकट होने वाले कवि निराला को भूल जाते थे।

इसी तरह एक दिन अट्ठावन नम्बर, नारियल वाली गली, लखनऊ के मकान में कुछ घण्टे नीचे के कमरे में विताने के बाद वह हाथ में एक कागज लिए ऊपर आए। तब मैं उन्हीं के साथ रहता था : दो बन्द पढ़ कर सुनाए और बोले—'तुलसीदास' लिखना शुरू कर दिया है, अभी इतना ही लिखा है। ये उनकी नई कविता के पहले छन्द थे। इससे पहले उन्होंने इसका जरा भी आभास न दिया था कि उनका मन तुलसीदास के साथ चित्रकूट में घूम रहा है और नई कविता के भावों में वह इतना डूबे हुए हैं। ऐसे ही एक दिन उन्होंने 'राम की शक्ति-पूजा' का पहला वन्द सुनाया। तब तक उतना ही लिखा था। पूछा—कैसा है? तारीफ करने

भेज दिया था। लखनऊ में अपने होटल के सामने फुटपाथ पर पड़ी रहने वाली एक पगली भिखारिन से उन्हे उसी तरह की गहरी सहानुभूति थी। इसी कारण चतुरी और उस पगली पर वह अपने अपूर्व रेखाचित्र लिख सके थे।

यद्यपि वह सबसे मिलते-जुलते और हंसते-बोलते थे, लेकिन उनका मन एकान्त में कही विषाद में डूबा रहता था। जीवन में लगातार विरोध होने से उनकी चेतना में कहीं क्षोभ का घुन लग चुका था। रात में सोते-से अकसर जग जाते थे और घण्टों छत पर या बरामदे में टहला करते थे। उस समय उनका मन किस दुख-सागर में डूबा रहता था, इसे उनके सिवाय कोई नहीं जानता। अपनी कन्या सरोज की मृत्यु से उन्हें गहरा धक्का लगा था। जिस समय उन्हें यह समाचार मिला, वह अपनी समस्त वेदना हृदय में दबाने का प्रयास करते हुए कमरे में टहलते रहे। कुछ देर बाद बाहर घूमने चले गए। दुख के इस हृदय-मंथन से उन्होंने जो अमृत निकाला, वह उनकी अमर कविता 'सरोज स्मृति' थी। एक बार उन्हें डलमऊ में गंगा के किनारे ऐसे ही भावावेश में देखा था। उनकी पत्नी की चिता कहां जली थी, उन्हें याद था। कितनी रातों को वह अकेले वहां घूमे थे, यह भी उन्हें याद था। प्रथम महायुद्ध के बाद इन्फ्लुएंज़ा से किस मोड़ पर लाशों के कारण गंगा का प्रवाह रुक गया था, यह भी उन्हें याद था। उन्होंने अपना ही दुख नहीं झेला, दूसरों के दुख से वह और भी व्यथित हुए हैं। इस व्यथा ने उन्हें जर्जर कर दिया है। फिर भी अपने से अधिक दूसरों की व्यथा से पीड़ित होकर उन्होंने अपनी अस्वस्थता के दिनों मे भी लिखा है—"मां अपने आलोक निखारो, नर को नरकत्रास से वारो......"

निराला जी हिन्दी प्रेमियों के हृदय सम्राट हैं। जितने बड़े वह साहित्यकार हैं, उससे भी बड़े वह मनुष्य हैं। छोटों का सम्मान करना उनके इस बड़प्पन की सबसे बड़ी विशेषता है।

—लखनऊ से प्रसारित

ज़िन्दगी यूं भी गुज़रती है

शारदा राव



दास्ताने दिल नहीं है आप सुनिए तो सही।
हम जफ़ाए आस्मां का माजरा कहने को हैं।

ज़िन्दगी से कुछ न कुछ शिकायत तो हर इनसान को ही रहती है; ख्वाहिश पूरी न होना और अरमान अधूरे रह जाना—यह कहानी तो पुरानी है पर इस अधूरेपन में भी जीवन की पूर्णता है। हर इनसान की ज़िन्दगी में कुछ क्षण ऐसे बीतते हैं जिनका रस वह हमेशा ले सकता है। ज़िन्दगी बिताने का हर एक का तरीका अपना है। किसी को आंधी और तूफानों से बराबर टक्करें लेने में ही जीवन की सार्थकता मालूम पड़ती है और कुछ लोग छोटी-सी परेशानी में ही घबरा उठते हैं। कुछ एकान्त में जीवन बिताना चाहते हैं, तो कुछ कोलाहलपूर्ण वातावरण में ही सुखी रह सकते हैं। ज़िन्दगी में सुख-दुख मनुष्य स्वयं झेलता है, पर इस झेलने में दुनिया की एक झलक मिलती रहती है और दुनिया के सहारे से ही ज़िन्दगी कटती जाती है। ज़िन्दगी की एक कमी दूसरी तरह से पूर्ण हो जाती है। अगर रिश्तेदार धोखा देते हैं तो दोस्त जान लड़ा देते हैं, घर में अगर अशान्ति है तो बाहर शान्ति मिल जाती है। अभाव किसी न किसी ढंग से पूरा हो ही जाता है। पर अभाव पूर्ण हो गया, यह समझने की क्षमता का होना भी ज़रूरी है। अगर आपने यह अनुभव नहीं किया तो फिर ज़िन्दगी शिकायतें करते-करते ही गुज़रती है। शिकायत ही जीवन का आलम बन जाता है और फिर इस घेरे से निकलना दूभर है। आप मानेंगे कि कुछ इनसान जमाने से गिला करते-करते ही तमाम ज़िन्दगी खत्म कर देते हैं।

मैं आपसे अब जो कहने जा रही हूं वह बिलकुल सही वाकया है, इसमें ज़रा भी मनगढ़न्त नहीं है। मेरे यहां एक दिन एक साहब तशरीफ लाए। मैं इनसे पहले भी कई बार मिल चुकी थी। यह उन लोगों में स थे जिनको दुनिया की परिभाषा में किसी चीज़ की कमी न थी। घर के खाते-पीते थे, सुन्दर पढ़ी-लिखी बीवी थी, अच्छे सरकारी ओहदे पर थे, बच्चे कालेज में पढ़ रहे थे, समाज में सम्मान था। पर इनको हमेशा एक अकेलापन खटकता रहता था—यही लगता था कि ज़िन्दगी से तंग आ गए हैं। कुछ हाथ लगा नहीं, यूं ही समय नष्ट होता रहा। मुझे डर लगा कि कहीं अपनी गाथा न गाने लगें और मैंने अपनी तरफ से बड़ी होशियारी दिखाई और सिनेमा का विषय छेड़ दिया। मुझे मालूम था कि यह सिनेमा के शौकीन हैं। शहर में एक बड़ी अच्छी पिक्चर चल रही थी। मैंने उस पर अपनी टीका-टिप्पणी शुरू की और पूछा कि इसे देखा है कि नहीं ?

बस शुरू कर दिया, कहने लगे—तसवीर तो अच्छी थी पर देखने का अफ़सोस रहा। घंटों क्यू में खड़े रहने के बाद तो टिकट मिला। उसके बाद अन्दर जो घुसे और आराम से सीट पर बैठे तो पता चला कि सीट आगे नहीं खिसकती थी। जो सपना देख रहे थे कि लेट के सिनेमा देखा जाएगा वह भंग हो गया। सोचने लगे कि यह क्या तरीका है? लोगों के आराम का भी खयाल नहीं करते? इन पिक्चर हाउस वालों को चार्ज करना तो खूब आता है। मन मसोस कर रह गए। लगे पिक्चर देखने। देखना शुरू ही किया था कि पीछे से कुछ औरतें खिलखिला कर हंस पड़ीं।·····जब-जब पिक्चर में डायलाग समझने की कोशिश करते, तब-तब वही खिल-खिल सुनाई पड़ती। लोगों को इतनी तमीज़ तो होनी चाहिए कि सिनेमा देखने और लोग भी आते हैं।·····पीछे घूम कर देखा तो ज़रा देर में सुनाई पड़ा कि—कैसा अजब आदमी है पिक्चर तो देखता नहीं, पीछे घूर रहा है। लगता है इसके पल्ले कुछ पड़ नहीं रहा है।····सोचने लगे फ़िज़ूल सिनेमा देखने आया इससे तो अपने घर बैठता तो अच्छा रहता।

मैंने कहा—अच्छा, सिनेमा को छोड़िए। यह तो बताइए कि बच्चों का क्या हाल है?

कहने लगे कि बड़े साहबज़ादे ने बी० ए० फ़र्स्ट डिवीज़न में पास कर लिया है और नतीजा निकलते ही उनके पर लग गए हैं। वह समझते हैं कि न जाने कौन-सा गढ़ जीत लिया है! रोज़ काफ़ी हाउस में जा कर अपने दोस्तों के साथ बैठे रहते हैं और जब तक किसी रेस्तरां का एक चक्कर न लगा लें, उनको खाना ही हज़म नहीं होता। इस ज़माने के लड़कों से तो भगवान बचाए। अपनी इज़्ज़त अपने हाथ है। कुछ कहना शुरू करो तो इधर तो साहबज़ादे उलट के जवाब देने को तैयार हैं, और उधर बीबी साहबा के तेवर चढ़ जाते हैं।

मैं बीच में बोल उठी—ऐसा तो सब लड़के करते हैं, बाद को सब ठीक हो जाते हैं। जब आप दोनों इतने होशियार हैं तो बच्चे भी होनहार होंगे।

खिलखिला उठे। कहने लगे—हम ऐसी होशियारी से बाज़ आए। जब तक शादी नहीं हुई थी, सोचा करते थे खूबसूरत और पढ़ी-लिखी बीबी मिल जाए तो तकदीर चमक उठे। 'दूर के ढोल सुहाने और नियरे के ढब-ढब होय'·····बहुत भर पाया। पढ़ी-लिखी बीबी ने नाक में दम कर दिया है। मुंह से बात निकली नहीं कि उसे काट दिया। हर बात में अपनी राय ज़ाहिर करना ज़रूरी है। समझती हैं कि सिवाय उनके और किसी को अक्ल ही नहीं है।

मैं हार मान गई। समझ में नहीं आया कि कौन-सा विषय छेड़ूं और कहने लगी कि दफ्तर में क्या हाल-चाल है?

हाल-चाल क्या होते हैं, घर आते-आते रोज़ शाम हो जाती है। घर पर फ़ाइलों का ढेर देख कर बीबी बरस पड़ती है। अगर काम घर न लाएं तो बताइए फिर खत्म कैसे हो? हर एक चीज़ तो खुद पढ़नी पड़ती है। अगर कुछ छोड़ दें और खुदा-न-ख्वास्ता उसी में गलती रह जाए तो नौकरी के लेने के देने पड़ जाएंगे। आजकल के ज़माने में नौकरी करना कोई मज़ाक तो है नहीं। दफ्तर में मिलने वालों के मारे परेशान रहते हैं।·····कमरे में घुस कर यही भूल जाते हैं कि बाहर भी निकल कर जाना है, मानो फ़ाइलों का ढेर भी नहीं दिखाई देता। दफ्तर से घर आ कर कुछ चैन मिले, तो वह भी नहीं। पड़ोसी ऐसे मिले हैं कि भगवान बचाए। नीचे के हिस्से में रहते हैं और सिर पर ऊपर बराबर धमाचम होती रहती है। बच्चे वह दौड़ लगाते हैं मानो कोई रेसकोर्स हो। एक दिन, बतौर छुट्टी के, दिन में सोने की कोशिश करने लगे तो ऊपर से रेडियोग्राम सुनाई पड़ने लगा।·····पड़ोस में रह कर लोगों को यह ध्यान तो रखना चाहिए कि दिन में लोग घंटा-आध घंटा सोना चाहते हैं। खैर नींद जो बिगड़ी सो बिगड़ी, बाहर निकल कर गए। सोचा, ज़रा बाग का चक्कर लगा कर देख लें कि माली क्या कर रहा है।

बाग सूखा पड़ा था। मालूम हुआ कि नल ही खराब हो गया है और कई बार रिपोर्ट करने पर भी कोई नल को ठीक करने नहीं आता। अगर माली को डांटें-डपटें, तो दूसरे दिन से खुद गमले सींचने को तैयार रहो। माली नौकरी छोड़ कर अपने घर बैठ जाएगा और रहा-सहा बाग भी खत्म हो जाएगा।

परेशान हो कर कहने लगे—पैदा होना गुनाह है। आखिर इनसान ही तो है, कहां तक बरदाश्त करे? कुछ रुपये अपने एक दोस्त को शेयर में लगाने को दिए थे, उन्होंने जाने क्या किया? वायदा किया था, बहुत सूद पर लगाए है और जल्दी ही सूद भेज देंगे। पर यहां तो मूल का ही पता नहीं! ····सुनते आए थे कि दोस्ती से बढ़ कर दूसरा रिश्ता नहीं है, पर शायद किस्मत ही खराब है। दोस्त भी ठिकाने के न मिले।

उनकी बातचीत का यही रुख था। गरज़ यह कि सब तरफ से आजिज़ हो गएं थे। मैंने सोचा, अब खत्म भी करूं। और कहने लगी अच्छा अब आपसे फिर भेंट होगी।

तुरन्त बोले—ज़रूर होगी, जैसे आप हमेशा घर पर ही मिलती हैं! आज न जाने कैसे मुलाकात हो गई। आपका क्या कसूर है, जमाना ही ऐसा है। कौन किसको पूछता है?

यह कह कर वह चले गए। उनके चले जाने पर मैं सोचने लगी कि जिस इनसान को ज़िन्दगी के हर पहलू से शिकायत हो, उसको शिकायत करने का हक सिर्फ अपने आपसे है। जहां यह लगे कि सारे जहा का जुल्म हमारे ऊपर ही हो रहा है, वहां समझ लेना चाहिए कि हममें कोई बहुत बड़ी कमी है जिसके पूरे न होने से जिन्दगी का दृष्टिकोण ही शिकायत का बन गया है। अपने मन से ज़िन्दगी में हर चीज का इन्तज़ार करना और उसका अधूरा रहना बात ही और है। कुछ लोग अधूरेपन की दुनिया में ही बसना चाहते हैं—

मेरे छोटे जीवन में देना न तृप्ति का कण भर,
रहने दो प्यासी आंखें भरती आंसू के सागर।

लेकिन इनसान और इनसान में फर्क है—कुछ चाहते ही नहीं कि उनकी ख्वाहिशें पूरी हों, और कुछ शिकायत करते-करते ही ज़िन्दगी बिता देते है।

—प्रवासी भारतीयों के लिए प्रसारित

खनिज तेल की खोज [१]

केशवदेव मालवीय



तेल दो प्रकार का होता है—एक तो खाने वाला तेल होता है. जैसे सरसों, जैतून, नारियल, मछली वगैरा का जो मौजूदा वनस्पति और जानवरों से मिलता है; और दूसरा तेल भूगर्भ में करोड़ों वर्ष पहले मरे हुए जानवरों और पेड़-पौधों के दब कर सड़ने से बनता है। संसार के सभी महाद्वीपों में ढूंढ़ने से खनिज तेल मिल जाता है। भूगर्भ में हजारों फुट नीचे दबे हुए तेल को हम खनिज तेल कहते हैं।

खनिज तेल की तलाश की अद्भुत कहानी है। इससे बढ़ कर रुचिकर या रहस्यमय कहानी शायद ही दूसरी कोई हो। लोग तो साधारणतः यह समझते हैं कि यह खनिज तेल जिससे मिट्टी का तेल, पैट्रोल, डीजल तेल, सड़क बनाने वाला कोलतार और मोबिल आयल आदि निकलता है, बहुत आसानी से पृथ्वी में कुएं खोद कर निकाला जा सकता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। इस तेल की तलाश में बहुत ज्यादा कठिनाइयां हैं। इसमें अरबों रुपये का व्यय है और तलाश करने के बाद भी तेल मिलने के मौके कम होते हैं। यह असम्भव है कि जमीन के ऊपर खड़े हो कर कोई बता सके कि भूतल में तेल कहां छिपा होगा, पर तेल तलाश करने का विज्ञान अब बहुत आगे बढ़ गया है और हम यह जानते हैं कि अक्सर भूतल में एक मील से तीन मील तक नीचे पहाड़ों की तलहटियों और गुफाओं के अन्दर फैल कर यह तेल बालू में भरा पड़ा मिलता है। परन्तु जमीन के ऊपर से इसको बताना अत्यन्त कठिन है। इसे मालूम करने की कला अब काफी जानी जा चुकी है, पर फिर भी अभी बहुत कुछ करना बाकी है।

ठीक तरह से मालूम नहीं है कि करोड़ों वर्ष पहले यह तेल कैसे बना होगा, पर अधिकांश वैज्ञानिकों की यह धारणा है कि एक करोड़ वर्ष पहले से ले कर लगभग १० करोड़ वर्ष पहले तक की अवधि में भूगर्भ में पेड़-पल्लव और जन्तुओं के समुद्र के किनारे दब जाने से और सड़ने से ही तेल बना होगा। छिछले समुद्रों में अगाध जीव-जन्तुओं का संसार जब दब गया तो वहीं दबा पड़ा रह गया और उसके ऊपर मलबा पहाड़ों से बह कर उसको दबाता रहा, जिससे समुद्र पट गया और करोड़ों वर्ष में मलबे का पहाड़ बनता गया जो अब पत्थर की चट्टानों की तरह हमें दिखाई पड़ता है या जमीन के नीचे दबा है। यह मालूम होना चाहिए कि पहाड़ से बह कर मैदान में मिट्टी जमा होने की क्रिया आदिकाल से आज तक बराबर जारी है। इन्हीं भूतल तलहटियों में हजारों फुट नीचे चूने या बालू की पहाड़ वाली घाटियों में जीव-जन्तुओं के सड़ने से द्रव पदार्थ के रूप में खनिज तेल बालू के कणों में भरा पड़ा रहता है. जैसे शहद की मक्खियों के छत्ते में शहद भरा रहता है। लोग प्रायः समझा करते हैं कि भूतल में तेल की कोई नदी या

झील होगी, पर ऐसा नही होता। छिछले समुद्र के पटने के बाद बालू के कणों में खनिज तेल बूंद-बूंद इकट्ठा होता है। बालू के कण ऊपर के दबाव से प्रायः पत्थर की चट्टान के समान हो जाया करते हैं। यदि ऊपर से दबाव का बोझ न पड़े तो तेल से भरे हुए यही बालू के कण मुलायम भी बने रहते है, जिन्हें अंग्रेजी में 'अनकनसौलीडेटेड सैंड' भी कहते हैं। तेल के बूंद अत्यन्त सूक्ष्म बालू के कणों में जकड़बन्द रहते हैं। तेल वाली पथरीली बालू की चट्टानों के ऊपर हज़ारों फुट दूसरी किस्म की चिकनी मिट्टी का मलबा भी आ जाया करता है जिसकी वजह से यह तेल अपनी जगह पड़ा रहता है और ऊपर नही भागता। याद रखिए कि तेल पानी से हलका होता है, इसलिए नीचे से ऊपर जाने के लिए मार्ग ढूंढ़ा करता है। यह हज़ारों फुट चिकनी मिट्टी की तहें तेल को दबाए रखने में ठीक उसी तरह काम देती हैं जैसे सोडा वाटर की बोतल का गोली वाला कार्क बोतल के अन्दर के सोडा पानी को दबाए रहता है। जितनी ही मोटी चिकनी मिट्टी वाली चट्टानें सतह से नीचे तक तेल की बालुई चट्टानों को दबाए रहती हैं, उतनी ही अधिक सम्भावना तेल पाने की उस जगह हुआ करती है।

समुद्री पानी से तेल का बड़ा सम्बन्ध रहता है क्योंकि पहले-पहल किनारे के छिछले समुद्र में ही पहाड़ों और दरियाओं से मलबा आ कर लाशों को दबाता और सड़ाता है। यह हमारा विश्वास है कि करोड़ों वर्ष पहले जहां छिछला समुद्र था, वहां ही यह तेल मिलता हे, दूसरी जगह नहीं मिलता। यह समुद्र धीरे-धीरे पटता जाता है क्योंकि पहाड़ से आया हुआ मलबा उसको बराबर नीचे ढकेलता रहता है और दो-चार करोड़ वर्ष में तो समुद्र पहाड़ के मलबे से ढिकल कर मीलों नीचे चला जाता है। उदाहरण के लिए खम्भात की खाड़ी का समुद्र लीजिए जो आज कैम्बे के पास बहुत छिछली गहराई में पाया जाता है। अनुमान है कि किसी समय ६०–७० मील ऊपर अहमदाबाद के उत्तर में यह समुद्र रहा होगा। नदियों से मलबा आ कर इस छिछले समुद्र को करोड़ों वर्ष तक पाटता गया, जीव-जन्तुओं को दबाता गया और इस तरह समुद्र के किनारे को नीचे ठेलता गया। इस प्रकार उन बालुई चट्टानों और जीव-जन्तुओं तथा पेड़-पल्लवों पर तह की तह जमती गई। इसी तरह लगभग छः-सात हज़ार फुट मलबा खम्भात की खाड़ी के ऊपर सैकड़ों वर्ग मील में जम गया जिसके नीचे तेल की सम्भावना पाई जाती है।

दुनिया में जितना भी तेल पाया जाता है, उसका अधिकांश इसी तरह प्राचीन काल के छिछले समुद्री किनारों में बना था। इस तरह के स्थानों को तेल के वैज्ञानिक 'काटीनेन्टल शेल्फ' के क्षेत्र कहते है। भूतत्ववेत्ताओं या जिओलोजिस्ट्स का यह अनुमान है कि असम से कश्मीर तक फैले हुए हिमालय पर्वत के दक्षिण और विन्ध्याचल के उत्तरी क्षेत्र में करोड़ों वर्ष पहले समुद्र बहता था, और इस समुद्र के किनारे उसी काल के जीव-जन्तु हिमालय और विन्ध्याचल से लाए हुए मलबों से दब कर तेल में परिवर्तित हो गए हैं। हिमालय से मलबा आ कर इस छिछले सागर को पाटता गया, समुद्र पीछे हटता गया और साथ ही भूगर्भ के अन्दर भी ऐसे परिवर्तन होते गए जिससे समुद्र जगह छोड़ कर आज की जगह पर पहुंच गया। यह परिवर्तन बड़े-बड़े भूकम्पों और पाताल की उथल-पुथल से हुआ करते थे। आज भी खम्भात की खाड़ी भारतवर्ष के पश्चिम के समुद्री किनारों से नीचे हटती जाती है। करोड़ों वर्ष बाद हमारे देश का आज का किनारा और बढ जाएगा और मीलों जमीन समुद्र हटने के कारण हमको मिल जाएगी। अतीत काल मे जीव-जन्तु नदियों और पहाड़ों से बह कर समुद्र तट को पाटते जाते हैं, और इसी पटी हुई जमीन में नीचे तलहटियों में जीव-जन्तु सड़ कर तेल बनाते हैं।

तेल की खोज के तीन मुख्य तरीके होते हैं :—

१. जिओलोजिस्ट लोग अपने औज़ारों और भूमि निरीक्षण यंत्रों द्वारा यह बताते हैं कि कहां छिछले समुद्रों में ऊपर से मलबे आ कर तह पर तह बनाते गए होंगे।

२. जिओफिज़िस्ट लोग आजकल की सतह के नीचे की इन तहों की गहराइयां मालूम करते हैं और यह भी जानने का यत्न करते हैं कि अतीत काल में तेल बन कर कहीं बन्द हो गया है या नहीं। याद रखिए, जब तक ऊपर की चिकनी चट्टानें बने हुए तेल को भाप बन कर उड़ जाने से नहीं रोकेंगी, तब तक तेल का खज़ाना नहीं बनेगा। जिओफिज़िस्ट इन तेल के खज़ानों की गहराई और स्थान पकड़ने के लिए कई प्रकार के यंत्रों की सहायता लेते हैं और पृथ्वी के अन्दर बारूद से धमाका करके देखते हैं कि उसका शब्द नीचे कहां जा कर पथरीली चट्टानों से टक्कर खा कर वापस आता है। इस तरह आवाज़ की रफ्तार से नीचे पड़े हुए तेल और बालू की चट्टानों की गहराई मापी जाती है। फिर भी इस तरह से गहराई का अन्दाज़ा भर ही किया जा सकता है।

३. आखिरी और सब से निश्चित तलाश करने का तरीका ज़मीन में कुआं खोदने का होता है। ऊपर बताए गए तरीकों से जिओलोजिस्ट और जिओफिज़िस्ट इंजीनियरों को कुआं खोदने की जगह बताते हैं। तब वहां गहरा कुआं खोदने वाले इंजीनियर ५ या १० या १५ हज़ार फुट की गहराई तक इन तेल-बालू की चट्टानों को ढूंढ़ने के लिए कुआं खोदते हैं। ऐसा कुआं खोदने में बहुत रुपया लगता है। कभी-कभी तो पहले कुएं में एक-दो करोड़ रुपया तक खर्च हो जाता है और एक या दो साल का समय भी लग जाता है। फिर दूसरे कुएं के खोदने में इतना खर्च तो नहीं होता, पर जैसी चट्टानें होती हैं उसी प्रकार का खर्च होता है। कभी-कभी कई कुएं खोदने पर भी हजारों फुट नीचे के वे बालू के पहाड़ नहीं मिलते जिनमें तेल दबाव से पड़ा रहता है, और कुएं खोदने पर जितना रुपया खर्च होता है वह सभी बेकार जाता है। पहले कुएं को खोदने के बाद तेल के दर्शन हो जाने पर भी बहुधा तेल नहीं निकलता तो फिर कई कुएं खोदने पर वह जगह मिल पाती है जहां काफी मात्रा में तेल होता है। जब तक इतना तेल न मिले कि सब रुपया वसूल हो जाए और दस-बीस गुना ज्यादा मूल्य का तेल न मिल जाए, तब तक बराबर प्रयत्न होता रहता है। आधुनिक विज्ञान तेल की तलाश की इस विद्या को इतना सफल नहीं कर सका है कि तेल के कुएं बेकार न खोदे जाएं और पहले ही प्रयत्न में नीचे का छिपा हुआ तेल मिल जाए। बहुधा तेल क्षेत्रों में अरबों रुपये लग जाने पर भी कभी तेल नहीं मिलता, परन्तु सावधानी और अच्छे इत्तेफाक की वजह से कभी पहले ही कुएं में तेल मिल जाता है। इसलिए तेल पाने का कोई ठीक वैज्ञानिक नक्शा अभी मालूम नहीं है।

यह बड़े हर्ष की बात है कि कैम्बे और ज्वालामुखी में पहले ही कुएं में तेल का प्रमाण मिल गया। अब यह जानने के लिए काफी कुएं खोदने पड़ेंगे कि तेल काफी क्षेत्र में है या नहीं। इसमें एक या दो वर्ष और लग सकते हैं। तभी निश्चित रूप से तेल की मात्रा का अन्दाज़ा होगा। अगर कई कुएं खोदने के बाद भी तेल की मात्रा काफी न मिली तो दूसरी जगह हट कर तेल की खोज की जाएगी, पर इस प्रयत्न को सरकार तब तक जारी रखेगी जब तक कि नीचे छिपा हुआ तेल का खज़ाना देश के लाभ के लिए न मिल जाएगा।

—दिल्ली से प्रसारित

खनिज तेल की खोज [२]

डा० आर० सी० मिश्र



वर्तमान औद्योगिक युग में शक्ति के मुख्य साधन खनिज तेल, पत्थर का कोयला, परमाणु शक्ति, जल-विद्युत, वायु शक्ति एवं सौर ताप है। यह भी कहा जा सकता है कि किसी देश की उन्नति मुख्यतः खनिज तेल एवं कोयले के भंडारों पर ही निर्भर है। इसी महत्व के कारण खनिज तेल के क्षेत्र, जैसे मध्य एशिया एवं फिलिपाइन्स द्वीपसमूह, राष्ट्रों की कशमकश के रंग-मंच बने हुए हैं। वास्तव में वायुयान, मोटरें तथा अन्य कलें पूर्णतः खनिज तेल पर ही निर्भर हैं।

खनिज तेल, काले या भूरे रंग का गाढ़ा द्रव्य है, जो शिलाओं से प्राप्त किया जाता है। यह कई प्रकार के हाइड्रो-कार्बन का मिश्रण है तथा इसमें अपनी एक विशेष प्रकार की गंध होती है।

खनिज तेल अन्य खनिजों की भांति पृथ्वी के गर्भ में तेलकूप बना कर निकाला जाता है। इसकी उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद है। वैज्ञानिक मैलीफ के मतानुसार यह पृथ्वी के गर्भ में छिपी हुई धातुओं के कार्बाइडों पर जल के प्रभाव से उत्पन्न हुए विभिन्न हाइड्रो-कार्बन के मिश्रण से बनता है। अन्य वैज्ञानिकों का मत है कि यह पृथ्वी के गर्भ में दबी हुई पुरावनस्पति एवं पुराजीव-जन्तुओं के रासायनिक विघटन से उत्पन्न होता है। एंगलर के मतानुसार तेल मुख्यतः पुराजीव-जन्तुओं के रासायनिक परिवर्तन से ही बनता है, और इनमें मछलियां मुख्य हैं। वास्तव में मछली के तेल तथा खनिज तेल में अत्यधिक सामंजस्य है। अमेरिकी वैज्ञानिक जीबेल के अनुसार इसकी उत्पत्ति में निम्न कोटि के जीव, जिन्हें बैक्टीरिया कहते है, ही प्रधान घटक है।

धरातल पर खनिज तेल की शिलाएं मुख्यतः दो श्रेणियों में फैली हुई हैं। इनमें से एक श्रेणी उत्तरी अमेरिका में कैनडा, संयुक्त राज्य अमेरिका, मैक्सिको, केलीफोर्निया इत्यादि से होती हुई दक्षिणी अमेरिका में कोलम्बिया, पेरू एवं अर्जेन्टाइना तक चली जाती है तथा दूसरी श्रेणी इंग्लैंड, जर्मनी, स्पेन, रूमानिया, मध्य एशिया के प्रमुख क्षेत्रों, जैसे बाकू, सऊदी अरब, ईरान, इराक, दक्षिणी रूस, पश्चिम पाकिस्तान तथा भारत में हिमालय के समानान्तर चलती हुई असम, बर्मा, मलय तथा पूर्वी द्वीपसमूहों तक फैली हुई है।

संसार में सबसे अधिक तेल संयुक्त राज्य अमेरिका उत्पन्न करता है और द्वितीय एवं तृतीय स्थान क्रमशः दक्षिणी अमेरिका तथा रूस का है। ईरान, इराक तथा पूर्वी द्वीप समूह भी तेल उत्पादक क्षेत्रों में प्रमुख हैं। भारतवर्ष विश्व उत्पादन का कुल १.५ प्रतिशत तेल उत्पन्न करता है, परन्तु तेल के नए क्षेत्रों की खोज होने से इसमें वृद्धि की पूर्ण सम्भावना है।

खनिज तेल का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। ज्ञात हुआ है कि सहस्रों वर्ष पूर्व मिस्र देश के निवासी तेलयुक्त शिलाओं को ईंधन की भांति उपयोग में लाते थे। आरम्भ में खनिज तेल का उपयोग पैराफिन के रूप में किया जाता था, जो तेलयुक्त शिलाओं से निकाला जाता था। सर्वप्रथम इस कार्य को जेम्स यंग नामक व्यक्ति ने किया, जिसको लोग पैराफिन यंग कह कर उपहास किया करते थे। इसके उपरान्त १८वीं शताब्दी में सर्वप्रथम तेल-कूप टेक्सास में खोदा गया।

भारत में खनिज तेल की गवेषणा के सम्बन्ध में एक बहुत रोचक घटना हुई थी। १९वीं शताब्दी में असम रेलवे लाइन का निर्माण हो रहा था और इस कार्य के लिए कुछ अंग्रेज़ अधिकारी भूमि का सर्वेक्षण कर रहे थे। इस कार्य में हाथी ही यातायात के साधन थे। सौभाग्य से एक दिन जंगल में काम करने वाले एक हाथी के पैर खनिज तेल से सने हुए पाए गए। बाद में खोज करने पर पता चला कि जिस स्थान पर हाथी गया था वहां एक तेल स्रोत था जिससे निकल कर धरातल पर खनिज तेल एकत्रित हो रहा था। यही क्षेत्र बाद में दिगबोई के नाम से प्रसिद्ध हुआ और भारत का प्रमुख तेल उत्पादन केन्द्र बन गया।

भारत में खनिज तेल तृतीय कल्प की शिलाओं में पाया जाता है, जो पृथ्वी के भू-वैज्ञानिक इतिहास के अनुसार बहुत कम आयु की है। इस समय भारत में केवल असम क्षेत्र में तेल का उत्पादन होता है। यहां दिगबोई नामक स्थान पर सन् १८९२ से असम आयल कम्पनी द्वारा तेल निकाला जा रहा है। इसके अतिरिक्त दक्षिणी असम में बदारपुर, मासिमपुर, पथरिया इत्यादि स्थानों पर भी तेल-कूप खोदे गए थे, परन्तु अधिकतर ये असफल सिद्ध हुए। सन् १९५३ में इसी कम्पनी ने नहरकाटिया तेल क्षेत्र की गवेषणा की, जहां पर अब कई सफल कूप तेल उत्पादन कर रहे हैं, और मोरान तथा महोलिया में भी तेल उत्पादन करने की योजना विचाराधीन है। भूतात्विक समीक्षा विभाग तथा तेल और प्राकृतिक गैस आयोग द्वारा तेल की गवेषणा का कार्य बम्बई प्रान्त में घोघा, भरोंच, अहमदनगर तथा कच्छ, एवं राजस्थान में जैसलमेर तथा कांगड़ा घाटी के ज्वालामुखी क्षेत्र में किया जा रहा है। तेल और प्राकृतिक गैस आयोग द्वारा ज्वालामुखी स्थान पर स्थापित तेल परीक्षण छिद्र लगभग ६,००० फुट की गहराई तक पहुंच चुका है। एक अन्य कम्पनी भी पश्चिम बंगाल में बर्दवान क्षेत्र तथा निकटवर्ती स्थानों पर खनिज तेल की खोज में संलग्न है।

खनिज तेल विभिन्न प्रकार की शिलाओं में पाया जाता है, जैसे बालू, पत्थर, चूना पत्थर एवं संपिडता आदि। यद्यपि इसकी उत्पत्ति कार्बनिक शिलाओं से होती है, तथापि यह प्रायः उन्हीं शिलाओं में पाया जाता है जिनमें पर्याप्त छिद्र होते हैं। यह उनमें उसी प्रकार एकत्रित होता है जिस प्रकार स्पंज में पानी। इसके अतिरिक्त तेल निक्षेपों के बनने में शिलाओं की कुछ आकृतियां जैसे Anticline एवं Dome अर्थात महराबदार तथा गुम्बदाकार शिलाएं विशेष उपयुक्त सिद्ध हुई हैं।

खनिज तेल की गवेषणा में जीवाश्मों की सहायता स उचित आयु की शिलाओं का पता लगाना अत्यन्त आवश्यक है। तत्पश्चात शिलाओं की आकृतियों की खोज के लिए नाना प्रकार की भू-भौतिक रीतियों का प्रयोग किया जाता है, जैसे विभिन्न स्थानों पर पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का मापन। यह कार्य इटवास ऐंठन तुला तथा विभिन्न प्रकार के Gravimeters से किया जाता है। इस परीक्षा में सतह के नीचे स्थित शिलाओं की बनावट का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। एक अन्य रीति में कृत्रिम भूकम्पों की सहायता ली जाती है। धरातल में एक छिद्र बना कर उसमें कोई विस्फोटक पदार्थ रख दिया जाता है

और निश्चित दूरी पर कई स्थानों पर भूकम्प मापक यन्त्र रख दिए जाते हैं। विस्फोटन से उत्पन्न कृत्रिम भूकम्प की लहरें धरातल के विभिन्न शिलास्तरों से टकरा कर भूकम्प मापक यन्त्र को लौटती हैं। यह यन्त्र उनका एक रेखाचित्र तैयार कर देता है। इस रेखाचित्र की सहायता से वैज्ञानिक सतह के नीचे की शिलाओं की आकृतियों का अनुमान लगाते हैं। इसी प्रकार चुम्बकत्व-मापी यन्त्रों से विमान द्वारा शिलाओं की भौतिक रचना की खोज की जाती है। इसके अतिरिक्त वायु मानचित्र तथा अन्य प्रकार के भौगर्भिक मानचित्र तैयार किए जाते हैं।

निकाला हुआ खनिज तेल शोधन कारखानों में पाइप द्वारा आसवन के लिए ले जाया जाता है। वहां पर कई प्रकार के उपयोगी पदार्थ, जैसे गैसोलीन, नेप्था, पैट्रोल, केरोसीन, उपस्नेहन तेल, वैसलीन, मोम, पैट्रोलियम कोक आदि प्राप्त किए जाते हैं। इस प्रकार के कारखाने भारत में असम तथा ट्राम्बे में स्थित हैं, एवं एक नए कारखाने का निर्माण शीघ्र ही पूर्वी भारत में होने वाला है।

कौन जानता है कि गंगा तथा ब्रह्मपुत्र की घाटियों में बालू एवं मिट्टी से आच्छादित शिलाओं में खनिज तेल के प्रचुर भण्डार हों, जिन्हें हमारे वैज्ञानिक खोज निकालें और हिमालय के तराई क्षेत्र, कैम्बे की खाड़ी, जैसलमेर, सौराष्ट्र तथा देश के अन्य समुद्र-तटीय क्षेत्रों में खनिज तेल की खोज का कार्य सफलीभूत हो। इस दिशा में प्राय: १० प्रतिशत सफलता होने पर भी खनिज तेल की खोज आज संसार में निरन्तर चल रही है और ऐसी आशा है कि भारत अपने प्रयास में अवश्य सफल होगा।

—लखनऊ से प्रसारित

एक मुक्तक

उदयशंकर भट्ट

न विष को अमृत में बदल हम सके
न इनसान के रूप में ढल सके
कदम जुड़ न पाए न कांटे हटे
चले तो सही पर न चल हम सके।

—दिल्ली से प्रसारित

सोवियत संघ में स्त्रियों का जीवन

कमला रतनम्



मास्को आने से पहले यहां की स्त्रियों के बारे में मैंने बहुत-सी बातें सुनी थीं। इनमें से सबसे अधिक प्रभाव मेरे ऊपर इस बात का पड़ा था कि क्रान्ति के बाद यहां की स्त्रियों को प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हो गए हैं, वेश्यावृत्ति का अन्त कर दिया गया है और स्त्रियां हवाई जहाज उड़ाती हैं। द्वितीय महायुद्ध के दौरान में मैंने अमेरिकन लेखक की 'माता एशिया' नामक पुस्तक पढ़ी और नाजियों से रूस के संरक्षण में यहां की स्त्रियों और लड़कियों ने जो वीरता दिखाई उससे प्रभावित हुए बिना मैं न रह सकी। मास्को पहुंच कर अपनी आंखों से मैंने यहां की स्त्रियों को देखा। भिन्न-भिन्न देशों में कुशल अभिनेत्री की तरह स्त्री भिन्न रूपों में चमत्कृत होती है—कहीं वह अपने सब अधिकारों से वंचित, पूर्ण रूप से अपने अस्तित्व के लिए पुरुष पर निर्भर वास्तव में उसकी क्रीत दासी के समान है, कहीं वह अपने सर्वांग सुन्दर लावण्यमय रूप में प्रकट हो कर पुरुष की लालसा का खिलौना बनी हुई है; और कहीं अपने घर में दक्ष गृहिणी के रूप में यथार्थ में पति और संतान की मालकिन होती हुई भी समाज के अन्य क्षेत्रों में अपने कर्तव्य का पालन कर रही है। सोवियत संघ में स्त्री का जो रूप सबसे अधिक विकसित और पुष्ट हुआ है वह है उसकी वात्सल्य-स्नेहमयी मातृमूर्ति। पश्चिम के लोग रूसी स्त्रियों के भारी पुष्ट शरीर, विस्तृत वक्ष और सादे, मज़बूत कपड़ों की हंसी उड़ाते हैं। उनकी दृष्टि में वे फैशन में पिछड़ी हुई, अपने अंगों की सुडौलता का ध्यान न रखने वाली भोंदू स्त्रियां हैं। परन्तु मुझे उनके भारी शरीर और चौड़े वक्षों में उतनी ही विस्तृत मातृत्व भावना दिखाई पड़ी। उनकी गोद यदि भारी है तो अधिक बालकों को बैठाने के लिए, और उनके कपड़े यदि मोटे हैं तो घर का और बाहर का काम करने के लिए और यहां की भयंकर सर्दी से बचने के लिए। फिर अपने-अपने देश की अपनी चाल होती है, यहां के पुरुष भी तो भारी पुष्ट शरीर वाले हैं। सोवियत संघ के लोगों की रुचि ही कुछ ठोस, बड़ी और टिकाऊ चीज़ों की ओर है; यहां के मकान, मोटरें, बरतन, खाने-पीने की वस्तुएं, सबमें वही रिवाज चला आ रहा है।

पहले-पहल रूसी स्त्रियों को मैंने दिसम्बर की क्रूर सर्दी में सड़कों पर से बर्फ हटाते देखा। मोटी-मोटी रूई की काली बण्डियां तथा घुटनों तक ऊंचे ऊनी नमदे के गर्म जूते पहने, हाथों में लम्बे हैण्डल वाला झाड़ू या बर्फ खुरचने वाला तख्ता लिए ये सवेरे ६ बजे से काम करने लगती हैं। इनके चेहरे सौम्य और स्वच्छ होते हैं—पाउडर और लिपस्टिक का नाम नहीं, आंखें कोमल, भूरी, काली, नीली, आसमानी—सभी रंग की। बाल अधिकतर

लम्बे होते हैं और बीच से मांग निकाल कर पीछे जूड़े में बंधे होते हैं। लगभग सभी साधारण स्त्रियां बाहर काम करते समय सिर और कन्धों को ऊनी बुने हुए शाल से ढके रहती है। यह ऊन देखने में कश्मीरी शाहतूश जैसा होता है।

इसके बाद मेरी पहचान एक पत्रकार स्त्री से हुई जो रूसी से वैज्ञानिक तथा साहित्यिक सामग्री का अंग्रेजी में अनुवाद करके जीविका कमाती है। सौभाग्य से इसे वाण्डुंग कान्फ्रेन्स में जाने का अवसर मिल गया और लौटती बार वह भारत की भी सैर कर आई। इसके माता-पिता जीवित हैं और यह मास्को में अपनी दो पुत्रियों के साथ रहती है। इन पुत्रियों का पिता अफ्रीका का नीग्रो था। परन्तु उसके परिवार तथा इष्ट मित्रों में किसी को इस बात का ध्यान भी नहीं आता। प्रत्येक रूसी स्त्री को देश को कम से कम तीन संतान भेंट करने का नियम है। इस स्त्री को तीसरी संतान के अभाव में टैक्स देना पड़ता था। निःसंतान स्त्री-पुरुषों को अपनी आय का ६ प्रतिशत टैक्स के रूप में देना पड़ता है। बड़ी लड़की बैले डान्सर है और विवाहित है, तथा छोटी इंजीनियरी पढ़ रही है। रूस में नौकर बहुत कम हैं और जो हैं भी वे बहुत महंगे हैं। इस पत्रकार स्त्री के घर में सप्ताह में दो बार थोड़ी-सी सफाई करने के लिए एक स्त्री आती है, बाकी घर का काम वह स्वयं करती है। रसोई घर में गैस है, जो बहुत ही आसानी और कम खर्च में खाना बनाने में सहायता देती है, तथा नलों में ठण्डा और गर्म पानी बराबर चलता है। सप्ताह में दो-तीन बार यह स्त्री नाटक, बैले अथवा किसी प्रकार की कलात्मक प्रदर्शनी देखने जाती है। उसका घर उसकी इंजीनियरी पढ़ने वाली लड़की के युवा मित्रों से भरा रहता है, और अकसर साथ बैठ कर खाने-पीने के लिए ये लोग समय निकाल लेते हैं।

जैसे-जैसे इस देश के विषय में मेरा ज्ञान बढ़ता गया, मुझे ज्ञात हुआ कि यहां शिक्षकों और डाक्टरों में अधिकतर स्त्रियां हैं। स्त्रियां केवल औरतों के ही रोगों का इलाज नहीं करती हैं वरन् जनरल प्रैक्टिस करती हैं। सोवियत संघ में जनता की स्वास्थ्य रक्षा और शिक्षा का प्रबन्ध सरकार की ओर से किया गया है। सात वर्ष से ले कर १७ वर्ष तक की अवस्था तक प्रत्येक लड़के-लड़की के लिए शिक्षा अनिवार्य है और दोनों एक प्रकार के स्कूलों में एक ही विषय पढ़ते हैं। प्रत्येक स्कूल में ऊपर की तीन-चार कक्षाओं में टेकनीकल और व्यावसायिक शिक्षा दी जाती है क्योंकि दसवीं कक्षा पास करने के बाद लड़के-लड़कियां सीधे फैक्टरी, कलखोज या किसी व्यवसाय में काम करने लग जाते है।

आज के रूस में स्त्रियों की शक्ति महान है। यह तो आप को ज्ञात ही होगा कि सोवियत संघ में बेकारी बिलकुल नहीं है। सब व्यवसायों में काम करने वालों में लगभग ४५ प्रतिशत स्त्रियां हैं। लगभग १० लाख स्त्रियों को सरकार की ओर से उपाधि, वृत्ति और पदक के रूप में सम्मान प्राप्त हो चुका है। स्त्रियों को समान काम के लिए समान वेतन मिलता है और स्त्री होने के कारण उन्हें काम करने अथवा देश के जीवन के किसी भी क्षेत्र में भाग लेने से वंचित नहीं किया जा सकता। गर्भवती तथा दूध पिलाती स्त्रियों को काम देने से इनकार नहीं किया जा सकता, न ही उनकी दशा के कारण उनके वेतन में कमी की जा सकती है, उलटे प्रत्येक फैक्टरी और व्यावसायिक केन्द्र में स्त्रियों के आराम के लिए कमरे बने हुए है। उन्हें समय-समय पर बालक को दूध पिलाने के लिए छुट्टी मिलती है और काम के स्थान के पास ही शिशु सदन बने हुए हैं जहां काम करते समय वे बच्चों को छोड़ सकती है। मैंने स्वयं जा कर इन शिशु सदनों को देखा है। सफाई तथा शिक्षित कर्मचारियों द्वारा बच्चों की देखभाल का यहां पूरा प्रबन्ध है। बच्चे स्वस्थ तथा प्रसन्न रहते हैं।

प्रसव के समय प्रत्येक काम करने वाली स्त्री को ११२ दिन की छुट्टी वेतन सहित मिलती है और कलखोजों में उस वेतन का कुछ भाग संतान के लिए तैयारी करने के लिए मिल जाता है। नगरों में और लगभग सब गांवों में संतान प्रसव का प्रबन्ध अस्पतालों में हो गया है, और माताओं को मनोवैज्ञानिक प्रेरणा द्वारा बिना दवाई सुंघाए पीड़ा रहित प्रसव कराया जाता है।

मास्को में अन्तर्राष्ट्रीय स्त्री सेमिनार के अवसर पर विदेशों से लगभग सौ प्रमुख स्त्रियों ने भाग लिया था। सेमिनार में हज़ारों प्रश्न पूछे गए और सोवियत महिला सभा की सदस्याओं ने सबका धीरतापूर्वक उत्तर दिया। यह भी पूछा गया कि विवाहित होने और घर में संतान का भार होने पर भी सोवियत स्त्रियां क्यों बाहर काम करती हैं? इसका कारण यह बताया गया था कि क्रान्ति के बाद से अब तक स्त्रियां अपने राष्ट्र के निर्माण कार्य में लगी हुई हैं और पुरुषों के साथ-साथ वे देश के निर्माण में स्वयं अपने हिस्से का भी काम करना चाहती हैं। सोवियत संघ में यह अनुभव किया गया है कि जब से स्त्रियां घरों से बाहर काम करने लगी हैं, तब से उन्नति की गति बढ़ गई है और यदि स्त्रियां काम करना बन्द कर दें तो यहां का जीवन-स्तर गिर जाएगा। क्रान्ति से पहले यहां की स्त्रियों की बहुत बुरी दशा थी, उन्हें मनुष्योचित कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं था। क्रान्ति के बाद स्त्रियों को शिक्षा, विवाह और व्यक्तिगत मामलों में पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। विवाह की आयु १८ वर्ष निर्धारित कर दी गई और केवल कोर्ट में रजिस्ट्री किए हुए सिविल विवाह ही कानूनी समझे गए। तलाक की आवश्यकता को भी स्वीकार किया गया, परन्तु वास्तव में इसके नियम कठिन बना दिए गए। विवाह की रजिस्ट्री में कुल १५ रूबल खर्च होते हैं, परन्तु तलाक पूरा कराने में ५०० से अधिक खर्च हो जाते हैं तथा एक सामाजिक समझौते को तोड़ने के अपराध में जुरमाना अलग भरना पड़ता है। तलाक जल्दी नहीं मिलता, कोर्ट पति-पत्नी की आपस में सुलह कराने का कई बार प्रयत्न करता है।

स्त्रियों के सम्बन्ध में सोवियत कानून का ध्येय हर प्रकार से स्त्री के चरित्र, आत्माभिमान और उसके मातृत्व के अधिकार की रक्षा करना है। इसलिए कानून की तरफ से गर्भवती स्त्रियों, अधिक संतान वाली माताओं और अविवाहित माताओं को सरकार से वृत्ति मिलती है। सम्भव है कुछ धर्मान्ध पाखण्डी लोग इसे समाज का नैतिक अधःपतन समझें। परन्तु आदर्श के पालन में यथार्थ की ओर से आंखें बन्द नहीं की जा सकतीं। माता और उसकी संतान को समाज में सबसे ऊंचा स्थान दिया गया है। सिद्धान्त यह माना गया है कि हर सूरत में पारिवारिक स्थिति अथवा झगड़ों के कारण बालक को हानि न पहुंचे। अविवाहित माताओं की संतान का प्रश्न अनादि काल से चला आ रहा है। हमारे देश में कुछ सोच-विचार कर ही इस प्रश्न को हल किया गया था। कुन्ती का आदर किसी प्रकार गान्धारी से कम नही था और न ही कर्ण को उसके अज्ञात पितृत्व के लिए समाज द्वारा किसी रूप में पीड़ित किया गया। परन्तु आधुनिक समय में संसार के सभी देशों में इस प्रकार की संतान को दोगला आदि कह कर अपमानित किया जाता है और उसकी अभागी माता के सामने हर तरह की मुश्किलें लाई जाती हैं जिसस उसका और संतान का जीवन दूभर हो उठे और वे इच्छा न रहते हुए भी पाप और अपराध के अंधे कुएं में गिर पड़ें। यदि मेरा अनुमान ठीक है तो सोवियत संघ वह पहला महान देश है जहां इस प्रश्न को समाज और कानून की दृष्टि से हल कर लिया गया है। बालक के जन्म के समय उसकी माता का नाम सर्टिफिकेट में लिखा जाता है, यह जानना अनिवार्य नहीं है कि उसका पिता कौन है। फलस्वरूप कानून की दष्टि में सब बालक सोवियत

रूस के बच्चे हैं और उनमें उनकी माता के विवाहित अथवा अविवाहित होने के कारण भेद नहीं किया जाता है।

जो कुछ पहले कहा गया है उसके बावजूद सोवियत संघ मे पारिवारिक जीवन बड़ी पक्की बुनियाद पर है। अधिकांश लोग विवाहित हैं और अपने परिवार के साथ सुखी जीवन व्यतीत करते है। सोवियत जन बच्चों से बहुत प्रेम करते है और हर प्रकार से उनकी इच्छाएं पूरी करने का प्रयत्न करते है। बच्चों के लिए विशेष थियेटर, सिनेमा और पुतली घर हैं, बड़ी से बड़ी बेलेरीना बच्चों के लिए रविवार को प्रोग्राम उपस्थित करती है, और रोज रेडियो तथा टेलीविजन पर बच्चो का प्रोग्राम होता है। यहां बूढ़ों के लिए भी बहुत आदर और प्रेम हैं। लगभग प्रत्येक घर मे, जहां मां काम करने जाती है, छोटे बालकों की देखरेख 'बाबुष्का' अथवा बूढी नानी या दादी करती है। जवान लड़के-लड़कियां भी जी-जान मे बाबुष्का की सेवा करते है। आस्ट्रेलिया और इंग्लैंड में रहने के बाद वहां के प्रौढ लोगो का अकेलापन और दुर्दशा देख कर मुझे रूसी लोगों का बूढ़ों के प्रति प्रेम देख कर अच्छा लगा। यहां बुढ़ापे मे कोई यह नही अनुभव करता कि मेरे बेटे-बेटी को अब मेरी जरूरत नही रही। एक और बात जो मैने यहा देखी और जिसे कहना मै बहुत जरूरी समझती हूं यह है कि यूरोप के सभी सभ्य देशों में युवा स्त्री-पुरुषों का आपस में व्यवहार सड़कों पर, बस, ट्राम, सिनेमा, थियेटर आदि आम खुली जगहों पर अधिकतर अभद्र हो जाता है। परन्तु सोवियत संघ के किसी नगर में खुली जगहों पर युवा स्त्री-पुरुषो का अभद्र व्यवहार नही देखा जाता। कम्यूनिस्ट और अनीश्वरवादी होते हुए भी इन लोगों का नैतिक और आध्यात्मिक स्तर बहुत ऊंचा है।

यह तो मै पहले ही कह चुकी हूं कि रूस में स्त्रियां प्रत्येक कार्य करती हैं। वे इंजीनियर, टेक्नीशियन, बस ड्राइवर, फैक्टरी वर्कर, ट्रैक्टर ड्राइवर आदि सब कुछ है। डाक्टरों, शिक्षकों और न्यायाधीशो मे स्त्रियों की संख्या ७०—८० प्रतिशत तक है। इसके अलावा राजनीतिक क्षेत्र तथा ऊंची और जिम्मेदार जगहों पर भी स्त्रियों की संख्या कम नही है।

अन्त मे मैं कुछ शब्द यहां की कलाकार स्त्रियों के विषय में कहना चाहूंगी। कला के क्षेत्र में यहां स्त्रियों ने ऊंचा स्थान प्राप्त कर लिया है और आर्थिक लाभ के साथ-साथ उन्हें जनता का प्रेम और आदर भी प्राप्त है। थियेटर में गालीना उलानोवा, ओल्गा लिपिशिन्स्काया, माया प्लिसेन्स्काया अथवा रईसा स्त्रुचकोवा की जीवित कला की अभिव्यंजन एक चिरस्मरणीय अनुभव है। माया प्लिसेन्स्काया भारत हो आई हैं। छोटे-से दो कमरों के फ्लैट में यह महान कलाकार साधारण जीवन व्यतीत करती है तथा बनाव, नखरे अथवा अधिक रुपये से होने वाले राजसी ठाठ आदि वहां कुछ नही है। उससे मिल कर ऐसा लगता है जैसे कला के किसी सरल तपस्वी से भेंट कर रहे हों। उजबेकी अभिनेत्री इशान्तुरोवा से मेरी भेंट तब हुई जब वह उजबेकी कलाकारों को ले कर मास्को आई। उसने टैगोर की कृति 'नौका डूबी' को 'गंगा की पुत्री' नाम से सुन्दर नाटक का रूप दिया है।

एक और स्त्री का वर्णन किए बिना मै नहीं रह सकती, वह है ल्यूबोव कॉस्मोदेम्यान्स्काया, जिसे सब 'मात जोया' कहते हैं। साठ वर्ष की यह हृष्ट-पुष्ट लम्बी सुघड़ स्त्री अकसर बड़ी पीढ़ियों में दिखाई देती हैं। उसके सौम्य सुन्दर चेहरे और शात-गम्भीर मस्तक को देख कर कौन कह सकता है कि उसके अन्दर इतना तूफ़ान भरा होगा। द्वितीय महायुद्ध के जमाने में उसके पति की मृत्यु हो गई और जर्मनों ने मास्को के निकट एक गांव में काम करती हुई उसकी नौजवान १६ वर्षीया पुत्री जोया को किस तरह पकड़ कर एक रात में असह्य यन्त्रणा देने के बाद अगले दिन नंगे बदन भरी सरदी की बर्फ पर नंगे पैर नगर में

घुमाया और अन्त में तख्ते पर उसे जीवित टांग उसके अंगों को काट कर फांसी चढ़ा दिया—इस कहानी को सोवियत संघ का बच्चा-बच्चा जानता है। ज़ोया के इस अमर बलिदान ने सोवियत जनता की आंखें खोल दीं। वे जी-जान से नाज़ी शत्रु से भिड़ गए और उसे परास्त करके ही छोड़ा। ज़ोया का शूरवीर भाई शूरा भी युद्ध के मोरचे पर लड़ाई में मारा गया।

वास्तव में ल्यूबोव कॉस्मोदेम्यान्स्काया का माता होना सफल हो गया। ज़ोया और शूरा के बलिदान के बाद सारे देश की माताओं ने अपने बच्चे उसको भेंट चढ़ाए और सैकड़ों बालकों ने इसे माता सम्बोधन कर पत्र लिखे। वह स्कूल जिसमें ज़ोया पढ़ती थी, मास्को में उसके नाम से विख्यात हुआ और उस स्थान पर जहां क्रूर जर्मनों द्वारा उसकी हत्या हुई थी, उसका पत्थर का स्मारक बनाया गया जहां देश-विदेश से आने वाले यात्री अपनी श्रद्धांजलि भेंट करते हैं। सोवियत् कवयित्री मार्गरीता अलिगे ने अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति 'ज़ोया' (१९४२) में भी इसी वीर लड़की का यश गाया है।

मेरे विचार में सोवियत स्त्री के जननी और माता रूप का चरम सक्रिय विकास ज़ोया और शूरा की माता कॉस्मोदेम्यान्स्काया के रूप में हुआ है। उसने वीर प्रसविनी नाम को सार्थक कर दिया। मुझे इस बात का सुख और अभिमान है कि रूस में मैं इस स्त्री से मिल सकी और उसका परिचय और मित्रता प्राप्त कर सकी।

—दिल्ली से प्रसारित

वैरी सारी

मन्मथनाथ गुप्त



वात ब्रिटिश युग की है जव हम पराधीन थे ।

जव रामरतन टहल कर घर लौटा, तो उसे एक मोटा-सा लिफ़ाफ़ा मिला, जिसस उसे बड़ा आश्चर्य हुआ । वात यह है कि उसे घर के पते पर पत्र लिखने वाले कुछ इने-गिने लोग ही थे, और भाग्य से उनमें सवके सव इस समय यहीं मौजूद थे । उमने हस्तलिपि पहचानने की चेष्टा की, पर असफल रहा ।

उसने लिफ़ाफ़ा खोला तो ज्ञात हुआ कि यह उसके किसी समय के घनिष्ठ मित्र श्यामाचरण का पत्र था । वहुत दिनों से उसकी कोई खवर नहीं मिली थी, और यह पता नहीं था कि वह कहां है और क्या कर रहा है, यानी जहां था वहीं है, या कहीं चला गया ।

आज एकाएक ऐसी क्या वात हो गई कि उसे वर्षो का मौन भंग कर पत्र लिखना पड़ा। रामरतन ने पत्र को वड़े चाव से पढा, तो पता चला कि श्यामाचरण जहां था वहीं है । हां, कुछ तरक्की हुई है । पहले एक पत्र का उप-सम्पादक था, अव सहकारी सम्पादक है । लिखा था कि वेतन अच्छा मिलता है । पढ़ कर रामरतन ने मुह वनाया कि भला हिन्दी दैनिक पत्र के सम्पादक को क्या मिलता होगा । वात यह है कि रामरतन वचपन मे ही नौकरी करने का स्वप्न देखता था । वी० ए० पास करते ही उसे अपनी मनचाही नौकरी मिल गई थी, और अव वह उठते-पड़ते, घिसलाते-घिसलाते करीव-करीव एडवाइजर वन गया था, यानी वनने में कुछ ही दिन थे । इसी कारण वह अपने मित्रों में से अध्यापकों तथा सम्पादकों आदि को निम्न कोटि का जीव समझता था ।

अपनी खवर देने के अतिरिक्त श्यामाचरण ने जो काम की बात लिखी थी, वह इस प्रकार थी—रजनी नाम से उसकी एक कन्या थी, जो विवाह योग्य हो गई थी । उसका यह कहना था कि रामरतन उसे देख चुका है । तव वह वहुत छोटी थी । रामरतन ने अपने दिमाग पर वहुतेरा जोर मारा, पर स्मृति-पटल पर उदित होने वाली आठ-नौ वर्ष की सैकड़ों लड़कियों में से वह रजनी को अलग नहीं कर सका । उसने हिसाव लगा कर देखा था कि आजकल अठारह से कम उम्र की लड़की विवाह योग्य नहीं समझी जाती और नौ वर्ष पहले श्यामाचरण के घर पर वह गया था, इसलिए लड़की की उम्र उस समय लगभग नौ वर्ष की होगी ।

यह सोच कर कि श्यामाचरण की लड़की अव विवाह योग्य हो चुकी है और वह अभी तक कुंवारे का कुंवारा ही रह गया, उसके मन में एक अजीव-सी अनुभूति हुई, जिसका एक छोर व्यंग्य स जा कर मिलता था और दूसरा छोर खीझ मे । उसमे यह प्रार्थना की गई थी

कि वह एक लड़के के सम्बन्ध में जांच करके पूरा हाल लिखे। इस लड़के से श्यामाचरण की लड़की के विवाह की बातचीत चल रही थी।

लड़के का नाम रमेश था। बताया गया है कि वह किसी सरकारी दफ्तर में नौकरी करता है। उम्र २६ के लगभग बताई गई है। यह कहा गया है कि यों तो वह भी क्लर्क ही है, पर तरक्की की सम्भावनाएं अच्छी हैं। पत्र में लड़के के घर का पता भी दिया गया था, पर उसमें एक ऐसे मुहल्ले का नाम दिया गया था, जिसमें गत बीस साल से दिल्ली में रहते हुए भी रामरतन को जाने का मौका नहीं लगा था।

रामरतन ने जल्दी-जल्दी चाय पी और अपने नौकर से पूछा—तुम कभी बांसमण्डी गए हो?

नौकर बोला—मैं कभी गया तो नहीं, पर साहब हुक्म दें, तो जा सकता हूं।

न मालूम क्यों, रामरतन को यह उत्तर नहीं जंचा। उसने फिर इस सम्बन्ध में कोई बात नहीं कही। फिर यह नौकर का काम भी नहीं था। श्यामाचरण ने अपने पत्र में कई बार यह चेतावनी दी थी कि खबर गुप्त रूप से प्राप्त की जाए, किसी को कानों-कान पता न लगने पावे।

पर रामरतन यह सोच नहीं पाया कि मान लो उस पते पर वह पहुंच भी जाए, तो वह रमेश के सम्बन्ध में पता कैसे लगाएगा? और पता भी किन बातों का खासकर लगाना है कि उसका स्वभाव-चरित्र कैसा है, और उसकी आमदनी कितनी है, नौकरी में तरक्की की क्या गुंजाइश है, इत्यादि। तो क्या वह जा कर रमेश से पूछे—महाशय, आप की आमदनी क्या है, आप किस दफ्तर में काम करते हैं, इत्यादि। खैर, ये प्रश्न किसी रूप में बेशर्मी पर उतर कर पूछे भी जा सकते हैं, लोग ऐसे प्रश्न बराबर पूछा ही करते हैं, भले ही यह शिष्टाचार के विरुद्ध हो। पर स्वभाव और चरित्र के विषय में कैसे पता लगेगा?

यह तो हो नहीं सकता कि वह, एक उच्च अधिकारी, आज नहीं कल जिसे उप-सचिव का पद अलंकृत करना है, रमेश नामक अज्ञात कुलशील क्लर्क के पीछे एक खुफ़िया की तरह घूम और पता लगाए कि यह व्यक्ति कैसा है। ये दोस्त भी अजीब-अजीब बातों की फ़र्माइश करते रहते हैं। कोई सेवा लिखते समय यह नहीं सोचते कि जिसे पत्र लिखा जा रहा है, उसकी पद-मर्यादा क्या है, काम उसके लायक है भी या नहीं।

रामरतन कलम उठा कर अपने मित्र को लिखने ही वाला था कि मैं बहुत व्यस्त हूं, दिल्ली में तुम्हारे अनेक मित्र हैं, उनमें से किसी को लिखो, पर किसी के आने की आहट मालूम हुई और सामने से कपिला आती दिखाई पड़ी।

दोनों मिल कर बातें करने लगे। फिर चाय आई, और दफ्तर जाने के समय तक गप्पें होती रहीं। कपिला कभी रामरतन की प्रेमिका रह चुकी थी। तब से रामरतन के जीवन में कई स्त्रियां आ चुकी थीं, कपिला भी विवाह करने के बाद एक शरीफ़ औरत हो चुकी थी।

बातें काफ़ी घुल-घुल कर हुईं। दो एक बार पुराने समय की बात भी उठी, पर बस इतना ही।

जब रामरतन थोड़ी देर के लिए अलग कमरे में जा कर कपड़े पहन कर दफ्तर जाने को तैयार हुआ, तो उसने यों ही पूछा—डार्लिंग, यह तो पता नहीं लगा कि तुम किस कारण आई हो?

कपिला मानो इसी की प्रतीक्षा कर रही थी, बोली—मेरा चचेरा भाई राजीव तुम्हारे दफ्तर में काम करता है···फिर मुसकरा कर बोली—तुम्हीं ने उसे लगाया था। अब सुना है कि असिस्टेंट बनने का एक मौका आया है, तो उसका ज़रा खयाल रखना।

रामरतन बोला—ज़रूर-ज़रूर, पर यह तो उसके लिए हुआ, मेरे लिए क्या हुक्म है?

इस पर कहकहा हुआ, पर कपिला ने कोई उत्तर नहीं दिया। दोनों बाहर निकल गए।

दफ्तर जा कर रामरतन ने सबसे पहले असिस्टेंट बनाने के कागजात तलब किए। जब वह पुलिन्दा आ गया, तो उसे खोलते हुए सामने खड़े बाबू से बोले—राजीव कैसा काम करता है?—कह कर बाबू के मुंह की तरफ देखा।

यह बाबू बहुत पुराने थे, ज़िन्दगी के बहुत-से थपेड़े खा चुके थे। इन दिनों उन्होंने एक और ढंग विकसित किया था। कोई बात पूछी जाती, तो काफ़ी देर ऐसे गला साफ़ करते मानो बात नहीं निकल रही, सिर खुजलाते, फिर बिछी हुई कालीन पर जूते से एक संक्षिप्त-सा नक्शा बनाते, तिस पर भी यदि कहने का मौका आता, तो हिचकिचाहट के साथ कहते—इस पर कई पहलुओं से विचार हो सकता है।

यह बाबू और ऐसे हज़ारों बाबू नौकरशाही और लाल फ़ीते की विशिष्ट उपज थे।

इस मौके पर बाबू को उत्तर देने का अवसर ही नहीं आया क्योंकि रामरतन यह प्रश्न पूछ कर कि राजीव कैसा काम करता है, फौरन ही स्वयं बोले—है तो कम उम्र, पर अपने काम में मुस्तैद रहता है। इसी गुण की बड़ी कमी है।

सामने खड़े बाबू जी पतलून संभालते हुए प्रतिध्वनि की तरह बोले—जी हां, आजकल इसी गुण की बड़ी कमी है। हमारे जमाने में सभी नौजवान अपने काम में बड़े मुस्तैद रहते थे।

रामरतन यह तय तो कर ही चुके थे कि किसे तरक्की देनी है, पर कागज़ देखने थे, कुछ खानापुरी करनी थी, इसलिए वे पूरी फ़ाइल उलटने-पलटने लगे। एकाएक उनकी आंख रमेश नाम पर पड़ी। वे चौकन्ने हो गए। ऐसा मालूम हुआ कि यह नाम कुछ परिचित-सा है। कुछ देर सोचने पर सवेरे आए हुए पत्र की याद आई। पर रमेश सैकड़ों हैं। इसी दफ्तर में चार-छः होंगे।

फिर भी उन्होंने अधेड़ बाबू जी से पूछा—यह रमेश कहां रहता है जी?

बाबू जी के कोश में 'मालूम नहीं' ये शब्द नहीं थे। बड़े अफ़सर के सामने वे कैसे कहते—मुझे मालूम नहीं।

वे सकपकाए, उनके रक्तहीन चेहरे पर जो बचा-खुचा रक्त था, वह कई बार आया और गया। घबड़ाहट में केवल उनसे इतना कहा गया—मैं अभी रमेश को बुलाता हूं।

रामरतन जल्दी में समझ नहीं पाए कि क्या करना चाहिए। बोले—जल्दी बुलाओ।

भागते-दौड़ते बूढ़े बाबू जी रमेश को बुलाने गए और दो मिनट के अन्दर ही उसे ले कर उपस्थित हो गए। रामरतन उर्फ़ आर० आर० (दफ्तर में वे इसी नाम से परिचित थे) ने रमेश को सिर से पैर तक देखा और पूछा—आप कहां रहते हैं?

रमेश मन ही मन घबड़ा रहा था कि न जाने क्या बात है इस प्रश्न से और भी सकुचा गया। बोला—मैं अपने मामा के यहां रहता हूं।

आर० आर० बहुत रुष्ट हुए। बोले—मैं मामा-चाचा नहीं पूछ रहा हूं, यह बताइए कि आप रहते किस मोहल्ले में है?

रमेश अब तक यह नहीं समझ पाया था कि यह प्रश्न क्यों पूछा जा रहा है, इसलिए वह कोई उत्तर न दे सका था। पर अब बताना ज़रूरी था। उसने अंधेरे में छलांग-सी भरते हुए कहा—मैं इस समय बांसमण्डी में रहता हूं।

रामरतन मन ही मन इस पर बहुत ही खुश हुए, पर ऊपर से बेरुखी दिखलाते हुए अंग्रेजी में बोले—थैंक यू........

रमेश चला गया। बूढ़े बाबू समझ नहीं पाए कि इस प्रश्न का क्या अर्थ था, इससे वह अपने ऊपर कुछ असन्तुष्ट हुए क्योंकि यदि अफसरों के मन की बात नहीं ताड़ पाए, तो फिर तजुर्बा किस बात का है? वे दो-एक कदम आगे-पीछे चले और समझ नहीं पाए कि साहब से कुछ पूछना चाहिए, चल देना चाहिए या यों ही बुत की तरह खड़े रहना चाहिए।

उधर आर० आर० बूढ़े बाबू का अस्तित्व सम्पूर्ण रूप से भूल गए और जल्दी-जल्दी बीसेक पंक्तियां लिख गए।

उस दिन संध्या समय उन्होंने अपने मित्र को लिख दिया कि लड़का बहुत अच्छा है, वह क्लर्क नहीं, उससे एक दर्जा ऊंचे है, दसेक साल में अफ़सर बन जाएगा। उधर जब रात के समय कपिला का टेलीफ़ोन आया, तो उन्होंने सफ़ेद झूठ बोलते हुए कहा—उस पद पर पहले ही नियुक्ति हो चुकी थी। तुमने मुझसे पहले क्यों नहीं कहा, डार्लिंग! वैरी सारी।

—दिल्ली से प्रसारित

रंगमंच के उपयुक्त नाटकों का अभाव

रामचन्द्र टंडन : नेमिचन्द्र जैन



टंडन : नमि जी, आपका तो हमारी संगीत नाटक अकादेमी से सम्बन्ध है और भारतीय रंगमंच के विषय में आपकी खासी जानकारी है। क्या आपको यह बात नहीं खटकी है कि हमारे यहा नाट्य मंच की सीमित सफलता के अनेक कारणों में एक कारण यह भी है कि हमारे यहां ऐसे नाटकों का टोटा है जो आधुनिक मंच पर सफलता के साथ प्रस्तुत किए जा सकें ?

नेमि : आप ठीक कहते है, टंडन जी। इस देश के रंगमच की गतिविधि से जिनका तनिक भी सम्पर्क है, वे सभी इस बात से सहमत होंगे कि अभिनय के उपयुक्त नाटकों का अभाव आज एक वडी भारी समस्या है। लगभग सभी भाषाओं में यह कमी अनुभव की जाती है कि ऐसे नाटक आज बहुत कम लिखे जा रहे है जिनका साहित्यिक-कलात्मक स्तर भी ऊंचा हो और साथ ही जिनमे नाटकीय तत्व भी पर्याप्त मात्रा में हो। आप जानते है, टंडन जी, कि किसी भी जीवित रंगमंच का काम केवल पुराने लिखे नाटकों से नही चल सकता, क्योकि अपने समकालीन और युगीन भाव जगत स कट कर रंगमंच निष्प्राण हो जाता है। वह एक से अधिक अर्थो में किसी युग के भावात्मक और भौतिक दोनों स्तर पर सामूहिक जीवन को अभिव्यक्त करता है। इसीलिए समृद्ध से समृद्ध भाषा में भी यदि समर्थ नाटककार नवीनतम रचनाओं द्वारा रंगमंच का पोषण न करते रहे तो उसका ह्रास होने लगता है अथवा एक प्रकार के ठहराव से उसमे विकृति आ जाती है।

इसीलिए देश के रंगमंच के वर्तमान उत्थान के इस युग में नाटकों की कमी एक वड़ी भारी जंजीर वनी हुई है और उसका कुछ न कुछ उपाय एक सर्वथा मूल-भूत और तात्कालिक आवश्यकता है।

टंडन : क्षमा करे, नेमि जी, आपकी बात काटनी पड़ती है। मेरा ध्यान इस समय विशेपकर हिन्दी रगमच के उपयुक्त नाटको की कमी की ओर था।

नेमि : भारतीय भापाओं में ही क्या, हिन्दी मे भी नाटकों की यह कमी कितनी अधिक है और प्राप्य नाटक कितने दुर्वल है, इसका कुछ-कुछ अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि पिछले एक वर्ष में राजधानी में खेले जाने वाले नाटको मे सर्वश्रेष्ठ-प्रदर्शन अंग्रेज़ी नाटको के ही थे और स्थानीय नाटक समारोह में सर्वश्रेष्ठ नाटक के पुरस्कार के अतिरिक्त अन्य कई एक पुरस्कार भी अंग्रेज़ी नाटकों को ही मिले।

बाहर से आने वाली मण्डलियों में भी उच्च कोटि के प्रदर्शन अधिकतर अंग्रेजी में ही थे ।

टंडन : तो आपकी राय में इस समस्या का हल कैसे किया जा सकता है ?

नेमि : टंडन जी, यदि सक्रिय व्यवसायी रंगमंच किसी भाषा में जीवित हो तो उसके लिए इस समस्या का समाधान अपेक्षाकृत सरल है । व्यवसायी मण्डली आसानी से किसी प्रतिष्ठित अथवा प्रतिभावान नवोदित नाटककार को अपने साथ सम्बद्ध कर सकती है और उससे अपने साधनों तथा अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप नाटक लिखवा सकती है । सक्रिय रंगमंच के ऐसे घनिष्ठ और प्रत्यक्ष अनुभव से, अभिनेताओं और निदेशक के निरन्तर सम्पर्क से, और नाटक लिखने की तात्कालिक आवश्यकता से प्रेरित हो कर नाटककार थोड़े-बहुत अभ्यास, प्रयत्न और प्रारम्भिक असफलताओं के बाद मण्डली-विशेष के उपयुक्त नाटक लिखने में सफल हो जाता है और फिर क्रमशः एक ऐसी दृष्टि उसे प्राप्त हो जाती है कि जिससे वह एक से अधिक रचनाएं प्रस्तुत कर पाता है ।

टंडन : किन्तु व्यवसायी रंगमंच इस समय हिन्दी में देखने में कहां आते हैं ?

नेमि : हां, दुर्भाग्यवश हमारे देश में अभी व्यवसायी रंगमंच का ही बोलबाला है । जहां एक ओर नाटक में रुचि तथा एक शिक्षित प्रेक्षक वर्ग तैयार करने में अव्यवसायी रंगमंच का महत्व बहुत भारी है, वहां निश्चित रूप से विकास की एक ऐसी स्थिति भी अवश्य आती है, जब व्यवसायी मण्डलियों की स्थापना के बिना रंगमंच का आगे विकास असंभव हो जाता है । टंडन जी, आज हमारा रंगमंच बहुत कुछ इसी अवस्था में है । नाटकों की कमी को दूर करने का भी स्थायी उपाय अन्ततः ऐसी व्यवसायी कम्पनियों की स्थापना ही है जो नाटककार को इस प्रकार की प्रेरणा दे सकने में समर्थ हों ।

टंडन : जब तक व्यवसायी कम्पनियां अस्तित्व में नही आती है, तब तक क्या स्थिति निराशाजनक ही रहेगी ? आप प्रकाश की क्या कोई किरण नही देखते ?

नेमि : टंडन जी, मै ऐसा निराशावादी नहीं हूं । इन समस्त कठिनाइयों के बावजूद हमारे रंगमंच से पिछले दिनों में कुछेक ऐसी प्रवृत्तियां उभर कर सामने आई है जो इस समस्या का हल करने का सही रास्ता दिखाती है । उदाहरण के लिए, पिछले दिनों संस्कृत नाटकों के रूपान्तर विभिन्न भाषाओं में प्रस्तुत करने के प्रयत्न हुए है । संस्कृत नाटक साहित्य एक ऐसा अगाध भण्डार है जिससे हमारा आज का रंगमंच बहुत कुछ प्राप्त कर सकता है, और यदि उसे सही दिशा में विकास करना है तो यह सहारा बहुत ही आवश्यक भी है । पिछले दिनों 'मृच्छकटिक', 'स्वप्नवासवदत्ता', 'रत्नावली', 'चारुदत्त' आदि कई नाटकों के रूपान्तर रंगमंच पर खेले गए हैं ।

टंडन : लेकिन क्या हम अन्य भाषाओं के सफल नाटकों के हिन्दी रूपान्तर नहीं प्रस्तुत कर सकते ?

नेमि : क्यों नहीं, टंडन जी ! इसी प्रकार कुछ-कुछ विदेशों के सफल नाटकों के अनुवाद अथवा रूपान्तर भी भारतीय भाषाओं में कई स्थानों पर हो रहे है, यद्यपि यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसका अभी बहुत कुछ उपयोग किया जा सकता है और हमारे रंगमंच के निदेशकों को इस ओर तुरन्त ध्यान देना चाहिए । सभी देशों में तथा भाषाओं में रंगमंच के विकास और उत्थान के युग व्यापक रूप में विदेशी नाटकों के अनुवादों

तथा रूपान्तरों के युग भी रहे हैं। हमारे ही देश में एक ज़माने मे बंगला, मराठी, गुजराती और कन्नड़ भाषाओं के रंगमंच पर खेलने के लिए विदेशी नाटकों के अनुवाद धड़ल्ले से हुए और इस कार्य ने अनिवार्य रूप से मौलिक नाटकों की रचना में बड़ी प्रेरणा और सहायता पहुंचाई। हिन्दी में ही भारतेन्दु ने मौलिक नाटक लिखने के साथ-साथ अंग्रेजी और बंगला दोनों से नाटक अनुवादित किए। आज यह प्रक्रिया बहुत ही व्यापक रूप में और शीघ्रता के साथ होनी आवश्यक है। शेक्सपियर, मोलियेर, इब्सन, चेखव, गाल्सवर्दी इत्यादि की रचनाओं के अतिरिक्त बहुत-से ऐसे समकालीन नाटक सभी देशों में लिखे जा रहे हैं जिनके रूपान्तर थोड़े-बहुत हेरफेर के साथ हमारे देश की परिस्थितियों के बहुत अनुकूल हो सकते हैं। हमारे बहुत-से नए नाटककार इस प्रयत्न से बहुत-कुछ सीख सकते हैं और रंगमंच की तात्कालिक समस्या सुलझाने के साथ-साथ इस भांति मौलिक नाटक लिखने के लिए भी प्रशिक्षण प्राप्त कर सकते हैं।

टंडन : विदेशी नाटकों को ही क्या, हम अन्य भारतीय भाषाओं के नाटकों को भी हिन्दी म ला सकते है, नेमि जी।

नेमि : टंडन जी, बहुत-सा अनुवाद भारत की विभिन्न भाषाओं से भी निश्चय ही हो सकता है। बंगला से तो हिन्दी में बहुत-कुछ अनुवाद हुआ भी है। इधर पिछले दिनों मराठी से भी कुछेक नाटक हिन्दी में अनुवादित हुए हैं। इसी प्रकार गुजराती तथा कन्नड़ आदि भाषाओं के नाटक भी हिन्दी में अनुवादित हो सकते हैं जो अधिक परिवर्तन के बिना ही सीधे-सीधे खेले जा सकेंगे।

टंडन : नेमि जी, एक बात और बतावें। अन्य भाषाओं के नाटकों के रूपान्तर तो हो ही सकते हैं। क्या हम हिन्दी के तथा अन्य भाषाओं के उपन्यासों के नाटकीय रूपान्तर से अपने इस अभाव की पूर्ति नही कर सकते? आप जानते ही हैं कि प्रेमचंद के 'गोदान' के मुख्य पात्र होरी के नाम पर यहां एक नाटक बहुत सफलता से प्रस्तुत हुआ था।

नेमि : अवश्य। एक प्रवृत्ति सफल उपन्यासों और कहानियों के नाट्य-रूपान्तर तैयार करने की भी है, यद्यपि यह अपेक्षाकृत कुछ अधिक कठिन भी है और गलत दिशा में ले जाने वाली भी। बंगला मे शरत चन्द्र की प्रायः सभी कहानियों और उपन्यासों के नाट्य-रूपान्तर हुए हैं। पर वे सभी सफल हों, ऐसा नही हैं। यह प्रायः देखा गया है कि रूपान्तरकार के लिए उपन्यास अथवा कहानी की रचना अथवा उसके संवादो से बच कर कथा के मूल नाटकीय तत्व और स्थलों पर अपनी दृष्टि जमाए रखना कठिन हो जाता है। फलस्वरूप तैयार होने वाले नाटक भी बहुत बार संवादबद्ध उपन्यास अथवा कहानी मात्र बने रह जाते हैं। टंडन जी, प्रायः ऐसे रूपान्तर, विशेषकर उपन्यासों के रूपान्तर इतने लम्बे होते हैं कि उन्हें समूचा प्रस्तुत करने के लिए पांच-छः घंटे तक का समय चाहिए। इन्ही सब कारणों से नाटक तैयार करने का यह उपाय अधिक विश्वसनीय नहीं है और इसलिए अपवादस्वरूप ही व्यवहार में लाया जाना चाहिए।

टंडन : धन्यवाद। तरुण नाटककारों के लिए क्या आपके कुछ परामर्श है?

नेमि : टंडन जी, यह दोहराना आवश्यक है कि नाटकों की कमी को दूर करने के ये सभी उपाय एक प्रकार से मौलिक नाटकों की रचना की तैयारी के रूप में ही ग्रहण किए जाने चाहिएं। यह कार्य तरुण नाटककार के लिए एक प्रकार के व्यावहारिक शिक्षालय का

काम देगा जिसका महत्व अनुभवगम्य ही है। विशेषकर सक्रिय रंगमंच के अभाव में हिन्दी के नाटककार को अथवा रंगमंच के हितकामी व्यक्तियों को तो बेझिझक इस कार्य में जुट पड़ना चाहिए। जैसा अभी मैंने कहा, हिन्दी रंगमंच के लिए यह बहुत ही शुभ लक्षण है कि इस प्रवृत्ति के चिह्न अब हमें दृष्टिगोचर होने लगे हैं।

टंडन : नेमि जी, आपको कष्ट दिया, किन्तु आपने इतनी मतलब की बातें बताईं। बहुत-बहुत धन्यवाद।

—दिल्ली से प्रसारित

तुलसीदास की आत्मकथा

इलाचन्द्र जोशी



आधी रात का समय है। काशी क अस्सी घाट की गुफ़ा क भीतर टिमटिमाते दीए के प्रकाश में अपने पिछले जीवन का लेखा-जोखा करने बैठा हूं। सोच रहा हूं कि कहां से कहां आ कर पहुंचा हूं। जीवन के कितने उतार-चढ़ाव के बीच में हो कर गुजरने के बाद बाबा विश्वनाथ की नगरी में जीवन के अन्तिम दिन बिताने के इरादे से आया हूं। तुलसी गुसाईं होने पर अपने जिन भोंडे दिनों को भूल गया था, आज फिर उन्हीं दिनों की याद में जीना चाहता है।

जन्म से ही राम ने मुझे कैसी कड़ी अग्नि-परीक्षा में डाल दिया था, आज जब यह सोचता हूँ तब हृदय आतंक से सिहर उठता है। मंगनों के कुल में जन्म लिया। जनमते ही मां को परलोक के घाट उतार दिया और पिता से भी अबोधावस्था में नाता टूट गया। इस विराट विश्व में एक छोटा-सा अज्ञात शिशु अनाथ अवस्था में, अत्यन्त उपेक्षणीय और अवांछनीय स्थिति में पड़ा रह गया। आठ-नौ वर्ष की अवस्था में ही मैं अपने पेट की आग बुझाने के लिए स्वयं अपने ही प्रयत्नों पर आश्रित रहने लगा। आत्म-रक्षा के लिए मेरे वे पराक्रम और प्रयत्न केवल इतने ही तक सीमित थे कि घर-घर, दरवाज़े-दरवाज़े भटक कर या तो किसी की जूठन से पेट भरता था या इधर-उधर से मुट्ठी-भर चना जुटा कर उन्हें खा कर अपने को किसी तरह ज़िन्दा रखता था। जीवन का मूल उद्देश्य ही तब मेरे लिए केवल पेट की आग बुझाना था।

इस जन्म के कंगाल में राम की भक्ति के बीज न जाने कहां छिपे थे। और न जाने कितने जन्मों से म इन बीजों को अपने अन्तर में संजोए, बहुरंगी जीवन के अविरल प्रवाह में तिनके की तरह बहता चला आ रहा था। जब कभी कहीं राम की चर्चा की भनक कानों में पड़ती तो सारा अन्तर किसी पूर्व जन्म की रहस-मधुर और करुण-कोमल सुधि से विकल हो उठता। उस अबोध अवस्था में भी मुझे लगता कि जिन यथार्थ परिस्थितियों में मैं जी रहा हूं, वे सब जैसे दुःस्वप्न हैं और वास्तविकता जो है उसे मैं बहुत दूर, पूर्व जन्म के उस पार छोड़ आया हूं।

मुझे बड़े चाव से जूठन खाते देख कर पास-पड़ोस के बच्चे या तो हंसते थे या करुणा और घृणा सनी दृष्टि से मेरी ओर देखते थे। यह देख कर उस छोटी अवस्था में भी मुझे अपने ऊपर दया आती थी। पर मरे चोट खाए हुए मन की वह व्यथित भावना मेरे पेट की आग के ऊपर कभी विजय न पा सकी। कोई मुझे यह सलाह देने वाला न था कि पढ़ना-लिखना सीख ले। मैं सबकी नज़रों में एक घृणित या उपेक्षणीय कीट था, किसी आवारा खजहा कुत्ते का पिल्ला था, जिसके जीने के लिए नाली में पड़ा जूठन का टुकड़ा पर्याप्त था। ऐसे घिनौने जीव को कौन अपने पास बिठा कर पढाने-लिखाने की बात सोचता ? पर अपने आवारागर्दी के चक्करों में मैं जब किसी

कथावाचक को चौपाल में बैठ कर कथा बांचते सुनता, तब पेट की आग को भूल कर अलग एक किनारे अछूतों की तरह दूर खड़े-खड़े तन्मय भाव से सुनता रहता।

उन दिनों मैं सोरों में आवारा कुत्तों की तरह भटक रहा था। आयु नौ या दस साल की रही होगी। बाबा नरसिंह तब पीपल की छाया के नीचे एक चबूतरे पर हनुमान जी की एक मूर्ति के निकट बैठ कर लोगों को राम की कथा सुनाया करते थे। बड़े प्रेम से वह कथा सुनाते थे। उनके मुख पर सच्चे ज्ञान और भक्ति का ऐसा सहृदयतापूर्ण प्रकाश सब समय चमकता रहता था कि चारों ओर के क्रूर और निपट स्वार्थपूर्ण वातावरण के बीच में वह सिवार से घिरे, सुन्दर स्वच्छ कमल की तरह लगते थे।

एक दिन सन्ध्या को जब वह कथा सुना कर घर लौट रहे थे, तब मैंने दोनों हाथों से उनके चरण-कमल पकड़ लिए और उन पर अपना सिर रख दिया। उन्हें अपने को छुड़ाने में कुछ समय लगा, और तब उन्होंने बड़े प्रेम से मेरा हाल पूछा और विस्तार से सुना।

मैंने कहा—"गुरु जी, जैसे भी हो मुझे अपने चरणों का सेवक बनाइए और शिक्षा दीजिए।" मेरे आंसू उनके चरणों को भिगो रहे थे। कैसे पुनीत और पावन रहे होंगे अंतर के भी अंतर से निकले हुए वे आंसू! आज तो जगत के व्यवहारों से मेरा अंतर इस हद तक कड़ा हो चुका है कि विकट से निकले हुए विकट मानसिक पीड़ा में भी इन पथराई आंखों से दो बूंद गीले आंसू नहीं निकल पाते। केवल पत्थर के आंसू निकल कर रह जाते हैं।

मैं अपनी आयु की तुलना में बहुत अधिक अनुभूतिशील था। गुरु जी ने शरण दी और उनकी सेवा करता हुआ मैं पूरी तन्मयता से पढ़ना-लिखना सीखने लगा। दो-चार ही वर्षों में मैंने ऐसी उन्नति कर ली कि गुरु चकित रह गए। सबसे अधिक विस्मय और हर्ष उन्हें उस दिन हुआ जब मैंने दो संस्कृत-श्लोकों के आधार पर हिन्दी में दो छंद रच डाले। वह बार-बार दोनों को पढ़ कर, दोनों की तुलना करते रहे और सहसा मुझे छाती से लगा कर मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए गद्गद कंठ से बोले—"रामबोला, सच मानो, अपने सारे ज्ञान की शपथ खा कर कहता हूं कि तुम्हारा अनुवाद मूल से हजार गुना श्रेष्ठ है। तुम यह काम जारी रखो। तुम्हारे भीतर आश्चर्यजनक प्रतिभा काठ के गर्भ में आग की तरह छिपी पड़ी है। जिस दिन वह सुलग उठेगी, उस दिन उसके प्रकाश से सबकी आंखों में चकाचौंध लग जाएगी, और जन-मन का गहन अंधकार खिसिया उठेगा।"

गुरु जी की बात तब मेरी समझ में आई और मैं अपनी प्रशंसा सुन कर सकुचा कर रह गया। तब से संस्कृत का जो भी श्लोक मुझे पसन्द आता उसका मैं तत्काल भाषा में पद्यानुवाद कर डालता। बीच-बीच में मौलिक रचनाएं भी करता रहता। गुरु जी ने संस्कृत साहित्य के अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों का संग्रह कर रखा था। मेरे हाथ जो भी पुस्तक लगती, मैं उसे पढ़ कर, रट कर, घोट कर चाट डालता। किसी नियम से मैं पुस्तक नहीं पढ़ता था, जो भी हाथ लग जाती उसी के अध्ययन में जुट जाता। बहुत-सी पुस्तकें तो मैं गुरु से चुरा कर पढ़ता—विशेषकर शृंगार साहित्य की पुस्तकें। राम साहित्य में विशेष रुचि होने पर भी मैं सभी विषयों की रचनाओं में रस लेता था।

गुरु जी के आंगन के चौंतरे में तुलसी का एक बिरवा था, जिसकी सेवा करने में मुझे बड़ा सुख मिलता था। मैं नित्य उस पर पानी चढ़ाता, उसकी सूखी पत्तियां झाड़ कर साफ़ करता रहता। वह बिरवा काफी फैल गया था और उसकी गंध से आंगन सब समय महकता रहता था। एक दिन मैं पानी डाल चुकने के बाद बिरवा हिला कर सूखी पत्तियां बटोर कर चौंतरा साफ़ कर रहा था। यह देख कर गुरु जी सहसा बोल उठे—"आज से मैं तुम्हें रामबोला न कह कर तुलसीदास कहूंगा।" और उस दिन से मेरा नाम स्थायी रूप से तुलसीदास हो गया।

कुछ समय बाद गुरु जी की मृत्यु हो गई और मैं फिर यायावर का जीवन बिताने के लिए निकल पड़ा। पढ़ने-लिखने का नियमित क्रम टूट गया। पर जब कभी, और जहां कहीं भी मौका मिलता, मैं कुछ-न-कुछ अध्ययन कर ही लेता। फिर भी पढ़ने से अधिक आनन्द मुझे प्रत्यक्ष जीवन की विविधता का अनुभव प्राप्त करने में आता। कभी शतरंज के खिलाड़ियों के साथ घंटों बैठा रहता, कभी नटों के साथ एक गांव से दूसरे गांव की यात्रा करता हुआ तमाशा देखता रहता, कभी बन्दरों का नाच दिखाने वाले मदारियों के दल में जा मिलता, और कभी किसी मेले में मानवीय लीला के विविध रूपों का अनुभव प्राप्त करता। इन सब चक्करों के बीच में कविता लिखने की प्रवृत्ति समय-समय पर मेरे सिर पर भूत की तरह सवार हो उठती, और मै छिट-पुट रूप से कुछ-न-कुछ लिखता चला जाता।

मैं जवान था, सुन्दर था और रसिया था। नारी के सौन्दर्य के प्रति मै आरम्भ ही से वैरागी रहा होऊं, ऐसी बात नहीं है। यह ठीक है कि किसी भी नारी के साथ मेरा अनुचित सम्पर्क नहीं रहा। पर शृंगार रस के प्रति आकर्षण का अनुभव मैंने अपनी जवानी के दिनों में खूब किया है। किसी चक्कर से मेरा विवाह भी एक सुन्दर लड़की से हो गया। मोहमग्नता के वे दिन मुझे कभी नहीं भूलेंगे। अन्त में एक दिन मेरी साध्वी पत्नी ने मेरी आंखें खोलीं। उसने मेरी मोहाच्छन्नता को धिक्कारा और तब से मै अपनी जवानी की भूलों से मुक्त हो कर राम निर्देशित कर्त्तव्यों की पूर्त्ति के इरादे से बाहर निकल पड़ा। मैंने निश्चय कर लिया कि मै अब नियमित रूप से कविता लिखूंगा—पर ऐसी कविता जो राम से सम्बन्धित हो, क्योंकि मुझे विश्वास हो गया था कि राम ही में सृष्टि के सारे तत्व निहित हैं, जीवन-लीला के सभी रूप समाहित हैं।

मैंने आरम्भ ही से कविता के क्षेत्र में नए-नए प्रयोग किए। संस्कृत के श्लोकों के वाक्-चातुर्य को हृदय की अंतरतम भावना-भूमि में उतार लाने की प्रबल इच्छा मेरे मन में जागती रहती थी, इसलिए इस पुराने प्रयोग को मैंने जारी रखा। उदाहरण के लिए, एक दिन मेरी दृष्टि 'हनुमन्नाटक' के इस श्लोक पर पड़ी—

सद्यः पुरी परिसरेषु शिरीषमृद्वी
गत्वा जवात् त्रिचतुराणि पदानि सीता।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद्ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥

मुझे तत्काल प्रेरणा हुई और मैंने उसके आधार पर यह सवैया रच डाला—

पुर तें निकसी रघुबीर वधू धरि धीर दिए मग में डग द्वै
झलकी भरि भाल कनी जल की पट सूखि गए मधुराधर वै।
फिर बूझति है चलनोअब कितो प्रिय पर्नकुटी करिहौं कित ह्वै
तिय की लखि आतुरता पिय की अंखियां अति चारु चली जल च्वै ॥

अपने इस प्रयास से मुझे स्वयं बड़ा संतोष हुआ। तब से मैं कभी संस्कृत में रचे गए राम सम्बन्धी ग्रन्थों की प्रेरणा से और कभी अपने अन्तर की अनुभूति से विविध छन्दों मे राम सम्बन्धी गाथा लिखता चला गया। लोक भाषा, लोक छन्दों, लोक गीतों से मुझे बड़ी प्रेरणा मिलती थी और राम की कथा को उन्हीं छन्दों और गीतों की शैली में लिपिबद्ध करने की बड़ी इच्छा होती थी। इसी सिलसिले में कई प्रयोग मैंने किए। उदाहरण के लिए 'रामलला नहछ' के ये पद प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

गोद लिहै कौसिला बैठि रामहिं वर हो।
सोभित दूलह राम सीस पर आंचर हो ॥

नख का टत मुसुकाहिं बरनि नहिं जातहिं हो ।
पदुम पराग मनि मानहुं कोमल गातहिं हो ।।
× × ×
कटिकै छीनि बरिनिया आना पानिहि हो ।
चन्द्रबदनि मृगलोचनि सब रस खानिहि हो ।।

'गीतावली' में मैंने राम जननी को एक सरल देहाती स्त्री माना है, जो राम के वन गमन पर व्याकुल हो कर पुकार उठती है—

राघौ एक बार फिरि आवौ ।
ए बर बाजि विलोकि आपने बहुरो वनहि सिधावो ।
भरत सौगुनी सार करत है अति प्रिय जानि तिहारे ।
तदपि दिनहिं दिन होत झांवरे मनहुं कमल हिम मारे ।।
सुनहु पथिक, जो राम मिलहि वन, कहियो मातु संदेसो ।
तुलसी मोहि और सब ही ते इन को बड़ो अंदेसो ।।

'बरवै रामायण' में भी कविता को जन-मानस में उन्हीं की भाषा में प्रविष्ट कराने का प्रयास मैंने किया । उसमें सीता का रूप-वर्णन इस प्रकार है—

सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर ।
का घूंघट मुख मूंदहु नवला नारि
चांद सरग पर सोहत यहि अनुहारि ।

'कवितावली' में भी मैंने यही प्रयोग जारी रखा और अन्त में एक बहुत बड़े प्रयोग का बीड़ा मैंने उठाया, जिसकी कल्पना मैं बहुत वर्षो से कर रहा था, पर हाथ लगाने का साहस नहीं होता था । वह प्रयोग था रामचरितमानस । इस ग्रन्थ में मैंने अपनी जन्म-जन्मान्तर से प्राप्त अनुभूतियों को, अपने समस्त ज्ञान-विज्ञान को अन्तःप्रेरणा की आंच में जला कर राम की गुण-गाथा गाने के बहाने सम्पूर्ण मानव-जीवन लीला को ही कविता के रूप में ढालने का प्रयास किया । अपने इस बाल-प्रयास की सफलता के सम्बन्ध में मैं बहुत शंकित था, पर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा । मैंने देखा कि उसकी लोकप्रियता दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती चली जा रही है । जो ज्ञानलव-दुर्विदग्ध आलोचक बरसों से कविता के क्षेत्र में मेरे नए प्रयोगों का उपहास करते चले आ रहे थे, वे तक मौन हो गए । चारों ओर से मुझे अप्रत्याशित सम्मान प्राप्त होने लगा । तुलसी गुसाईं बन गया और सब जगह पुजने लगा । अपने वे भौंड़े दिन वह भूल गया जब वह घर-घर टुकड़े मांगता फिरता था, दुष्टों से छिप कर मसजिदों में सोता था और दुनिया भर की उपेक्षा और उपहास का पात्र बना हुआ था । यह सब राम की महिमा थी—

रामनाम को कलपतरु कलि कल्यान निवास ।
जेहि सुमिरत भए भांगते तुलसी तुलसीदास ।।

पर मेरी निरन्तर बढ़ती हुई प्रसिद्धि ने खलों को फिर मेरे विरुद्ध कर दिया । और शंभु की इसी काशी नगरी में वे संगठित उपायों से मुझे कष्ट पहुंचाने लगे, यहां तक कि मेरी हत्या के उद्देश्य से भी कई प्रयत्न उन्होंने किए । मृत्यु का भय मुझे नहीं है, पर इस कल्पना से मेरी छाती फटी जाती है कि इस काशी नगरी में भी ऐसी विकट राम-विरोधी प्रवृत्तियां वर्तमान हैं । मेरे उस राम का विरोध यहां होता है, जिसके विराट रूप के भीतर जीवन के सभी मल तत्व और उनके

विकास के सारे उन्नत रूप वर्तमान हैं, जिसके व्यक्तित्व में सभी धर्मों और सभी सम्प्रदायों की प्रगतिशील प्रवृत्तियां घुल-मिल कर एक हो गई हैं, जो अपनी अनेकरूपता में भी एक हैं, और जो जीवन के समस्त अकल्याणकारी तत्वों के बीच में चिर मंगलमय प्रकाश की कभी न बुझने वाली लौ को जलाए हुए हैं।

अपने दीर्घ जीवन के कड़वे और मीठे, छिछले और गहरे, सभी अनुभवों के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि राम की लीला अनन्त और अपार है। वह न जाने कितने जन्मों से मुझे इसी तरह नचा रही है। पर इन सारे चक्करों के अन्तराल में उसकी अनन्त करुणा की धारा अटूट रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। बचपन में उसकी लीला को जितना समझ पाया था, नव्वे वर्ष की उम्र में उससे एक कण भी अधिक नहीं समझ पाया हूं। पर इसे न समझ पाने का तनिक भी दुख मुझे नहीं है, क्योंकि उसके प्रेम का मूल स्रोत मैंने पा लिया है। मुझे न मोक्ष चाहिए, न यश, न सांसारिक सुख। चाहिए केवल राम के प्रेम-पीयूष पान से कभी न अघाने वाली अटूट प्रवृत्ति। एक दिन मैंने गाया था—"तू दयाल दीन हौं तू दानि हौं भिखारी।" मंगतों के कुल में जन्मा मैं भिखारी, गुसाईं हो जाने पर भी आज भी भिखारी ही हूं, और अनन्त काल तक राम के दरवाज़े पर खड़े हो कर प्रेम की भीख मांगते रहने की चिर अतृप्त आकांक्षा अंतर में संजोए हूं। आज भी मेरी यही कामना है कि—

जनम-जनम रति राम पद यह वरदान न आन।

—लखनऊ से प्रसारित

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की समस्याएं

डा० जगदीश गप्त



हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की कहानी काफी लम्बी और रोचक है। उनकी समस्याएं भी उतनी ही जटिल और अनेकमुखी हैं। आज तो एक-आध ऐसी पत्रिका भी निकलन लगी है जिसका नाम वही जो लेखक, और लेखक अर्धांग-सर्वांग वही जो सम्पादक, और सम्पादक वही जो पत्रिका का नाम—त्रिकोण पूरा। आत्म विज्ञापन का युग ही ठहरा! किमाश्चर्यमत: परम्। पत्रिकाएं पुस्तक-पत्रिका बन कर पुस्तकों के क्षेत्र में प्रवेश पा रही हैं और पुस्तकें पत्रिकाओं के भाव रद्दी में बिक रही हैं। एक प्रश्न उठता है। आखिर आज तो तरह-तरह की मासिक, द्विमासिक, त्रैमासिक, चतुर्मासिक, षाण्मासिक या अर्धवार्षिक और वार्षिक पत्रिकाएं तथा दैनिक, साप्ताहिक और पाक्षिक पत्र निकलते, पनपते और विलीन होते चले जा रहे हैं— उनसे उर्वरता तो झलकती है, पर उनका उद्देश्य क्या है? क्या सबका कोई एक ही उद्देश्य है या सबके चौके-चूल्हे अलग-अलग? उद्देश्यगत विभिन्नता यदि है तो क्या कोई उनके बीच ऐसा सम्बन्ध सूत्र खोजा जा सकता है जिसमें सबको पिरोया जा सके? सारी समस्याओं की जड़ में यही प्रश्न निहित है, क्योंकि जैसा देवता वैसी पूजा, जैसा उद्देश्य वैसी समस्याएं।

किसी समय जब नई शिक्षा का पहला-पहला दौर शुरू हुआ, तो 'शिक्षा प्रसार' पत्र-पत्रिकाओं का प्रमुख उद्देश्य था। फिर जब कुछ पढ़ना-लिखना आ गया, तो 'मनोरंजन' ही प्रधान उद्देश्य बन गया। जब वह हलका लगने लगा तो भाषा, साहित्य, धर्म और सिद्धान्तों की ओर झुकाव हुआ। उनमें भी शाखा-प्रशाखाएं फूटीं, हर भाषा-रूप का पक्षधर पत्र, हर साहित्यिकवाद की एक पत्रिका! प्रत्येक विचारधारा का समर्थक किसी न किसी पत्र-पत्रिका की सुखद शीतल छाया चाहने लगा। नए-नए छायादार वृक्ष खोजे जाने लगे। पत्र-पत्रिकाओं के लिए छायादार वृक्ष वही सिद्ध होते हैं जिनके पास हरियाली की पर्याप्त पूंजी हो—पर्याप्त यानी फालतू पूंजी हो, पर कोई पूंजी कभी फालतू नहीं होती। पूंजीधारी उससे अपना अर्थ सिद्ध करना चाहता है, क्योंकि एक धरातल पर पूंजी और अर्थ एक ही चीज है। जिसकी पूंजी उसकी नीति, जिसकी लाठी उसकी भैंस। पत्रिका का वही उद्देश्य जो पूंजी का, और पूंजी का क्या उद्देश्य? यह अति-प्रश्न है पर उत्तर देना ही पड़ता है। पूंजी का उद्देश्य पूंजी को बढ़ाना या पूंजीधारी की पूजा को बढ़ाना। तो आज उद्देश्य के ये सभी रूप, सभी स्तर, सभी पहलू एक साथ हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के क्षेत्र में देखने को मिलते हैं। इनके बीच डूबते-उतराते हैं संचालक-व्यवस्थापक, पिसते-जूझते हैं सम्पादक-लेखक, और कभी मुग्ध, कभी चकित, कभी निराश, कभी विस्फारित नेत्र, देखते हैं पाठक। भाषण की भाषा में कहा जाए तो कहना होगा, अजीब कशमकश है। कभी-कभी

तो उद्देश्य की खोज में उद्देश्यहीनता ही हाथ आती है। ऐसे कम ही पत्र होंगे जिनका मेरुदण्ड सीधा हो और लक्ष्य ऊंचा। किसी न किसी बोझ से सब झुके दिखाई देते हैं। कुछ अपने बोझ से, कुछ पराए बोझ से। कुछ ऐसे भी होंगे जो अपने और पराए दोनोंके संघर्ष के बोझ से झुके दिखाई देते हैं। बहुतों का प्रकाशन एक रूढ़ि की तरह होता रहता है। जब निकले है, निकलते रहे है तो आगे क्यों न निकलें—भले ही सार्थकता समाप्त हो गई हो ? बहुत-से अनुकरण और स्पर्धा के भाव से प्रकाशित होते है। विधान ने इस अधिकार को अमान्य नहीं ठहराया, इसलिए।

अच्छा, जाने दीजिए उद्देश्य को; और बातें लीजिए। यह तो सब कहते है कि पत्र-पत्रिकाओं का नियत समय से प्रकाशित होना, उनकी प्रतिष्ठा और व्यावहारिक सफलता के लिए आवश्यक है। नियत समय पर प्रकाशन का अर्थ है आदमी को यन्त्र बनाना, सामग्री से सम ौता करना, स्तर को बालाएताक रख देना, और अगर न रख देना तो संघर्ष करना, जिसमें साधन-हीनता के कारण रह-रह कर टूट-टूट जाना, एक दर्द का अनुभव करना, सम्पादक कहलाना।

सारी रचनाएं छापी नहीं जा सकती, क्योंकि बहुत-सी आहूत होती है, बहुत-सी अनाहूत, बहुत-सी सहज भाव से आती है, बहुत-सी नाज़-नखरे और शर्तो के साथ। छापिए तो मुश्किल, न छापिए तो मुश्किल। लौटाइए तो वैर मोल लीजिए। न लौटाइए तो पूछतांछ के उत्तर-प्रत्युत्तर देने के लिए एक क्लर्क रखिए और रद्दी को सुरक्षित रखने के लिए एक आलमारी खरीदिए। दल की छापिए तो दलदल में फंसिए, दलहीन बनिए तो फलहीनता हाथ आती है। फिर कहना होता है—एक अजीब कशमकश है।

आप अगर खुद ही प्रकाशक-सम्पादक दोनों है, तो कोई बात नही, वरना प्रकाशक के बोल सहिए। एक सम्पादक है तो ठीक, पर अगर सम्पादक मण्डल है तो तय कीजिए कि देरी का ज़िम्मे-वार कौन ? बिल्ली के गले में कौन घंटी बांधे ? नाम छपें अकारादि क्रम से, तो काम किस क्रम से हो ?—नकारादि क्रम से। यही न ? ज्यों-त्यों करके पत्रिका सम्पादित भी हो गई, छप भी गई। कुछ विज्ञापन पा लिए, कुछ लेखकों को कम दिया, कुछ कागज़ रद्दी लगाया, सस्ते प्रेस में छपवा लिया, पर वितरण कैसे हो? अब दौड़िए किसी वितरक के पास जो साधारणतः प्रकाशक भी होता है। भला क्यों दूसरों के प्रकाशनों को बेचने के लिए खपने लगा। जी चाहेगा तब हिसाब देगा; मरजी आएगी तब जवाब देगा। जिनके पास अपना आफ़िस है, अपना स्टाफ़ हैं, अपनी बेचने की मशीनरी भी है, ऐसे परम सौभाग्यशाली पत्र और पत्रिकाएं हिन्दी में कम ही है, क्योंकि यह सब तो उपजता है बिक्री से। बिक्री होती है यत्न-प्रयत्न और पर्यटन से। सहज सुरुचि और पढ़ने की आवश्यकता से खरीदने वाले है ही कितने। जेब से पैसा दे कर खरीदना सम्भव भी तब हो जब उसमें कुछ अतिरिक्त रहता हो। साधारणतया तो जेब की अतिरिक्त रहने की ही आदत है। सबसे बड़े गाहक है पुस्तकालय; और बहुत-से पुस्तकालय स्वतन्त्र न हो कर किसी विशेष सत्ता के अधीन होते है। विक्रय की भाषा बिना सत्ताधीशों की अनुचरी बने .... बिना स्वयं बिके सफल नही हो पाती। समस्या रह-रह कर गहराती रहती है। सम्पादक-धर्म याचक-धर्म में परिणत होने लगता है और सद्बुद्धि कूट बुद्धि में। यदि नही तो 'अकाल मृत्यु' को प्राप्त होने के लिए तत्पर रहना पड़ता है।

इस क्षेत्र मे समुद्र जैसी लहरो का वह आवेग कल्पना जगत की वस्तु ही बना रहता जो सहस्त्रों तरियों को तिनके की तरह धारण करने की सामर्थ्य रखता है। पाठकों की रुचि मे इस आवेग के दर्शन नही होते। तरियों के कर्णधारों में लहरों को आमन्त्रित करने का साहस और संकल्प दिखाई नही देता। कही खाई अवश्य है। खाई काफी गहरी भी है। हिन्दी के अति-रिक्त अन्य अनेक भारतीय भाषाएं है जिनमे एक-एक पत्र लाखों की संख्या मे खप जाता है।

पत्रिकाएं सहस्रों बिक जाती हैं। हिन्दी महान् है, पर उसे अभी इस गौरव को उपलब्ध करना है, इस गहरी खाई को पाटना है। स्थायी साहित्य की तो बात ही दूर, जहां सामयिक साहित्य के प्रति भी उदासीनता हो, वहां रोग असाध्य नहीं तो कठिन अवश्य मानना होगा। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या अवश्य हिन्दी में आश्चर्यजनक है। चलिए, कुछ तो है। पर यदि इसके आंकड़े प्राप्त किए जाएं कि उनका औसत जीवन कितना है, तो अवश्य ही 'जीवन क्षणभंगुर है'—यह उपदेश वाक्य पूर्णतया चरितार्थ होता है। भारी पूंजियों के सहारे जो सजीव दिखाई देते हैं, वे पत्र नैतिक दृष्टि से खोखले हैं। जनसेवा उनका ऊपरी आवरण है, स्वार्थ साधन भीतरी लक्ष्य। बहुधा उनका जीवन विज्ञापनों के आश्रित रहता है। स्वल्प पूंजी से जो उपजते हैं, वे आज के संघर्ष में टिक नहीं पाते और उनकी नैतिक शक्ति विषमताओं की चपेट से बिखर-बिखर जाती है। छिटपुट प्रयत्न या व्यक्तिगत उत्साह से जिनका जन्म होता है, ऐसी पत्रिकाएं चिनगारियों की तरह चमककर बुझ जाती हैं और अंधकार में उनके नाम के अक्षर पढ़ना भी दुष्कर हो जाता है। एक ही शक्ति है जो जनतान्त्रिक विधान में उबार सकती है, और वह है सहयोग की। आज सहयोग के आधार पर जो पत्र-पत्रिकाएं टिकी हैं, वे केवल भविष्य के लिए लघु बीज के समान हैं, पर आग यही विचार अंकुरित हो कर पनप सकता है। समाजवादी व्यवस्था में विकेन्द्रित पूंजी या तो सरकार द्वारा केन्द्रित होती है या जनता के सहयोग द्वारा। साहित्य, कला और शिक्षा जितनी ही जन-सहयोग के आश्रित रहे, उतनी ही श्रेष्ठ स्थिति उसकी होगी। सहयोगी आधार पर पत्र-पत्रिकाओं की योजना प्रकाशन और वितरण व्यवस्था से एक सर्वथा नए युग का आरम्भ होगा, जहां न लेखक का पेट कटगा, न सम्पादक पिसेगा और न प्रकाशक झींखेगा। पर यह सहयोग की भावना काफी शक्ति के साथ बड़े पैमाने पर सक्रिय हो सके तब। इसके लिए बहुत कुछ चाहिए, जिसकी चर्चा और भी विषयान्तर होगी। थोड़ा-बहुत जो विषयान्तर हुआ, वही क्या कम है!

—इलाहाबाद से प्रसारित

वह बोला, "मुझे नहीं मालूम।"

वह व्याघ्रेश्वर के देवालय के पास पहुंचा। पर अन्दर जाने की हिम्मत उसे नहीं हुई। प्यास लगी थी, वह मंदिर के पास वाले कुएं पर पहुंचा। वहां मंदिर के 'गुरवों', पंडे-पुजारियों की आवाज़ें साफ सुनाई दे रही थीं। किसी मुकदमे की बात हो रही थी। काका उस मुकदमे की बात अच्छी तरह से जानता था। अण्णा उसमें जीते थे। उन्होंने ही आपरेशन करने के लिए काका को बम्बई भेजा था। 'गुरव' उस पर अपील करने वाले थे। इतने में उन्होंने बातचीत शुरू की, "काका अगर व्याघ्रेश्वर के मंदिर में पैर रखेगा तो उसकी हड्डी-पसली एक कर देंगे। काका अब जात बाहर किया जाएगा। वह मंदिर में कैसे आ सकता है। काका की भतीजी यशोदा कलंकिता हो गई थी। साखरपेंगी के मुस्लिम 'मूसा' से उसे गर्भ रह गया था।"

काका किसी तरह जान बचा कर दबे पैरों मंदिर के अहाते से बाहर आया। और घर पर पहुंचा। घर में ताई यशोदा के बाल खींच कर उसे पीट रही थी। यशोदा और कोई बात नहीं बता रही थी। सिर्फ कहती थी कि मूसा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। काका दस बरस बाद अपने घर पर लौट कर आया था। कितनी उम्मीदें उसके मन में थीं। परन्तु घर में बड़ा ही सूखा और विचित्र स्वागत मिला। उसने पूछा, "यशोदा कहां है?"

"बैठी होगी अंधेरे में पीछे ओसारी में।"

कोई नहीं बोला। काका को सब बातों का पता चल गया था। घर में चर्चा हो रही थी कि जात बाहर कर देंगे तो क्या करेंगे?

यशोदा रात के दो बजे बागदी नदी किनारे पहुंची। बड़ी देर तक वह वहां खड़ी रही। पन्द्रह साल से वह इसी गांव में रही, बड़ी हुई। चांदनी में गांव, नदी और मंदिर और भी सुन्दर दिखाई दे रहे थे। उसे लगा कि नदी में कूद कर वह आत्महत्या करे। पर उसकी हिम्मत नहीं हुई। वह अब अकेली नहीं थी। अपने भीतर वह एक और प्राण पोस रही थी। वह अपने जीवन का पुराना चित्रपट देखने लगी।

गए दो साल से उसके विवाह की बातचीत चल रही थी। जो भी वर सुझाया जाता, यशोदा उसमें कोई न कोई दोष निकालती। किसी का नाम ही खराब था, तो किसी में शारीरिक व्यंग था। यशोदा की सुन्दरता की तुलना में कोई भी वर जंच नहीं सकता था। घर में ताई और अक्का थीं, जो हर सुझाव को टाल देतीं।

यशोदा जब छः बरस की हुई तभी उसे पता चला कि उसकी सुन्दरता की चर्चा पांच कोस तक होती है। उसकी आंखें तो एक अद्भुत चमत्कार थीं। काली, भूरी, नीली, कंजी, कई तरह की आंखें गारंबी गांव ने देखी थीं। परन्तु किरमिजी रंग की आंखें ले कर जब इस कन्या ने अवतार लिया तो गारंबी उसकी ओर कौतुक और अभिमान से देखने लगा। अक्का ताई से कहती कि उसी ने लड़की को लाड़ से बिगाड़ रखा है। पर यह सच नहीं। सारे गांव ने यशोदा को लाड़ किया था। आज तक इस गांव को मारा-मारी, कोर्ट-कचहरी में मुकदमे और कष्ट, यही मालूम था। सौन्दर्य का आनन्द लूटने या उसकी प्रशंसा करने का अवसर इस गांव को नहीं मिला था। सोनकेवड़ा, गुलाब, मोगरा, बकुल बेचारे इस गांव के पैरों पर सौन्दर्य और सुगंध का खज़ाना खाली करते थे, परन्तु इस गांव ने उसकी कभी कद्र नहीं की। अंधेरे देवालय में निर्माल्य हो कर वे मुरझा जाते थे। स्त्रियों का सौन्दर्य बंटाने के लिए फूल भगवान ने बनाए, यह सत्य पहली बार गारंबी को उस किरमिजी आंखों वाली कन्या ने सिद्ध करके दिखाया था। यशोदा ने गारंबी को रसिक बनाया। यशोदा वयःसंधि पर पहुंची और सारा गारंबी गांव उसके रूप से पागल हो गया। व्याघ्रेश्वर के मंदिर में पहली बार उसने पुरुष स्पर्श का अनुभव

किया । पांडू ने उसे, मंदिर की ऊँची घंटी बजाने के लिए गोद में उठा लिया था । और प्रदक्षिणा करते समय अँधेरी गलियारी की याद यशोदा को आने लगी ।

काका, ताई और अक्का यशोदा का क्या करें, इस चिन्ता से घर में रोज नए ननसूबे बाँधते । किसी ने कहा कि इसे बम्बई ले जाओ, किसी को पता नहीं चलेगा । इसका ब्याह भी वहीं हो जाएगा । दूसरा विचार हुआ कि इसे पंढरपुर नाम के दक्षिण के प्रसिद्ध तीर्थ में भेज दिया जाए । वहाँ ऐसी सब कलंकिताओं को मुक्ति मिल जाती है, तीर्थ जो ठहरा । तीसरा सुझाव रखा गया कि उसका चुपचाप विवाह कर दिया जाए । रूप तो उसमें है ही. कोई भी वर मिल जाएगा ।

पर ताई ने कहा, "इतनी चर्चा हो जाने पर भी !"

अक्का ने कहा, "कोई-न-कोई तो मिल ही जाएगा ।"

काका इस 'कोई-न-कोई' की कल्पना से काँप उठते । पर क्या करें ? यशोदा किसके साथ उसका सम्बन्ध हुआ, यह बताने को तैयार नहीं थी । और घर के लोग और उसे बदनाम करने वाले 'मूसा' का नाम ले रहे थे ।

मूसा सुपारी खरीदने आता था । हँसी-मजाक भी जरूर होता था । कभी-कभी कोई चीज यशोदा को इनाम-उपहार भी दे जाता । पर यशोदा जानती थी कि मूसा ने कभी कोई बुराई उसके साथ नहीं की । बल्कि जब सारा गाँव उसके खिलाफ हो गया था और यशोदा की घर में पिटाई और बाहर जग हँसाई हो रही थी, तब मूसा एक दिन नदी तट पर कहीं मिल गया था तो उसने कहा था, "कोई फ़िक्र मत करना । मैं तुम्हारे आड़े वक्त काम आऊँगा । तुम्हें किसी तरह की तकलीफ़ नहीं होगी । मैं तुम्हारे बदन को भी नहीं छुऊँगा ।"

ऐसा भाई का-सा पवित्र प्रेम यशोदा को किसी ने नहीं दिया था ।

और यशोदा नहीं बतला रही थी कि उसे ऐसे बुरे दिन किस पापी के कारण देखने पड़े ! असल में उसी बदमाश को यशोदा ने बतलाया था कि 'देखो, यह मूसा न जात का न पाँत का, पर मेरी मदद करने को तैयार है ।" इसी बात को वह ले उड़ा । और उसने सारे गाँव भर में यशोदा और मूसा को ले कर क्या-क्या नहीं उड़ा दिया ।

वह था उनका पड़ोसी प्रौढ़ दूकानदार अण्णा, उनके घर का हितू बनने वाला, जो अब काका के पास यह प्रस्ताव लेकर आया था कि उसकी दूकान के नौकर विठोबा से ही उसकी शादी कर दी जाए ।

कोंकण के उस छोटे-से गाँव में दूकानदार अण्णा का बड़ा रोब था । सब उसके किसी-न-किसी तरह कर्ज़दार थे । उसे कुछ कौन कह सकता था ? यशोदा उसका नाम लेती तो कोई उसे नहीं पतियाता ।

आखिर उसके प्रस्ताव को घर वालों ने मान लिया । यह जानते हुए कि विठोबा और यशोदा का किसी भी बात में मुकाबला नहीं था—न बुद्धि में, न रूप में, न कुल में ।

अण्णा तो उस घराने के पुराने हितू थे । जब यशोदा के पिता बाबा की मृत्यु हुई, उनके पिंड को कोई नहीं छूता था, तब अण्णा ने वचन दिया था, 'कोई फ़िक्र न करना, मैं तो हूँ । घर में सबका रक्षण करूँगा ।' सारे गारबी गाँव की गवाही में उसने यह वचन दिया था । अण्णा ने काका को उसी बात की याद दिला दी।

यशोदा ने पहले पंढरपुर जाने की बात मान ली । बाद में वह मूसा के साथ जाने को कह रही थी । अब वह विठोबा से शादी करने को राजी हो गई ।

विवाह का दिन आया। अण्णा के घर में ताई के सहारे यशोदा बैठी थी। बाहर शादी के ताशे बज रहे थे। यशोदा ने ताई से चिपट कर चीख कर पुकारा, "ताई !"

ताई उसकी ओर देख नहीं सकी। बोली, "आज के दिन रोते नहीं हैं।"

"मैं भी नहीं रोऊंगी।"

ताई ने अपनी कमर में छिपा कर रखे छल्ले निकाले और उसकी उंगलियों में डाले, "तेरे बड़ा अच्छा प्रतापी बच्चा होगा, उसे यह पिन्हाना।"

यशोदा बोली, "नहीं, नहीं, मुझे लड़का नहीं चाहिए।"

ताई ने कहा, "सब लड़का ही चाहते हैं। वही तो कलंक दूर करेगा।"

यशोदा, "नहीं ताई, मुझे लड़की चाहिए। मेरी जैसी सुन्दर वह हो। मैं उसे तेरे यहां रखूंगी। गारंबी गांव की आंखों से बचा कर। यहां मेरे सौन्दर्य की राख बनी। उसमें से अगर कोई रंगवल्ली पैदा हुई, तो अच्छा-सा देवता देख कर उसे अर्पित कर दूंगी।

और उसी वक्त तड़ातड़ डफ ताशे बजने लगे। यशोदा सौभाग्यवती बनी।

कुएं की रहट से उसी वक्त फिसल कर नीचे गिरते हुए काका एक डोरी को पकड़ कर चिल्ला रहे थे, "मर गया, कोई मुझे बचाओ।"

—दिल्ली से प्रसारित

सियारामशरण गुप्त



सामने हैं, प्राप्त गहरे
भूखनन में मृत कलश के खंड वे,
वह कलश रूपित हुआ कब
थपकते कर और गुनगुन कंठ से ?

आज के प्रति पत्र क्या यह
बहु सहस्राब्दक सुदूर अतीत का,
लिखित मृण्मय पट्ट पर है
गूढ़ लिपि में वृत्त शुभ संगीत सा।

कुम्भकर किस नाम का
किस धाम का किस ग्राम का था कौन वह,
कलश वह जिसने रचा था
नम्र रह कर आत्म गोपन मौन सह।

मृत्तिका लेने गया होगा
हृदय म विनय कुछ ऐसी भरे
हे धरे, तू और वह नीराभ नभ
चिरकाल घट मे संचरे ।

थी न आकांक्षा किसी को
कुचल कर सर्वोच्च वल अधिकार की,
हर सके, मरु तृषा वह नव
तीर्थ जल से किसी भी आगार की ।

सब गृहों में दूर तक
आत्मीयता का था प्रथम प्रस्थान वह,
स्वजनता का स्वजन के हित हेतु
साग्रह था प्रथम अभियान वह।

जानने पाया नहीं इतिहासकर
क्या कुछ अचानक घट गया
छलकते नव प्रात के
उस ज्योति वितरण में न हो ज्यों कुछ नया।

भ्रमित है भूगोल के
द्रुत चक्र पर सुविराट जग जीवन यथा,
भ्रमण रत मृण्मय कलश का
उभर आया रूप नूतन सर्वथा।

रविकरों से पूत घट यह
बस चुका है प्रखर अग्निस्तूप में,
ला सका तब तो अभय
शीतल मधुर जल उतर गहरे कूप में ।

निरख इसको जग रही जो
स्मृति कहें, अनुभव कि है वह भावना,
जा रहे है गहन वन में
सान्ध्यमुख है घन निशीथ भयावना।

हिंस्र-पशु रिपुदल चतुर्दिक
स्वजन सैन्य समूह सब विच्छिन्न है
लौटना रुकना खिसकना
भागना परिणाम एक अभिन्न है।

अमग में पग ऊंघते है
चू चुका है स्वेद रक्त शरीर का
मिल गया आश्रय अचानक
अतिथि को जनशून्य पर्ण कुटीर का

कौन थे तुम ? हिंस्र पशु वन भी
तुम्हें यह भाग कर तजना पड़ा
नमन लो, आतिथ्य के हित
जल भरा शीतल तुम्हारा यह घड़ा।

सलिल यह ऐसा अमृत...
जन्मान्त शत शत जी उठे पी कर इसे
कौन वह विजयी, विगत भय
अजित जीवन भेंट कर दें यह जिसे।

वह कृती वह विपद् बन्धु नमस्य
सब में लीन हो कर ही लसे
सर्वदा सम्भाव्य प्राप्य
सभी कहीं अव्यक्त ही सबमें बसे।

तब किसी विधि रात बीती,
शस्त्रधर हुंकारते आए वहां
शून्य था वह उटज, उसमें
शत्रु यह अनुसन्ध्य उनका था कहां।

खंड खंड हुआ कलश
उद्दंड उनकी लात के आघात से
ढह गया धूमा कुटी का
हुआ भर भर भरर रव उत्पात से।

ले गईं बिखरा सलिल
रवि रश्मियां तपते सुनील अपार में
व्यथित वसुधा ने धरे
मणि रत्न सम घट खंड हृदयागार में।

जा चुके दुर्दान्त जन वे
राज्य उनका हो चुका उच्छिन्न अब
नाम धाम प्रताप कब का
हो चुका निःशेष सब निश्चिह्न सब।

मौन में सहसा जगे तुम,
पूर्व का हे कलश, अनुसन्धान लो
आज के परिचित नयों में
हम वही तो हैं नहीं ? पहचान लो !

—दिल्ली से प्रसारित

बौद्ध-धर्म की व्यापकता

भगवतशरण उपाध्याय



जन्म और मरण व्यापक है—जसे जीवधारी व्यापक हैं, जैसे उनके शरीर का, उनके मानस का दुख व्यापक है। और जब कोई बोधिसत्व संकल्प करता है कि वह निर्वाण में तभी प्रवेश करेगा जब संसार का कोई प्राणी अनिर्वण्ण न रह जाए, जब कोई मसीहा भूत, वर्तमान और भविष्य के प्राणियों का पाप अपने सिर लेता है, तब वह बोधिसत्व या मसीहा उसी व्यापक दुख की ओर संकेत करता है। निःसन्देह जितना ही वह दुख व्यापक है उतना ही उसके भंजन का मन्त्र भी व्यापक होगा। सम्यक सबुद्ध तथागत ने उसी मन्त्र की खोज की। उसका दिशाओं के अन्त तक प्रचार किया। बौद्ध धर्म तथागत का सन्देश ले दिगन्त को उड़ चला।

नारी का सम्मोहन कितना मादक है, कितना मदिर! बालक के मोह का आकर्षण कितना कोमल है, कितना मनहर! गुरुजन का औदार्य कितना शालीन है, मां की ममता कितनी मार्मिक! पर क्या नारी का सम्मोहन, बालक का आकर्षण, गुरुजन का औदार्य, मां की ममता जुग पाती है? चुक नही जाती? और उनका जुगा न पाना, चुक जाना, क्या सोचने वाले समर्थ जीवों के असहाय विकल मानस को झकझोर नहीं देता? फिर मानव का चिरन्तन बन्धु तथागत कैसे मात्र अपनी व्याधि को सोचे? कैसे मात्र अपने सुख का उद्घाटन करे जब दूर का बन्धु मानव उसके आगमन की राह देख रहा है?

और तथागत ने अपनी काया डाह कर जो व्यापक सत्य पाया, सम्बोधि के प्रकाश म जिस मध्यम मार्ग के दर्शन किए, उसकी परिधि नही खीची जा सकी, स्वाभाविक ही वह देश की सीमाओं को पार कर चला। साधन और कला, चिन्तन और वाणी, साहित्य और संगीत सब पर उसका वैभव फला, दूर देश के वासी उस अमृत से छक चले जो उन साधुओ की वाणी से झरा जो पामीरों की बर्फानी चोटियां, आग बरसाते जलहीन रेगिस्तान, अथाह समुन्दर लांघ गए, जिन्होंने रक्त और लूट के नाम पर दौड़ पड़ने वाली खूंखार जातियों की कटारें अपने सीनों पर लीं और कहा कि कटारें और गहरी भोंको जिससे वे फिर वार न कर सकें, कि हम तुम्हारे लिए आए है, कि हमसे बदले में थोड़ी शान्ति ले लो, थोड़ा प्रेम ले लो, कि डरो नही, जो हम ले कर आए है उसे भोगो, वह कभी छीजेगा नही, कभी चुकेगा नही····वह स्नेह का संबल····और कि गुनाह तुम्हारा चाहे जितना बड़ा हो, रहमत उससे कहीं बड़ी है।

और बामियान की तलवारें, तकलामकान के नेजे, तुर्फ़ान के तीर तकशों को लौट गए थे, उन्हें पकड़ने वाले हाथ थम गए थे। सुनने वालों ने कहा—"यह नई आवाज़ है, चौका दने वाली, जो चोट करने वालों में दवा बांटती है, जो ज़ालिम के ज़ुल्म से पनाह नही मांगती,

लौट कर मुसकराती है, उंगलियां चूम लेती है, कहती है…"जिम्रो कि हमें मारो, जिम्रो कि वह अमर सन्देश सुनो, तथागत की वह बानी जो हमारे रोएं-रोएं स फूटी पड़ती है।"

और गंध फैलती गई, वह गंध जिसका मूल सारनाथ की उस कुटी में गमका था जहां इनसान का दोस्त पहली बार बोला था, जहां इनसान ने इनसान के लिए पहली बार सोचा था। सारनाथ में पहले-पहल वह बानी गूंजी थी—भिक्खुओ! एक मार्ग अत्यन्त विलास का है, दूसरा अत्यन्त तप का है, एक तीसरा भी है, भिक्खुओ! जो न अत्यन्त विलास का है, न अत्यन्त तप का है, जो दोनों के बीच का है, तथागत का देखा…उसे सुनो, उसे गुनो!

उसी बीच की राह का यह परिणाम था कि सागर स सागर तक—चीन से इसरायल तक—कास्पियन से हिन्द महासागर तक—लंका से साइबेरिया, मंगोलिया तक लोग उस पर चलते गए, चलते चले गए, आज भी चलते चले जा रहे हैं। जहां ज़िन्दगी रेत के मोल सस्ती थी वहां उसकी ताज़गी का समुन्दर लहराने लगा, जहां खूनी तेवर थे वहां अब लबों पर मुसकराहट झलकी, जहां पेशानियों पर बल थे वहां अब प्यार से गीले ओंठ उन्हें परसने लगे। स्वर्ग धरा पर उतरा, एक नई ज़िन्दगी ने पेंग मारी, एक नई मौज ने अंगड़ाई ली।

इसी से अशोक ने पाटलिपुत्र में बौद्धों की जो संगीति बुलाई, उसने दूर देशों को अपने धर्मदूत भेजे—लंका, बर्मा को, मैसूर को, हिमालय, कश्मीर को—और भगवान बुद्ध का सन्देश अपनी बुनियाद की हदों को पार कर चला। उसने भारत पर तलवार की चोट करने वाले सिकन्दर के देश में जो मरहम भेजे, दवाएं बंटवाई, उनमें तथागत के मन्त्र का जादू था। मकदूनिया सर हो गया, जिसने कभी पंजाब को सर किया था। अरबेला के मैदान में जिसकी हुंकार ने दारा की अनगिनत सेनाओं की रीढ़ कंपा दी थी, उसकी आत्मा ने अशोक के साधुओं को आत्मसमर्पण कर दिया।

ईसवी पहली सदी में, जब अभी लोगों में मसीहा की याद बनी थी, कश्मीर से एक सन्देश चला—महायान का सन्देश, कनिष्क और नागार्जुन का, दूसरों को प्रसन्न करके अपने प्रसन्न होने का, दूसरों को सुखी कर अपने सुखी होने का, दूसरों को जीवन-मरन के दुख से मुक्त कर अपने मुक्त होने का। यह बोधिसत्व का मार्ग था, वह महायान जिस पर चढ़ कर सभी भवसागर पार कर सकते थे। प्यार और दया उसके संबल थे, क्षमा और सेवा उसके साधन। और अफ़गानिस्तान और पामीर, खुत्तन और काशगर, तकलामकान और तुर्फ़ान, तारीम और तुनहुआंग, चीन और मंगोलिया, कोरिया और जापान, मध्य एशिया और दूर पूरब एक नई आशा से उमग उठे।

गोबी और तकलामकान की रेत में, जिसने सिवाय लहू के पानी को परस न पाई थी, बानी का अमृत बरसने लगा। उसकी खोहों से प्यार और दया की गूंजें उठने लगीं, उसकी चट्टानों पर तथागत के सन्देश खुदने लगे, उसकी कन्दराओं और बस्तियों में लोग सुत्तों का पाठ करने लगे, नए रंगमंचों पर अश्वघोष के नाटक खेलने लगे। ब्राह्मी लिपि में, तथागत के देश की लिखावट में, संस्कृत और पाली में अनगिनत किताबें वहां के रहने वालों के लिए लिखी जाने लगीं। कश्मीर और मगध से, पंजाब और अफ़गानिस्तान से, प्यार के मद से मदे कुनबे, पहाड़ और जंगल लांघ रेगिस्तानों के बीच जा पहुंचे और उस दुनिया को आबाद किया जहां चोटों का जवाब चोटों से दिया जाता रहा था, जहां किसी ने किसी से पनाह मांगी न थी, पनाह जहां किसी ने किसी को दी न थी।

और वह प्यार का क़ाफ़िला मकरान और ईरान लांघ इराक और सीरिया पहुंचा, अरब और इसरायल, एशिया माइनर और पूरबी यूरोप, जहां कभी पुरानी सभ्यताओं ने सांस ली

थी, जहां इंजील की पुरानी पोथी के निर्भीक नबियों ने वह आवाज़ उठाई थी जिससे खल्दी बाबुल और असूरी निनेवे के कातिल सक्ते में आ गए थे, असुर नज़ीरपाल और नेबुख़दनेज्जार की तलवारें म्यानों में सरक गई थीं।

ऊर और बाबुल की सभ्यता में, दमिश्क और निनेवे की संस्कृति में देवताओं की कमी नहीं रही थी, इया और एंकी, एन्लिल और नबू, मारदुक और असूर सभी थे, उनकी बेइन्तहा मूरतें भी बनती थीं, पर आज उनकी मूरतों के लिए अरबी ज़बान में, जो जबान आज उस समूचे इलाके में, दजला-फ़रात की घाटी में बोली जाती है, उसमें कोई सूचक शब्द नहीं। मूरतों के लिए जिस लफ्ज़ का अरबी में आज इस्तेमाल हो रहा है, वह भारतीय है, बौद्ध, बुद्ध के नाम से बना—बुत। चाहे कोई बुतपरस्त हो चाहे बुतशिकन, बुत लफ्ज़ का जब वह इस्तेमाल करता है, बेशक बुद्ध की उन मूर्तियों की ओर अनजाने वह इशारा करता है जो एक ज़माने में चीन से इसरायल तक पूजी जाती थीं और जिनके मंदिर प्रशान्त महासागर से भूमध्य सागर तक फैले हुए थे। इतनी व्यापक मर्यादा अब तक किसी दूसरे धर्म की उस संसार में न बनी थी।

और उस मर्यादा की सीमाएं वह सागर तक नहीं बांध सका जो स्वयं अपनी मर्यादा बांधा करता है। भूमध्य सागर की लहरें लांघ कर, जल की राह और तारस की चोटियों पर चढ़ एशिया माइनर की राह ईसा के चेले पाल और पीटर, धर्म के साधु जो रोम पहुंचे, उन्होंने उस बर्बर जगत में जो जीवन और विश्वास की, प्यार और भाईचारे की, दया और क्षमा की आवाज़ उठाई, उसमें भी गूंज उसी मूल स्वर की थी जो कभी ऊरुवेला के घुंघरुओं के साथ फूट पड़ा था—बीन के तारों को ज्यादा न कसो, नहीं वे टूट जाएंगे, बीन के तारों को बहुत ढीला भी न करो नहीं बीन न बजेगी। और साधुओं के नारे गृहस्थ के सादे जीवन की राह में, इसी ज़मीन पर बहिश्त उतार लाने के संकल्प में बुलन्द हो उठे थे। ईसाई मठों का, साधु-साधुनियों के मठों का रोम से नारवे तक, मास्को से डब्लिन तक, और पीछे कुस्तुन्तुनिया से सेनफ्रांसिस्को तक जो सिलसिला बंधा वह बौद्ध विहारों की बुनियाद पर ही कायम हुआ। अब ज़रा उन जांबाज़ बन्दों की बात सुनिए जिन्होंने समुन्दर लांघे और जो जल की राह पूरब की ओर चले। उनकी सदाओं से, दुआओं और आशीर्वाद से आज भी लंका और बर्मा की, स्याम और कम्बुज की, मलय और जावा की, सुमात्रा और बाली की हवा भरी है।

लंका के सिगिरिया में जावा के बोरोबुदूर में, उधर के सारे द्वीपों में, चीन के तुनहुआंग में चितेरों और मूरतकोरों ने जिस सादगी और लगन से दीवारों और पत्थरों पर अपनी कूंची फेरी है, जिस खूबी से उन्होंने अपनी छेनी से उन्हें तराशा है, उससे तो संगदिल पत्थरों का हिया भी डोल उठा है। उनकी लाख-लाख मुद्राएं अपनी कोटि-कोटि भाव-भंगियों से पुकार-पुकार कर बौद्ध धर्म की व्यापकता की बात करती है, सद्धर्म की सादगी की बात कहती है।

सद्धर्म की सादगी, इसकी व्यापकता में एक अहम बात है। धर्म कुछ आचार प्रधान हुए है, कुछ विचार प्रधान। धर्म जो आचार प्रधान होते है, अपने आचारों के प्रतिबन्ध से सीमित रहते है, देश की सीमाओं के बाहर नहीं जा पाते, पर जो विचार प्रधान होते है, उनकी गति कहीं रुकती नही, क्योंकि वे हिया और मानस को भेटते है, इनसान की दिली बात इनसान से कहते है। सो महत्व की बात हो जाती है, जो कंठ से निकल कर कंठ को छूती है, हिये में घर कर लेती है। काश! आज का इनसान भी तथागत की वह आवाज़ सुन पाता, उसे अपने गले से उतार पाता!

—इलाहाबाद से प्रसारित

गुप्तकाल की मुद्राएं

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल



भारतवर्ष के इतिहास में गुप्त युग को स्वर्ण युग कहा जाता है। इस संज्ञा के कई हेतु हैं जिनमें से मुख्य कारण उस युग में भारतीय संस्कृति का वह तेजस्वी रूप है जिसमें साहित्य, कला, धर्म, दर्शन और जीवन का उच्च विकास हुआ। किन्तु स्थूल या भौतिक दृष्टि से गुप्त युग को इसलिए भी स्वर्ण युग कहना बिलकुल ठीक है कि उस युग में यह देश स्वर्ण के अपरिमित भण्डार से भर गया था। विक्रम की पहली, दूसरी और तीसरी शती में भारत का रोम साम्राज्य के साथ जो व्यापार था, उसका यह फल हुआ कि पश्चिम से बह कर आने वाली सोने की नदी ने भारत को सींच दिया। रोमन इतिहास लेखक प्लिनी ने विलाप करते हुए लिखा है कि रोम देश की स्त्रियों का विलास हमारा सोने का कोष भारत में उंडेल दे रहा है। चौथी से छठी शताब्दी में, जिसे गुप्त युग कहते हैं, विदेश से सोने का यह प्रवाह और भी बढ़ गया, क्योंकि जावा, सुमात्रा, बाली, मलाया आदि द्वीपों के साथ, जिन्हें उस समय द्वीपान्तर कहते थे, भारतीय व्यापार के सूत्र जुड़ गए और वहां की धनराशि भारतीय महानाविक अपने पोतों में भर-भर कर लाने लगे।

इतनी अधिक स्वर्ण-राशि देख कर स्वयं भारत के निवासी भी चकित हो गए। कवियों ने उस समय कल्पना की कि देश में स्वर्ण के इस अकूत भण्डार का कारण यही हो सकता है कि कुबेर के कोष में भरा हुआ स्वर्ण आकाश से भारत की पृथ्वी पर बरस गया है। कालिदास ने रघुवंश में स्वर्ण-वृष्टि के साहित्यिक अभिप्राय का उल्लेख किया है।

स्वर्ण युग के उस जीवन तथ्य का जीता-जागता चित्र गुप्तकालीन स्वर्ण मुद्राओं में आज भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। देश में सम्राटों को जो स्वर्ण प्राप्त हुआ था उसे उन्होंने कोटि-कोटि स्वर्ण मुद्राओं के रूप में परिवर्तित करके लोक में वितरित कर दिया। उस युग की तांबे की मुद्राएं तो प्रायः हैं ही नहीं। चांदी की मुद्राएं भी समुद्रगुप्त के शासन की नहीं हैं। किन्तु चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शक-विजय के पश्चात कुछ चांदी के सिक्के ढलवाए थे। अतएव गुप्तों की मुद्रा नीति में स्वर्ण का ही प्रमुख स्थान था।

गुप्त मुद्राओं के निर्माण का आरम्भ सम्राट समुद्रगुप्त ने किया था। ये मुद्राएं आठ भांति की हैं जिन्हें अंग्रेजी में 'टाइप्स' कहते हैं। इनके नाम ये हैं :

(१) इन्द्रध्वज भांति, (२) धनुर्धर भांति, (३) कृतान्त परशु भांति, (४) चन्द्रगुप्त कुमार देवी या लिच्छवयः भांति, (५) काच भांति, (६) व्याघ्र पराक्रम भांति, (७) गान्धर्व-ललित भांति, और (८) अश्वमेध भांति। सबसे पहली इन्द्रध्वज भांति की मुद्रा को वैजयन्ती

भांति भी कह सकते हैं। यह भांति सबसे अधिक लोकप्रिय थी। गुप्त मुद्राओं के जो पुराने निधान या दफ़ीने मिले हैं, उनमें सबसे अधिक संख्या प्रायः इसी भांति की मुद्राओं की रहती है। इस सिक्के पर सामने की ओर सम्राट समुद्रगुप्त एक लम्बा चोगा और सलवार पहने हुए खड़े हैं और अपने दाहिने हाथ से हवनकुंड में कुछ सामग्री डाल रहे हैं। इस प्रकार के लम्बे चोगे को उस समय की भाषा में वार-बाण कहते थे। कोट और पायजामे का चलन विशेष रूप से कुषाण राजाओं के समय से हो गया था। अतएव इस वेश को भारतवासी उदीच्य वेश कहते थे। गुप्त सम्राटों ने सैनिक वर्दी के रूप में इस वेश को अपना लिया। सम्राट के हवन करने की मुद्रा को कालिदास के शब्दों में हुताग्नि मुद्रा कहा जा सकता है। हवनकुंड के पास में गरुड़ध्वज अंकित है जो कि गुप्तों की राष्ट्रीय ध्वजा थी। सम्राट के बाएं हाथ में एक लम्बी यष्टि है जिसकी पहचान इन्द्रध्वज से की गई है। प्राचीन भारत में इन्द्रध्वज के पूजन का विशेष प्रचार था और प्रजा का कल्याण चाहने वाले सम्राट के लिए तो उसका विशेष विधान किया जाता था। गुप्त सम्राटों ने देवी लक्ष्मी को अपनी कुलदेवी स्वीकार किया था। लक्ष्मी की पूजा गुप्तों का कुलव्रत हो, यह उचित ही था क्योंकि उस युग में पंचरात्र भागवत धर्म राष्ट्रव्यापी धर्म हो गया था और गुप्त सम्राट भी परमभागवत महाराजाधिराज कहे जाते थे। गुप्त स्वर्ण मुद्राओं के चित और पट दोनों ओर अति सुन्दर लेख भी पाए जाते हैं। गुप्त मुद्राओं के अधिकांश विरुद, जिन्हें उस युग की भाषा में जयोदाहरण कहते थे, छन्दोबद्ध ही हैं। पटदाव या पीछे की ओर 'पराक्रम' यह लेख है। सम्राट न केवल सुन्दर वेश में हैं, बल्कि कानों में कुंडल, कंठ में हार आदि आभूषणों से अलंकृत हैं। इसी प्रकार पर्यंक पर बैठी हुई देवी लक्ष्मी सुन्दर उत्तरीय, कंठहार, केयूर, नूपुर आदि आभूषणों से सुसज्जित है।

एक भांति की मुद्रा वह है जिस पर चन्द्रगुप्त और कुमार देवी के विवाह का दृश्य अंकित है और सम्राट अत्यन्त स्नेहपूर्वक महादेवी को मुद्रांगुलीयक या अंगूठी उपहार में दे रहे हैं। मुद्रा पर चन्द्रगुप्त कुमार देवी लेख भी स्पष्ट है और पीछे की ओर लिच्छवय भी लिखा है। राजदम्पति भांति की यह मुद्रा समुद्रगुप्त ने अपने माता-पिता की सम्मानित वन्दना के लिए चालू की थी। व्याघ्रपराक्रम भांति का सिक्का सम्भवतः सम्राट की पूर्व देशों की विजय का सूचक है जब गुप्तों की देश-विजय के अन्तर्गत बंगाल भी आ गया था। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त ने अपने विषय में दो उल्लेख किए है। एक तो यह कि गांधर्व विद्या में उसकी प्रतिभा के समक्ष तुम्बुरु और नारद भी लज्जित हो गए थे। इसके उपलक्ष्य में सम्राट ने गांधर्व ललित मुद्रा चालू की जिसे अंग्रेजी में लाइरिस्ट टाइप कहते है। इस पर वे वीणा बजाते हुए दिखाए गए हैं। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के अश्वमेध का भी उल्लेख है, जिसका प्रमाण उनके अश्वमेध की मुद्रा के रूप में पाया जाता है। समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी परमभागवत, महाराजाधिराज, दव श्री चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मुद्राओं के सौन्दर्य और विविधताओं में अपने पिता को भी पीछ छोड़ दिया। उनकी आठ भांति की मुद्राएं पाई जाती हैं, जो इस प्रकार हैं : धनुर्धर भांति, भद्रासन भांति, छत्र भांति, विक्रम भांति, अश्वारोही भांति, पर्यंक स्थित राजदम्पती भांति, इन्द्रध्वज भांति एवं चक्रविक्रम भांति। इन विविध भांति की मुद्राओं के अनेक प्रकार और भेद हैं। इस सम्राट की इन्द्रध्वज प्रकार की मुद्रा का केवल एक ही नमूना अब तक मिला है, जो काशी विश्वविद्यालय के कलाभवन संग्रह म है। सिंहविक्रम भांति की मुद्राएं अनेक प्रकार की और अति सुन्दर हैं। प्रायः सम्राट धनुष-बाण से सिंह का शिकार करते हुए दिखाए गए हैं। लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित एक मुद्रा पर वह हाथ में तलवार लिए हुए सिंह के सामने खड़े हैं। उसी संग्रहालय को अभी एक ऐसा नमूना प्राप्त हुआ है जिसमें बिना किसी

प्राचीन नगर : प्रयाग

प्रकाशचन्द्र गुप्त



अत्यन्त प्राचीन हमारा यह नगर है। युग-युगान्तर से गंगा और यमुना की धाराएं इसके चरण धोती आई हैं। सम्पूर्ण उत्तर भारत के तरंगाकुल जीवन का यह वौद्धिक केन्द्र रहा है। राजसत्ता के, व्यापारियों के, लुटेरों के, यात्रियों के कारवां निरन्तर यहां विश्राम के लिए रुके हैं, और आगे वढ़ गए हैं। नगर के बीच से अशोक का वनाया पुरुषपुर से वंगाल तक फैला राज-मार्ग आज भी हुंकार भरता हुआ निकलता है, नदी के विशाल पाट पर अव भी पूर्वकाल की भांति ही अतुल धनराशि और वाणिज्य का विनिमय चलता रहता है। सम्राट और यात्री आज भी गंगा और यमुना के मिलन-स्थल पर मोक्ष की कामना से सिर झुकाते हैं।

प्राचीन नगरों में 'उदासी, तपोव्रत धारी' यह नगर है। अनेक महान सम्राटों की राजधानी इस पुण्य भूमि पर रही है। कुछ मील दूर पर ही उदयन की राजधानी कोशाम्वी यमुना के तट पर वसी थी। यहीं तथागत के आगमन के उपलक्ष्य में कोशाम्वी के श्रेष्ठिपुत्र ने सुप्रसिद्ध घोषिताराम संघ वनवाया था। अशोक का एक सुप्रसिद्ध स्तम्भ प्रयाग में है और एक कोशाम्वी में। गंगा के पार प्राचीन काल का विख्यात नगर, प्रतिष्ठान, वसा था जिसके ऊंचे-ऊंचे ढूह ही अव गंगा के कगारों पर स्मारक रूप में खड़े हैं। दूसरी दिशा में अनेक खण्डहरों के वीच कड़ा के अवशेष हैं, जो खिल्जी वंश के विचित्र व्यापारों की याद दिलाया करते हैं। पुराने वुर्ज पर काल के प्रहरी की भांति खड़े हो कर हम गंगा के अविरल प्रवाह को देखते हैं, जहां वीच धार में अलाउद्दीन खिल्जी ने अपने चचा सम्राट जलालुद्दीन का आलिंगन करते हुए उसे मार कर नदी में वहा दिया था। यहीं सन्त मलूकदास की समाधि है, जिनकी वाणी आज भी जनता की स्मृति में गूंजती है—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गए, सवके दाता राम॥

प्रति वर्ष मलूकदास के वंशज उनकी पांडुलिपियों के पत्र भक्ति-भाव से गंगा की भेंट चढ़ाते हैं और इस प्रकार स्वर्ग में अपने लिए स्थान सुरक्षित करते हैं।

गंगा और यमुना का संधि-स्थल भी कितनी ऐतिहासिक स्मृतियों का कोष है। अकवर के वनवाए लाल किले के नीचे से यमुना निकलती है। और भी लाल किले यमुना ने अपने अविरल प्रवाह में देखे हैं, दिल्ली का श्रीसम्पन्न लाल किला, जहां दीवाने आम है, दीवाने खास है, और कभी तख्ते ताऊस था; आगरे का लाल किला, जहां से वंदी शाहजहां ताज महल को दूर आकाश पर देख कर उसांसें लिया करते थे, और फिर यह इलाहावाद का लाल किला, जहां मुगलों के वैभव और श्री की कोई भी और यादगार नहीं, जहां अशोक स्तम्भ है और अक्षय वट है और कुछ

वर्ष पूर्व विदेशी सेनाओं का पड़ाव था। केवल अकबर की याद यह लाल किला हरी करता है। न यहां मोती मस्जिद है, न दीवाने खास, जिसकी दीवारों पर कवि कल्पना के ये शब्द खुदे हैं—'यदि पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग है, तो यहीं है, यहीं है, यहीं है!'

किले के नीचे से यमुना निकलती है और कुछ ही दूर आगे गंगा की गोद में अखण्ड विश्राम पाती है। दूसरी ओर से गंगा अनेक देश, वन, राज्य, शताब्दियां पार करती हुई आती है और यमुना से मिल कर मानो क्षण भर के लिए संगम-स्थल पर इसकी गति विश्रान्ति पाती है। संगम पर महाराज हर्ष बार-बार अपने राजकोष का धन, अपना राजदण्ड और मुकुट तक भिखारियों को भेंट कर देते थे। बड़े-बड़े आचार्य और पंडित यहां जुड़ते थे और जीवन और मृत्यु के कठिन विषयों पर वार्तालाप करते थे। विदेशों के ज्ञानी भी इन वार्ताओं में शामिल होते थे। अब भी यहां बड़े-बड़े योगी और संन्यासी आते हैं, किन्तु ऐसे साधुओं के सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास ने कहा था—

निराचार सो स्रुति पथ त्यागी, कलिजुग सोई ज्ञानी, वैरागी।
जाके नख अरु जटा बिसाला, सोई तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥

हाल ही में संगम ने जो दो प्रसिद्ध दृश्य देखे, उनमें एक था महात्मा गांधी का अस्थि-प्रवाह और दूसरा था सन् १९५४ का महाकुंभ। इस महाकुंभ में मोक्ष के अनेक महत्त्वाकांक्षी अनायास ही अपना इच्छित वरदान पा गए थे। काल के महाप्रवाह में असंख्य बह चुके हैं, उनकी क्या गिनती की जाए। किन्तु राष्ट्रपिता की अन्तिम यात्रा का अवसाद इतिहास आसानी से न भुला सकेगा। उस शोक के महासागर में, हमने देखा, अगणित डूबते और उतराते थे। महान ज्योति को कुटिल मनुष्य ने अपनी फूंक से बुझाना चाहा था, किन्तु ज्योति अधिक प्रज्वलित हो कर जलती रही और कुटिल मनुष्य स्वयं बुझ गया।

प्राचीन नगर इस दृश्य को कभी न भूलेगा। एक असीम मानव महानद चारों दिशाओं से उमड़ कर संगम स्थल पर पहुंच रहा था। उस दिन कोई ऐसा न था जिसका कण्ठ आर्द्र न हो, जिसके नेत्र सूखे हों। राष्ट्रपिता के शोक में डूबे सम्पूर्ण राष्ट्र का ही मानो यह महाप्रयाण था। इसी पीढ़ी ने गांधी की अन्तिम यात्रा देखी है। इस यात्रा में वह मानो बुद्ध और ईसा की अन्तिम यात्रा ही देखती है।

इतिहास की स्मृतियों से भरे इस नगर की तुलना हम किन प्राचीन नगरों से करें? रोम, एथेन्स, दिल्ली से, अथवा बाबुल, पोम्पेआई, मोहेनजोदड़ो और कोणार्क से? बाबुल, पोम्पेआई और मोहेनजोदड़ो के केवल चिह्न ही अब बचे हैं। रोम और दिल्ली के समान साम्राज्य के खण्डहर यहां नहीं हैं, परन्तु गंगा के जल के समान निर्मल और स्वच्छ प्राचीन ज्ञान-संस्कृति की परम्परा यहां चिरकाल से बहती हुई चली आ रही है। इसी पुण्य सलिला में 'मज्जन पान' के लिए लालायित ज्ञान और मुक्ति के आकांक्षी यात्री यहां सदा से जुड़ते आ रहे हैं। गंगा की धारा के समान ही वेग-वाहिनी और निर्मल संस्कृति की अखण्ड, अविरल धारा यहां बहती रही है।

पृथ्वी से ही बादल आकाश में उठते हैं और जल की बूंद बन कर फिर पृथ्वी को ही लौटते हैं, उसे उर्वरा बनाते हैं और धन-धान्य से परिपूर्ण करते हैं। वर्षा के जल के समान ही स्निग्ध और पवित्र ज्ञान और संस्कृति की धारा मनुष्य जीवन को धन्य और समस्त वैभव से परिपूर्ण बनाती है। यह धारा भी पृथ्वी से ही फूट कर फिर उसे समृद्ध बनाती है। भारतीय संस्कृति की अनेकरूपी धाराओं का संगम इस नगर में हुआ है, और यही इस नगर की महिमा है।

इस नगर में अनेक उपनगर हैं और उनके अपने अलग इतिहास हैं। पूर्व में गंगा के ऊंचे कगारों पर बसा दारागंज है, जहां के पण्डे और यात्री हमें हरिद्वार और काशी की याद दिलाया करते हैं। यहां नाई यात्रियों के बाल मूंडा करते हैं, पुण्यार्थी गंगा में नाक बन्द करके डुबकी लगाया करते हैं, दूकानों पर चूड़ियों, टीका-बिन्दी और यज्ञोपवीत की बिक्री बड़ल्ले से होती है। यहां से अकबर का बनवाया बांध दोनों दिशाओं में फैलता है। एक बाहु से लाल किला और दूसरी से बघाड़ा अपनी गोद में समेट कर गंगा के प्रबल प्रहारों से वह नगर की रक्षा करता है। वर्षा में जब बाढ़ के जल से अधीर गंगा हुंकार करके बांध पर टूटती है, तब मानव विश्वकर्मा का प्रतीक यह बांध अयास ही उस उमड़ती धारा को अपने चरणों से पीछे ठेल देता है।

दक्षिण में नख्खास कोने से बहादुरगंज तक फैला पुराना मध्ययुगीन बादशाही नगर है। इसी नगर के बीच से भारतीय इतिहास का वह विख्यात राजमार्ग निकलता है जिसे अशोक ने बनवाया था और शेरशाह ने जिसका कायाकल्प किया। इस भाग में तंग गलियां हैं, अंधकार है, सीलन, बदबू और गरीबी है, अंधविश्वास है, अशिक्षा का अभिशाप है। विरासत के रूप में इतिहास ने यह सब विपन्नता भी इस नगर को दी है। यहां दारा शाह अजमल है, इनामबाड़ा स्याह मुर्ग है, पुराने कारीगर हैं, पंक में सड़ती हुई मानवता है जो कमल के फूल के समान खिल उठने की आतुरता में आलोक की प्रथम रश्मियों की प्रतीक्षा कर रही है।

उत्तर में नए उपनगर हैं; कटरा, कर्नलगंज और फाफामऊ की दिशा में फैलती हुई बस्तियां। वहां से पश्चिम की ओर बढ़ती हुई गंगा की भुजा नगर का कण्ठहार बनी है। द्रौपदी घाट, रसूलाबाद, फाफामऊ, बघाड़ा, नाग वासुकि और दारागंज धनुष के समान गोल हो कर यह हीरकन्सी 'नव-उज्ज्वल जल-धार' हमारे नगर के गले में लिपटी है।

और फिर एक और भी उपनगर लूकर गंज से डग बढ़ाता हुआ बमरौली की ओर बढ़ रहा है।

इन सभी उपनगरों का पुंज हमारा यह नगर है। प्राचीन और नवीन का यहां अद्भुत मिलन हम पाते हैं। जैसे गंगा का जल चिर पुरातन होते हुए भी चिर नवीन है। उसी प्रकार हमारे नगर का जीवन भी अति प्राचीन होते हुए अति आधुनिक भी है।

बहुत प्रशान्त यहां का जीवन है। कलकत्ता, बम्बई अथवा कानपुर के समान नए नगरों का कोलाहल और हाहाकार हम यहां नहीं पाते। सदियों से बहती आई हमारी प्राचीन संस्कृति ने आत्माभिमान से जीवन बिताने की कला हमें सिखा दी है। इस कला को दो जातियों ने इतिहास से अच्छी तरह सीखा है, हमने और हमारी पड़ोसी चीनी जाति ने। अब अन्य अनेक जातियां भी इस शिक्षा को ग्रहण कर रही हैं।

दूर-दूर तक फैला, मुक्त वायु और आकाश का आलिंगन करता हुआ, बागों और हरे खेतों का परिधान पहने हमारा यह सुन्दर नगर अनेक सदियों से फलता-फूलता रहा है। इतिहास ने जब हमारे देश में आंखें खोली थीं, लगभग तभी इसका जन्म हुआ था। ऋषि भरद्वाज ने इसे अपने ज्ञान-संचय का केन्द्र बनाया। अशोक, उदयन और हर्ष के चरण-चिह्न यहां की भूमि में अंकित हैं, युआन च्वांग के समान ज्ञान के खोजी यहां चिरकाल से आते रहे हैं, अकबर और राजकुमार खुसरो के प्रसिद्ध स्मारक यहां हैं, प्रत्येक दिन, प्रति क्षण और प्रति पल इतिहास की स्मृतियों के सम्मुख नतमस्तक यात्री यहां आया करते हैं।

मध्ययुगीन निद्रा से जाग कर इस प्राचीन नगर ने भी आधुनिक युग के आलोक में करवट ली है। विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्षों में इसने प्रमुख भाग लिया है। अनेक महान पंडित और आचार्य आज भी इस भूमि में जन्म लेते हैं और मानो सूर्य के रथ के पहियों तक उनके यश की

छाया फैलती है। यहां सुप्रसिद्ध न्यायालय है, विश्वविद्यालय है, ज्ञान और विज्ञान के अनेक केन्द्र-स्थल है, जो संस्कृति की धारा को निरन्तर समृद्ध बनाते है।

प्रशान्त, गहर गम्भीर, स्निग्ध यहां जीवन का प्रवाह है। बीच-बीच मे धारा में भंवर बनते है, जीवन में उद्दाम वेग आता है, फिर धारा अपने धीर-गम्भीर निश्चित डगों से आगे बढ़ती रहती है। इस नगर के प्राचीन, ऐतिहासिक जीवन की धारा मानो सतत प्रवाहिनी गंगा की धारा के ही समान है, जो चंचल, चपल चरणों से शैशव में किलकती हुई बढ़ी थी, किन्तु जो इन दूर क्षितिज तक फैलते मैदानों में आ कर शान्त और मंथर गति से बह रही है। हमारी प्राचीन संस्कृति की यह अखण्ड, अविरल धारा ज्ञान के विशाल, असीम सागर से मिलने के लिए आतुर निश्चित डगों से आगे बढ़ती है। उस भविष्य की ओर हमारे नेत्र उठ रहे है। हम भी इस धारा के अंश बन कर, बूद के कणों के समान समवेत में लीन हो कर आगे बढ़ते है।

—इलाहाबाद से प्रसारित

जब पति कवि हो

तेजी बच्चन



किसी कवि की पत्नी से उसके अनुभव सुनते समय आपके मन में कुछ ऐसी बात होगी कि वह शुरू-शुरू में अपने होने वाले पति की कविताएं सुन कर या पढ़ कर उसकी ओर आकर्षित हुई होगी। मगर एक निजी बात बताने के लिए आप मुझे क्षमा करेंगे। मुझे तो इसका पता भी नहीं था कि मेरे होने वाले पति कवि हैं, गो वे तब तक काफी मशहूर हो चुके थे। मेरा उनकी ओर खिंचाव हुआ तो उनके सहज मानवीय गुणों को देख कर ही। बाद में जब मैंने पाया कि वे कवि भी हैं तब तो मैंने अपने निर्णय के लिए अपने को भरपूर सराहा। कवि रूप में भी वे मुझे एक और अच्छे इनसान ही जान पड़े—ऐसे नहीं कि जो अपनी दुनियावी जिम्मेदारियों से संन्यास ले कर सिर्फ कविता किया करते हैं।

यह तो हुई मेरी निजी बात, और निजी रूप में मैं फिर दुहरा दूं कि कवि पत्नी होना पूर्व जन्म के अच्छे कर्मों का फल है। मगर कवि पत्नी होने का एक सामाजिक पहलू भी है और इस दृष्टिकोण से मैं कह सकती हूं कि कवि पत्नी होना कोई ईर्ष्या योग्य बात नहीं है। सभी की इच्छा होती है कि समय मिले तो कुछ सैर-सपाटे, नाटक-सिनेमा, पिकनिक आदि में दिलचस्पी लें। और ऐसे मौकों पर गैर-जरूरी बाधाएं किसी को भी अच्छी नहीं लगतीं, मगर जब पति कवि हो, तब आपका ऐसी आशा करना एकदम बेकार है। जिधर भी निकल जाइए, फुसफुसाहटें कानों में पड़ने लगेंगी—"फलां जी की पत्नी हैं, हां-हां! वे ही जिन्होंने फलां किताब लिखी है।" और इन फुसफुसाहटों मे हमेशा सही सूचना ही रहती हो, ऐसी बात नहीं। इन नीम-हकीमों की बदौलत आपको न जाने कितने कवियों की पत्नी कहलाना पड़ता है, और आपके पति को न जाने किन-किन की किताबों का लेखक। आपके लिए इसके सिवाय कोई चारा भी नहीं कि सुन कर अनसुनी करती जाइए।

यहीं तक होता तो भी गनीमत थी! असली मुसीबत तो आ खड़ी होती है तब जब तरह-तरह के लोग आपके बारे में वे-वे अजीबो-गरीब बातें जान जाते हैं जो आपको भी पता नहीं। खासकर अगर कोई मेरे पति जैसा प्रेम-गीतों की रचना करने वाला कवि हुआ, तो उसकी पत्नी की तो खैर नहीं। जितने ही कवि की रचनाओं के पाठक होंगे, उस कवि की उतनी ही जीवनियां बन कर तयार हो जाएंगी। शुक्र इसी बात का है कि वे सब जीवनियां खुद ही एक-दूसरी के इतनी खिलाफ पड़ती हैं कि अलग से कोई सफाई देने की जरूरत नहीं रह जाती।

दुनिया में शायद ही कोई ऐसा हो जो यह न चाहता हो कि लोग उसके बारे में चर्चा करें, उसकी जिन्दगी के बारे में जानें और इस तरह उसे कुछ महत्व मिले। मगर कवि पत्नी को मैं

इसका अपवाद बताना चाहूंगी। वह हरगिज नहीं चाहती कि लोग उसकी चर्चा करें, क्योंकि सच पूछिए तो उसकी चर्चा करता भी कौन है? वहां तो सब अपनी ही कल्पनाओं का खेल रहता है जो बेचारी कवि पत्नी के माथे मढ़ दिया जाता है। कवि ने एक दुख और निराशा का गीत लिखा नहीं कि भाई लोग ले उड़े.........फलां जी की 'लाइफ़' आजकल बहुत 'अनहैपी' है। कवि ने कहीं गरीबी और असहायता का ज़िक्र किया कि उसकी जीवनी में एक अध्याय जोड़ दिया गया कि पत्नी खर्चीली होने की वजह से कवि को अपने दिन गरीबी में काटने पड़े। वैसे इस प्रकार के लोगों की कल्पना-शक्ति की तारीफ होनी चाहिए, मगर उन्हें कम से कम इतना तो सोचना ही चाहिए कि कवि की एक मानसिक ज़िन्दगी भी होती है जहां वह दूसरों के या अपने ही काल्पनिक अनुभवों में जीता है, और उसकी रचनाओं के बारे में इस प्रकार के निष्कर्ष निकाल लेना इतना आसान नहीं होता जितना कि मामूली तौर पर लोग समझ बैठते हैं।

इस तरह आम लोग दो तरह की भूलें करते हैं, जिनसे हम कवि पत्नियों को काफी दिमागी परेशानी उठानी पड़ती है। यह दुहरी भूल दरअसल कवि के व्यक्तित्व को न समझ पाने के ही दो पहलू हैं। एक ओर तो उसे इस कदर 'कवि' मान लिया जाता है जैसे वह धरती पर बसने वाले अन्य मनुष्यों जैसा न हो कर कोई विशेष ढंग का प्राणी हो। ज़ाहिर है, इस तरह से सोचने वालों के लिए कवि का जीवन बड़ा ही रहस्यमय हो जाता है। अगर ऐसों को मैं घर का बजट, और उसकी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी की परेशानियों का लेखा-जोखा दूं,—क्योंकि मैं दे सकती हूं—तो उन्हें बड़ा ताज्जुब होगा। ताज्जुब के साथ एक तरह की निराशा भी होगी। कौन जाने वे कवि को अपने ही जैसा कमाता-खाता सामाजिक प्राणी जान कर उसका आदर करना भी छोड़ दें! खैर, यह तो एक हद हुई। दूसरी हद का ज़िक्र मैंने पहले ही किया। इस हद तक पहुंच कर लोग यह भूल जाते हैं कि कवि का एक कवि-व्यक्तित्व भी होता है, जिसमें लीन हो कर वह अपनी रचनाएं करता है। उस वक्त वह महज़ अपनी रोज़मर्रा की असलियतों को नहीं दुहराता, बल्कि अपने अनुभूतिपूर्ण मन की तसवीर उतारता है। इस हद पर पहुंच कर इन लोगों को कवि, जैसे कवि नहीं, डायरी लेखक लगने लगता है। और ऐसी दशा में उसकी पत्नी के बारे में लोग जो भी कल्पना चाहें करने लगते हैं, और वह बेचारी कर भी क्या सकती है; उसका पति कवि जो है!

एक बार की घटना है। उन दिनों हम इलाहाबाद में रहते थे। वैसे तो मैं अपने पति की रचनाएं प्रायः घर में ही सुन लिया करती हूं, मगर कभी-कभी सभा-सम्मेलनों में उन्हें कविता सुनाते देखना भी मुझे बहुत अच्छा लगता है। जब इतने लोग उन्हें सुनना पसन्द करते हैं तब मेरे लिए तो यह स्वाभाविक ही है। इलाहाबाद में जाड़ा आते ही कन्वोकेशन का मौसम आ जाता है। उन दिनों लगभग रोज ही किसी होस्टल या संस्था में मेरे पति का कविता-पाठ होता रहता था। एक दिन यूनिवर्सिटी यूनियन की ओर से सेनेट हॉल में एक बहुत बड़े कवि-सम्मेलन की तैयारी हुई। हिन्दी के सभी जाने-माने कवि उसमें आने वाले थे। यों ही मेरे मन में आया कि लाओ, आज मैं भी सम्मेलन में उनका कविता-पाठ सुनूं। मैं भी उनके साथ गई। वे मंच पर जा कर बैठ गए और मैं महिलाओं की सीटों में किसी पिछली पंक्ति में। मगर देखने वालों की नज़र भला चूक सकती थी? 'फलां की पत्नी हैं, फलां की पत्नी हैं' आदि कानाफसियां शुरू हो गईं। सच कहूं तो उस वक्त तो मुझे कुछ अच्छा ही लगा। आकर्षण का केन्द्र बनना किसे अच्छा नहीं लगता। मगर अपनी भूल तो मुझे तब महसूस हुई जब मेरे पति कविता पढ़ने के लिए मंच पर आए। उनके कविता शुरू करते ही एक निराला दृश्य उपस्थित हो गया। लोगों के कान उनकी ओर, और आंखें मेरी ओर। ज़ाहिर

है कि यह स्थिति कवि-सम्मेलन के ठीक से चलने मे बाधक हो रही थी। मुझे फौरन ही हॉल छोड देने का इरादा करना पड़ा। कविता सुनने की लाख इच्छा होने के बावजूद मै हॉल छोड़ कर बाहर निकल आई और वे अपनी कविता सुनाते रहे —

'प्रिय ! शेप बहुत है रात, अभी मत जाओ !'

जैसा मैने अभी कहा कि रोज़मर्रा की जिन्दगी मे वे किसी भी सामाजिक प्राणी की भांति रहते है, परन्तु इस जिन्दगी के ढर्रे से कभी-कभी हट कर भी चलते है। ये वे दिन होते है जब उन पर लिखने का जुनून सवार रहता है। उन दिनों कभी-कभी बड़ी विचित्र परिस्थिति हो जाती है। जैसे, मान लीजिए कुर्सियों पर रंग कराना है। मै पूछती हूं, "क्यों जी पेंटर आया है, रंग करा ले?" जवाब मिलता है "हूं।" मै कहती हूं, "मगर कल शाम ही इतने मेहमान आने वाले है, कुर्सिया कम नही पड़ जाएंगी ?" जवाब मिलता है "हू।" अजब आफत है, भला इस "हूं" का क्या मतलब है ! कहती हूं, "तो रहने दूं।" जवाब वही "हूं।" सचमुच उस वक्त ऐसा लगता है कि घर का सारा काम-काज छोड कर मै भी कविता करने लग जाऊं। परन्तु जिस तरह एक म्यान मे दो तलवारें नहीं रह सकती, उसी तरह शायद एक घर मे दो कवि भी नहीं रह सकते।

परन्तु ये मौके वे है जब वे रचना करने मे लगे हुए होते है। इस प्रकार जो मेरी परेशानी है, वही मेरे गौरव और अभिमान का कारण भी है। इन्हीं क्षणों मे वे जो कुछ करते हैं, उसके कारण उन्हे और मुझे भी एक खासियत मिलती है। नहीं तो आम तौर पर तो उनमें और किसी भी सामान्य पति में कोई भी अन्तर नही और मुझे भी अकसर सबों की तरह यही कहना पड़ जाता है कि 'अच्छा भई, चलूं, अब समय हो गया है, वो आने वाले होंगे।'

—दिल्ली से प्रसारित

नई कविता की सीमाएं

डा० इन्द्रनाथ मदान



नई कविता का स्वरूप क्या है—जब तक इसे स्पष्ट नहीं कर लिया जाता, इसकी सीमाओं के सम्बन्ध में कुछ कहना अनुचित होगा। नई कविता एक ओर केवल प्रगतिवादी काव्य नहीं है, और दूसरी ओर केवल प्रयोगवादी काव्य को भी नई कविता की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए एक आलोचक का मत है कि नई कविता समूह और समाज के दायित्व को स्वीकार करते हुए वैयक्तिक स्वतन्त्रता को जीवन के विकास के लिए मूल सिद्धान्त मानती है; वह जीवन के निरपेक्ष मूल्यों की अपेक्षा, उसकी सापेक्ष वस्तुस्थिति द्वारा व्यक्त मूल्यों के प्रति आस्था का नया निर्माण करना चाहती है; वह शास्त्रीय काव्यगत मूल्यों की अपेक्षा मानव सत्य और मानवीय संवेदनाओं पर बल देना चाहती है; वह मानव जीवन के बदलते हुए संदर्भों को नए मानदण्ड प्रदान करना चाहती है; उसमें ऐतिहासिक सत्य तथा वैयक्तिक कुण्ठाओं का समावेश है। इस प्रकार नई कविता की परिभाषा में एक ओर समूह तथा समाज का दायित्व है, और दूसरी ओर वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए आग्रह है; एक ओर ऐतिहासिक सत्य को ग्रहण करने की बात है, तो दूसरी ओर वैयक्तिक कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति है; एक ओर प्रगतिवाद का स्वर ध्वनित होता है, तो दूसरी ओर प्रयोगवाद की मान्यताओं को स्वीकार किया गया है।

प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद के मूल में जो दो परस्पर-विरोधी विचारधाराएं हैं, उन्हें समन्वित करने का प्रयास नई कविता का उद्देश्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसकी मूल प्रवृत्ति विद्रोह की प्रवृत्ति है, परन्तु विद्रोह का स्वर तो छायावादी काव्य की भी मूल प्रवृत्ति थी। इन दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि नई कविता का स्वर केवल सामान्य की वस्तु न हो कर व्यक्ति सत्य बन कर उभरा है, वह शाश्वत सत्य न होते हुए स्थिति सत्य है। परन्तु छायावाद की मूल प्रेरणा भी व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन है। नई कविता में उन प्रतीकों, बिम्बों और साधनों का प्रयोग किया गया है जो यथार्थ जीवन से उपजे हैं। उनका सीधा सम्बन्ध उस वैयक्तिक भाव-स्तर से है जो प्रत्येक क्षण के सार्थक अस्तित्व के साथ आन्दोलित होता है। नई कविता का विश्वास उस मानव के प्रति है जो लघु होने के साथ-साथ अपने प्रति जागरूक है। नई कविता के लघु परिवेश में उस छोटे से छोटे क्षण के प्रति आस्था है जिसे महत्वहीन समझ कर अवहेलना की दृष्टि से देखा जाता है। मेरी दृष्टि में नई कविता प्रगतिवादी काव्य के प्रति इसलिए विद्रोह करती है कि उसमें समूहवादी चेतना मानवीय चेतना को अपना नहीं सकी है; और प्रयोगवादी काव्य इसलिए अस्वीकार करती है कि उसमें सामाजिक दायित्व का अभाव

है। परन्तु दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास—चाहे वह कितना ही प्रेय तथा श्रेय क्यों न हो—अभी तक सफल नहीं हो पाया है।

नई कविता की उपलब्धिया इसकी सीमाएं वन कर आई है। इसकी विशेषताओं ने इसके अभावों का रूप धारण कर लिया है। इसकी सवसे वड़ी सीमा इसकी गद्यता है, जिसका समर्थन वौद्धिक चेतना के आधार पर किया गया है। यह ठीक है कि काव्य में विचार तत्व का समावेश सदैव से चला आया है, परन्तु जव कोई काव्य रचना केवल विचारों का वाहक वन जाती है तो उसे गद्य रचना की संज्ञा देना अधिक उचित जान पड़ता है। गद्य में रागात्मकता का अभाव नही होता और पद्य में वौद्धिकता निषिद्ध नही है। परन्तु दोनों में अन्तर इस आधार पर निश्चित हो सकता है कि गद्य विचार-प्रधान होता है। यदि नई कविता को गद्य का नया तथा विकसित रूप मान लिया जाए तो मुझे कोई आपत्ति नही है। इसलिए मैं नई कविता की सवसे वड़ी सीमा इसकी गद्यता को मानता हूं। इसके जीवन-दर्शन से मेरा कोई मतभेद नहीं है। नई कविता की गद्यता अभिव्यक्ति की दृष्टि से इसका अभाव है। यथार्थवादी मान्यताओं के फलस्वरूप इसे जीवन के ठोस धरातल पर उतारा गया है जो अधिक सत्य जान पड़ता है। यह ठीक है कि छायावाद की असीम कोमलकान्त पदावली यथार्थ भाववोध के सामने धुएं की तरह उड़ जाती है। परन्तु नई कविता के इस प्रयास मे काव्य की रागात्मकता अस्त-व्यस्त हो गई है और गद्यात्मकता शेष रह गई है। इसका क्षेत्र सीमित हो गया है। कवि केवल अपने लिए और अपने छोटे-से वर्ग के लिए कविता लिखने लगा है। उसका कहना है कि जो काव्य भाव-प्रधान है या भावुकता से ओत-प्रोत है, वह जड़ है। परन्तु वह भूल जाता है कि जो काव्य बुद्धि-प्रधान है और कोरी वौद्धिकता से ओत-प्रोत है, वह गद्य है। यहां पर मैंने नीरसता के प्रश्न को जानवूझ कर नहीं उठाया, क्योंकि नई कविता के समर्थकों ने बुद्धिरस की भी कल्पना कर ली है। यह आधुनिक युग की देन है और इसे दसवें रस की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार बौद्धिकता जो गद्य साहित्य की विशेषता है, नई कविता की सीमा है।

इसकी दूसरी सीमा जीवन तथा मानव की लघुता का वोध है। नई कविता वालों का आग्रह है कि मनुष्य में बौनेपन की स्वीकृति का स्वर उनका स्वर है। छोटी बातों को छोटे मानवीय वृत्त में व्यक्त कर जीवन का साक्षात्कार संभव है। नई कविता लघु मानव की लघुता में ही चक्कर काटने लगी है, इसकी संकीर्णताओं में उलझने लगी है, लघु मानव के लघु परिवेश में उसकी लघुता की संभावनाओ को व्यक्त करने लगी है। अहंवादी होने के कारण वह सामाजिक दायित्व से निरपेक्ष है। यह ठीक है कि समस्या अहं और समाज की नही है, व्यक्ति और समाज की है। सामाजिक दायित्व को निभाने वाला व्यक्ति अहंवादी हो सकता है। परन्तु अहं और व्यक्ति मे के अन्तर को भूल जाना नई कविता की सीमा है, इसकी उपलब्धि नही है।

यह भी नई कविता का दावा ठीक है कि आज के युग में व्यक्ति की नगण्य मानता भौतिक आदर्श का विघटन है; परन्तु व्यक्ति सत्य को सर्वस्व स्वीकार करना ही उस व्यापक सत्य से विमुख होना है कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। स्वतन्त्र व्यक्तित्व को स्वीकार करना एक अति है और सामाजिक अस्तित्व को सर्वस्व मानना दूसरी अति है। नई कविता सामाजिक दायित्व को स्वीकार करते हुए प्रायः उससे आंखें वन्द किए हुए है। इसकी कथनी और करनी में अभी अन्तर है। जव तक यह अन्तर रहेगा नई कविता की सीमाएं नही टूटेंगी, इसका विकास नही हो पाएगा। नई कविता का जीवन-दर्शन स्वस्थ है, व्यक्ति और समाज में समन्वय की भावना की अभिव्यक्ति श्लाघ्य है, परन्तु जव तक इस संतुलन की अभिव्यक्ति काव्य रचनाओं में नहीं आती, जव तक कवि अहं की संकीर्णताओं से निकल कर व्यक्ति सत्य

तथा समाज सत्य में सामंजस्य स्थापित नहीं कर लेता, जब तक उसकी निजी कुण्ठा स्वयं परिष्कृत नहीं हो जाती, तब तक उसकी कथनी और करनी में अन्तर कायम रहेगा।

नई कविता की स्थापनाओं तथा इसकी रचनाओं में उक्त अन्तर के आधार पर इसकी सीमाओं को पूरी तरह समझा जा सकता है। इसकी सीमाएं इसकी सम्भावनाओं की ओर संकेत करती हैं, इसकी अकुलाहट तथा बिखराहट ही इसके विकास की परिचायक है। मैं नई कविता का विरोधी नहीं हूं; इसका पक्षपाती होने के कारण इसकी सीमाओं से अवगत हूं: जीवन में सौन्दर्य के नए धरातलों तथा भाव के नए स्तरों को व्यंजित करने वाली नई कविता का स्वागत करने वाला हूं।

—जालन्धर से प्रसारित

दर्द कहां नहीं है

दिनकर सोनवलकर



दर्द कहां नहीं है ?
एक जगह हो
तो बतलाया भी जा सकता है
एक वजह हो
तो समझाया भी जा सकता है
कितने ही स्थानों पर
कितने ही कारण से
दर्द उठा करता है
दर्द जगा करता है
फिर हर एक दर्द
बतलाने लायक होता नहीं
कुछ खास दर्द ऐसे हैं
जिनके लिए जगत में
कोई श्रोता नहीं।

कुछ दर्द महज सहने के हैं
कुछ दर्द सदा रहने के हैं
थोड़े से जो दर्द ऊपरी, अस्थायी हैं
बस वे ही तो कहने के हैं।
बाकी दर्द सहेज रखो
सबकी आंखों से भरे दिखो
जब लगे तनिक रीता-सा
अनगिन दर्द समेट चलो
सबसे खुल कर ही भेंट चलो
ऐसे ही कितने दर्द, मीत,
हर घर में हैं
हर उर में हैं
गांवों में,
और शहर में हैं।

—भोपाल से प्रसारित

जले न बुझे

लक्ष्मी टण्डन



लकड़ियां जैसे पानी हो गई हों। धौंकते-फूंकते श्यामा परेशान हो गई, पर वे जलने का नाम ही न लेती थीं। झल्ला कर उसने पंखी पटक दी और पास रखे लोटे से हाथ धोती हुई चौके से बाहर निकल आई। दोनों हाथों से देर तक आंखे मल कर एक बार उसने कड़वी निगाह से चूल्हे की ओर देखा। एक हलकी-सी लौ नीचे की लकड़ियो को पकड़ कर ऊपर उठ रही थी। उसने नल खोल कर अंजली भर-भर पानी के छींटे आंखों पर दिए, जो उसकी धुएं भरी पुतलियों पर मिर्च से लगे। कुछ स्वस्थ हो कर जब उसने फिर देखा तो लकड़ियां होली की तरह धू-धू जल रही थीं। शांति की ठण्डी सांस ली उसने। और मुड़ कर चौके में जाना ही चाहती थी कि नल के नीचे जमा बरतनों को देख कर जी कुढ़ गया—घर के सारे काम मेरे ही नाम को रोते रहते है। अभी दस मिनट में सबको स्कूल की देर होने लगेगी, दादी तिखरा-तिखरा कर पूछने लगेंगी, भोग लगा दिया भगवान को? और थाली कटोरी, गिलास, सब जूठे पड़े हैं। अम्मा को ले जाना था ले जाते, पर भगेलू को ले जा कर तो बाबू जी ने बड़ी मुसीबत कर दी है। और यह शहर है मरा, जैसे गांव भी न होंगे। ढूढ़ने से महरी तक न मिली। हुंह!····टीन के डिब्बे में रखी राख घसीट कर वह नल के पास उकडूं बैठ गई और जल्दी-जल्दी बरतन मांजने लगी।

कटोरी पर राख मलते-मलते वह हड़बड़ा कर उठ खड़ी हुई। कहीं कोई चीज जल रही थी। भिगौने की दाल उबल-उबल कर चूल्हे के किनारों पर गिर रही थी, उसी की जलायंध आ रही थी। "ललिता!" हाथ में जूना-कटोरी पकड़े वह चिल्लाई, पर कोई जवाब नही आया। "ललिता!" उसने बहुत ही क्रोध से पुकारा।

"क्या है?" साथ वाले कमरे से उपेक्षा भरा स्वर आया।

"क्या है?" श्यामा ने विकृत करके शब्दों को दोहराते हुए खिसियानी आवाज मे कहा, "यहां आने की तकलीफ न करना!"

उसी तरह सने हाथों श्यामा खड़ी रही। दाल खौल-खौल कर गिरती जा रही थी। तुरन्त, ललिता नहीं आई। कटोरी पटक कर श्यामा अपनी खीझ व्यक्त करने ही वाली थी कि ललिता आ कर खड़ी हो गई—नाक चढ़ाए, चिढ़ी-सी। और जैसे चौके की दीवारों ने उसे पुकारा हो, वह खड़ी-खड़ी उन पर जमी कालिख की मोटी पर्त पर नजर लगाए रही। बड़ी घृणा और व्यंग्यभरी उपेक्षा से श्यामा ने उसे घूरा, जैसे निगाहों से कहना चाहती हो कि मुंह खोल कर पूछ लिया करो कि क्यों बुलाया है? यह मेरी ड्यूटी नहीं है कि इस इन्तजार में तुम्हारा मुंह निहारती रहूं कि अब बोलो तब बोलो।......अपने चेहरे पर बड़ी बहन की तीखी दृष्टि का अनुभव ललिता

को हुआ, पर वह बोली नहीं। सोचती रही—बड़ी बहन होना भी कितना अविकारपूर्ण पद है। पेंटिंग बना रही थी, चिल्ला कर उठा दिया; और अब बताती ही नहीं कि क्या काम है? थोड़ी देर वैसी ही खड़ी रह कर वह जाने को मुड़ी तो श्यामा ने स्वर को कठोर करके कहा, "मुंह तकने के लिए नहीं पुकारा है तुम्हें। ज़रा हाथ-पैर चलाओ। यह धुले बरतन उठा कर ठिकाने रखो और चौकी-पटरे रखो खाने के लिए, सब काम मैं ही नहीं कर लूंगी। केले के पत्ते कटे ही नहीं हैं, सुराही खाली पड़ी है, बुढ़िया तरकारी दे गई है, लावारिसों की तरह पड़ी है—उठाए तो दीदी ही उठाए। तुम लोग तो···"

बड़ी बहन के लम्बे व्याख्यान को खट से वहीं तोड़ ललिता ने झुक कर बरतन उठाने शुरू कर दिए। अविकार के प्रति उपेक्षा का भाव, उसके मुंह पर थोड़ा और गहरा हो गया। यह कांटा फिर श्यामा के मन को चुभा—आप बराबर की हैं, नहीं तो अभी दो थप्पड़ मार कर गाल लाल कर देती, बदतमीज़!······उसके अहं ने सोचा। पर बिना कुछ कहे उसी वेधक दृष्टि से ललिता की चेतना को चीरती-सी, वह बड़बड़ाती हुई चौके में चली गई।

अभी ललिता ने कमरे में आकर ब्रश पकड़ा भी न था कि श्यामा बड़बड़ाने लगी, "दिखाई नहीं देता तो यहां की उथल-पुथल में क्यों धंसी आती हो दादी। ज़रा देर सबर करो। भोग लगा कर तुम्हारी थाली वहीं पहुंचा दूंगी"—उलटी कठौती की पीठ पर रोटी की राख झाड़ती हुई वह झल्ला रही थी। ललिता ने अन्दाज़ा लगाया, अंधी दादी अपनी रोज़ की आदत के मुताबिक पहुंच गई होगी रसोई तक टटोलती-ढकेलती। 'होगा', उसने सोचा। और रंगों के चुनाव में खो गई। जितना समय स्कूल से उसे इस पेंटिंग को समाप्त करने के लिए दिया गया था, वह पहले ही आवश्यकता से कहीं कम था और फिर यदि वह ऐसी हर बात पर कान देने लगती तो गाड़ी एक इंच भी आगे खिंचने की सम्भावना न थी। वह सोच ही रही थी कि पत्तियों में कौन सा हरा दूं कि श्यामा ने रोनी आवाज़ में पुकारा, "नन्हें!" बुलाहट से स्पष्ट था कि वह हद से अधिक खीझ चुकी है। ललिता ने अपना सारा सामान समेटा, प्यालियां संभालीं, और दबे पांव दालान में निकल आई।

"नन्हें!" रसोई से फिर क्रुद्ध पुकार सुनाई दी। यह जानते हुए कि नन्हें भइया को बुलाने जाना कितने झंझटों का सूत्रपात कर सकता है, ललिता उठने तो क्या, बोलने तक को तैयार न थी।

आटा सने हाथों श्यामा बाहर निकली। कमरे तक आ कर जैसे चोर पकड़ने की-सी तत्परता से बुलाया, "ललिता!" परदा हटाया। कमरे में कोई नहीं था। पैर पटकती हुई वह नन्हें के कमरे तक गई और मन का सारा उबाल उस पर उतारा, "जाने सब लोग कहां बिलों में घुसे रहते हैं, कोई बोलता ही नहीं। बार-बार चौके से निकलना पड़ता है।" और जैसे चौके की छूतछात भाई-बहनों की लगाई हुई ही हो, मुंह पर घृणा भरा असन्तोष ला कर, हाथ को झटका दे कर बुदबुदाई, "यह और एक मुसीबत मेरे सिर धर गई है अम्मा। चलो न खाने, मेरा मुंह क्या धर रहे हो? स्कूल जाना है तुम लोगों को, और समय की बार-बार याद दिलानी पड़ती है मुझे। न देखे ऐसे पढ़ने वाले···" बड़बड़ाती हुई वह फिर चौके में लौट गई।

ललिता दालान में बैठी अपना काम करती रही। श्यामा का गुस्सा, उसकी झल्लाई हुई बातें मन से निकाल कर शांत चित्त से वह उसमें खोई हुई थी। पानी की ज़रूरत हुई। एक लम्बा चक्कर काट कर वह बगीचे के नल से पानी ले आई। दीदी के चढ़े हुए पारे की तरह बेकाबू स्वभाव का ध्यान करके।

श्यामा रोटियां सेंकती जा रही थी और चौके में ही कुछ फासले पर बैठी हुई दादी को दे देती। फिर दूसरी रोटी बेलने लगती। दादी ने भरे हुए मुंह से गवर-गवर करके कहा, "धुआं कितना है सामा, सांस नहीं ली जाती।"

"तो दुनिया भर का पाखण्ड क्यों करती हो? कहा कि साथ वाले कमरे में जहां सब खाते हैं बैठकर खाओ, तो तुम्हरा धर्म बिगड़ता है। फिर हम क्या करें?" श्यामा रोष में चिमटे की राख झटकारती हुई कुड़कुड़ाई।

"अरे बिटिया, अब ये संस्कार इस जनम में तो तन-मन से छूटेंगे नहीं, हमारी बची ही कितनी है।" अंधी आंखों को अन्दाज़न श्यामा की ओर केन्द्रित करके दादी हाथ का कौर हाथ में रोक कर बोली।

नन्हें खाने आ गया। बात वहीं छूट गई। श्यामा ने कहा, "सब रोटियां सेंक लीं तब आए—मुझे क्या? खाओ ठंडी।···अरे शीला! ललिता! ओ शीला?" उसने पुकारा और हाथ धो कर चौके से बाहर निकली। केले का एक साफ-सा पत्ता नन्हें को खाना परसने के लिए रखा। पानी दिया और एक बार फिर चिल्लाई, "घर में हो भी तुम लोग कि चली गई घर छोड़ कर, बोलती ही नहीं।"

"क्या है?" स्कूल का कपड़ा निकालते हुए, हाथ का ब्लाउज़ बक्स पर पटक कर शीला ने पूछा।

"जवाब भी दोगी तो सवालों में!···कुआं खोदना है—" श्यामा ने तड़प कर व्यंग किया। दादी से बोली—"अब बैठो और थोड़ी देर धुएं में। परसने से छुट्टी पाऊं तो हाथ धुला कर कमरे तक पहुंचाऊं। वे लोग तो सुनेंगे नहीं। जी बिलकुल दुखी हो जाता है।"

वह नन्हें को खाना देने लगी। ललिता और शीला तैयार हो कर पास वाले कमरे में आ गई थीं। शीला चौके तक आ कर धीरे से दादी से बोली, "खा चुकी हो दादी, तो हाथ धुलाऊं?"

दादी कुछ बोले, इसके पहले ही श्यामा गरजी, "रहने दीजिए मेम साहब, स्कूल को देर होगी। यह तो मेरा काम है।" और कलछी जोर से पटक कर रखती हुई वह चौके से निकल आई। फिर दबी जबान कई बार ललिता, शीला ने कहा, "दीदी, चलो परोस दो", तब कहीं भुनभुना कर वह उन्हें खाना देने गई।

सारे दिन ज़रा-ज़रा सी बात श्यामा का गुस्सा उभाड़ती रही। मन में खिसियाहट भरी थी। ललिता को फैशन के बहाव में पढ़ाई-लिखाई ताक पर रख देने के लिए डांट दिया, शीला को दिन भर किताबें चाटने की निकम्मी आदत के लिए भला-बुरा कह दिया, लड़का होने का घमण्ड करने और हाथ से गिलास तक न उठाने की बात ले कर नन्हें को कड़ी-कड़ी बातें सुना डालीं, बे-बात अंधी दादी से उलझ पड़ी। बार-बार वह सोचती, क्यों मै इन सबके लिए मरी जाती हूं, जब ये मेरी आधी बात तक मानने में नाक-भौं सिकोड़ते हैं, भौंहें चढ़ाते हैं। समझते हैं, मै तो बिलकुल बुद्धू हूं। सारी पढ़ाई कर ली, पर एक दिन यह न सोचा कि चटक-मटक कर क्लास में जाऊं। और ये लोग हैं कि घर की परिस्थितियां तो दरकिनार रोज़ चाहिए नए-नए जूते, नई साड़ियां, नए पतलून। कुछ समझाओ, कुछ पूछो, मुंह पर पड़ जाएंगे ताले—बोल नहीं फूटेगा!···करें जो करना है, वहें नए फैशनों के साथ, पर किसी को कुछ समझें तो।

दिन भर में सौ बार श्यामा ने मनाया होगा कि अम्मां और बाबू जल्दी से घर आ जाएं। यह जिम्मेदारी तो हटे सिर से।

दिन की नींद पूरी करके शाम को उसकी आंख खुली तो देखा, चाय आ गई थी। ललिता तरकारी काट रही थी। वह आंख बन्द किए पड़ी रही। शीला ने चाय तैयार होने की सूचना दी, तो

उसे लगा यह भी उपेक्षा है, इन सब की ओर से। किसी ने उससे पूछा तक नहीं कि नाश्ते में कौन-सी चीज तैयार की जाए ?

दादी के प्याले में चम्मच डाल कर चीनी मिलाते हुए ललिता ने अपराधी की-सी आवाज़ में शीला की ओर देखते हुए श्यामा से पूछा, "दीदी ! बड़ी अच्छी पिक्चर आई है।" और फिर नन्हें को समोसा देती हुई धीरे से बोली, "चलोगी ? नन्हें भइया तो जा रहे हैं।"

"तो मैं क्या करूं ?" मुंह फुला कर श्यामा ने कहा। "जाओ न।"

"तुम भी चलो।"

"मुझे नहीं जाना है, नन्हें के साथ चली जाओ ?"

"हाय राम, यह अंधेर !" दादी आंचल से ओंठ पोंछती हुई एकाएक रुक कर बोली। "इतनी बड़ी लड़की, भइए के साथ फिरे ! लोग क्या कहेंगे ?"

"नन्हें से कमरे की चहारदीवारी में चक्कर लगाया करो और माला जपा करो लोगों के कहने सुनने की !····हुंह, जिसे जाना हो जाए न जाए, मुझ से कोई मतलब नहीं—" वाक्य का पिछला अंश ललिता की ओर से उदासीनता दिखाने के उद्देश्य से कह कर श्यामा सबके प्याले समेटती हुई उठ गई।

नन्हें चला गया। ललिता ने फिर कुछ नहीं कहा। श्यामा फिर कांटों की चुभन महसूस करने लगी—कितने स्वार्थी हो गए हैं सब ? काम था अपना, इसी से चाय भी तैयार कर ली, तरकारी भी बना ली, आटा भी मल कर रख दिया।···उसे लगा, वह इन सबको अपनी अतिरिक्त सावधानी के आधार पर बिगाड़ती रही है। नहीं तो क्या इतने बड़े-बड़े भाई-बहन ऐसे उत्तरदायित्वहीन होते हैं ? सीख देने के लिए ही जैसे उसने उस दिन, बाहर की अलगनी से सूखे कपड़े नहीं उठाए, बिस्तर नहीं डलवाए। अपनी ओर से ललिता, शीला को खाने के लिए बुलाया भी नहीं। दादी को खिला कर उसने नन्हें की थाली लगाई और अल्मारी में रख दी। घूम कर सारे घर की खिड़कियां दरवाज़े बन्द किए। रसोई के दरवाज़े का टेढ़ा वाला पल्ला ठीक करते समय वह खूब खीझी। सबको भला-बुरा कहा, तीखे ढंग से। उसी झोंक में ललिता, शीला को आवाज़ भी दे बैठी। पर उधर से कोई जवाब नहीं आया। मन ही मन नालायक लड़कियों को कोसती, वह कमरे में आई और पर्दा हटाने के साथ ही एक बार फिर कड़क कर चिल्लाई, "सुनाई नहीं देता ?"

कमरे में ललिता थी। शायद पढ़ते-पढ़ते मेज़ पर सिर रख कर सो गई थी। एक आधा कढ़ा हुआ रूमाल, बच्ची का एक छोटा-सा फ़्राक, और तीन-चार किताबें, मेज़ पर बेतरतीब पड़ी थीं। एक कोने पर डिक्शनरी से दबी सुबह वाली पेंटिंग रखी थी। श्यामा कुछ देर सब कुछ देखती रही। बिजली के प्रकाश में ये सब मौन चीज़ें, शांत कमरा, एक ललिता के ही सो जाने से उसे जैसे और अधिक मौन, निःसहाय-सी लगने लगीं। फिर मन में वेग से सहानुभूति उमड़ी। बिछुड़-गई-हुई-सी ललिता बहन को कंधे से हिला कर उसने जगाया।

"ओह दीदी !" कच्ची नींद टूट जाने से घबराई-सी ललिता उठ खड़ी हुई। पैरों के धक्के से कुर्सी को पीछे करती हुई हड़बड़ा कर उसने दीदी को देखा भयमिश्रित निगाहों से, अभी जैसे वह स्वप्नों को इस नई परिस्थिति के नीचे दबा न सकी हो—इस तरह।

बड़ी कोमलता से श्यामा बोली, "जाओ खा कर बाहर पलंग पर सो जाओ।····शीला कहां है ?"

"मालूम नहीं !"

"अच्छा, तुम चलो रसोई में। उसे देख कर मैं भेजती हूं।"

शीला ड्राइंग रूम में बैठी कोई किताब पढ़ रही थी। उसे बोलने का अवसर दिए बिना श्यामा ने ममता भरे स्वर में कहा, "इतनी रात में न पढ़ो। सुबह उठ कर पढ़ लेना। चलो, खा लो।"

जितनी देर ललिता-शीला खाती रहीं, श्यामा वहीं बैठ कर अपने पैरों पर तेल लगाती रही। तीनों में से कोई आपस में बोली नहीं। आज्ञाकारिणी बहनों की तरह दोनों जब सोने चली गईं, तो श्यामा उठी। तेल का प्याला आले पर रख दिया और भरी-भरी सी फिर कमरे में आई। खुली हुई किताबों को बन्द किया और संभाल कर मेज पर एक ओर रख दिया—पढ़ते-पढ़ते सो गई बेचारी, और मेरा मन कितना छोटा है? दिन भर तंग करती हूं, पेंटिंग यों ही छोड़ कर चली गई है—भूल गई होगी। ज़रा-सी भी खराब हो गई तो नई बनाने की मेहनत!··· उसका मन पश्चात्ताप की भावना से भरा जा रहा था। पेंटिंग को अखबार से ढक कर उसने रूमाल, फ्राक वगैरह तह किए और ललिता की सिलाई वाली अटैची में डाल दिए।

देर तक, ऐसे कितने ही छोटे-छोटे काम करके वह बाहर सोने आई तो देखा दोनों सो गई थीं, मसहरी बिना डाले। एक चोट-सी लगी—बिलकुल बच्चियां हैं!···उसने मसहरी डाल कर अच्छी तरह चारों ओर से दाब दी।

दिन भर की खटपट के बाद अब जब उसने अपने तकिए पर सिर रखा तो कहीं कोई बंधी हुई चीज़ जैसे खुल गई। आंसू बह चले—कह रही थीं, तुम भी चलो पिक्चर।····पत्थर की तरह मैंने कह दिया, मुझसे कोई मतलब नहीं?····· नन्हें के साथ नहीं गई।···ओफ़, कितना सब्र है इनको। मेरी मरज़ी के खिलाफ़ पत्ता खटके तो उबल पड़ती हूं, और क्यों नहीं वे मेरे मुंह पर जवाब दे कर मेरी गलतियों का अनुभव करा देतीं।···नन्हे-नन्हे दिलों में कितने अरमान होंगे, कितनी उड़ानें! इस उम्र में मैं भी तो यही सोचा करती थी।

चारों ओर सन्नाटा था। सब सो गए थे। पर श्यामा का तो जैसे अभी दिन आधा हुआ हो—क्यों चाहती हूं मैं कि वे भी मेरी ही तरह, एकदम बुजुर्ग हो जाएं, बड़ों की तरह काम करें, दादियों की तरह बातें करें?···· बेचारे घुट-घुट कर रहते हैं भय से, और मैं उन्हें कितनी चोट पहुंचाती रहती हूं। उनके मन कितने दुखी रहते होंगे?···· दादी क्या किसी बच्चे से कम हैं? देख नहीं सकतीं, अपने आप कुछ कर नहीं सकतीं; उनके सरल मन को मेरे व्यवहार से कितना दुख होता होगा! ओह, कितनी कलुष हृदय हूं मैं!···· काम कहां नहीं होते? कुएं से उन्हें तकलीफ होती है और मैं ताना मारती हूं। सीधी बात कहती हैं, तो काटने दौड़ती हूं!···· ललिता फैशन करती है तो मुझे क्यों कांटे चुभते हैं?···और वह बच्ची शीला, पढ़ती है मन लगा कर, तो मुझे वही बुरा लगता है। सचमुच मैं बहुत संकीर्ण हूं। मुझे जो नहीं मिला वह देने की बात तो दूर, जो पीछे कर आई हूं वह भी दूसरों के लिए प्रेम के साथ छोड़ नहीं सकती—अपने मन की खीझ, असन्तोष अपने में समेट नहीं पाती····!

बड़ी देर तक छोटी-छोटी यादें श्यामा को रुलाती रहीं। एक विचित्र-सी सहानुभूति, मोह, ममता उसे जकड़ती रही। फिर न जाने कब थक कर उसकी भीगी पलकें बन्द हो गईं।

—इलाहाबाद से प्रसारित

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

डा० आर्येन्द्र शर्मा



आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सन् १८८४ में उत्तर प्रदेश के बस्ती ज़िले में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा हमीरपुर के एक वर्नाक्यूलर स्कूल में तथा मिर्ज़ापुर के ज्यबिली स्कूल में हुई। सन् १९०१ में वहीं के मिशन स्कूल से शुक्ल जी ने मैट्रिक परीक्षा पास की। इसके बाद वे कुछ दिन तक प्रयाग में एफ० ए० अथवा इंटरमीडिएट कक्षा में पढ़े और फिर प्लीडर-शिप की डिग्री के लिए भी प्रयत्नशील रहे, पर सफलता न पा सके। पढ़ाई छोड़ने के बाद उन्होंने एक सरकारी आफिस में नौकरी की, पर उसे भी शीघ्र छोड़ दिया, क्योंकि वहां का वातावरण उनके अनुकूल न था। सन् १९०८ में वे मिर्ज़ापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर के स्थान पर नियुक्त हुए। शुक्ल जी के पिता साहित्य प्रेमी थे, यद्यपि हिन्दी को वे विशेष महत्व नहीं देते थे। शुक्ल जी को बचपन से ही हिन्दी के प्रति स्वाभाविक प्रेम था और वे अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध भी रामचरितमानस तथा भारतेन्दु के नाटक, बिहारी-सतसई इत्यादि साहित्यिक ग्रन्थ पढ़ते रहते थे। मिर्जापुर में ही शुक्ल जी ने भारतेन्दु मण्डल के सुप्रसिद्ध साहित्यिक बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' तथा अन्य हिन्दी प्रेमियों से परिचय कर लिया। हिन्दी प्रेमियों की उसी मण्डली से शुक्ल जी को साहित्यिक प्रेरणा मिली, उनके साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ हुआ। इस काल में उन्होंने अनेक लेख, कुछ कविताएं और एक-दो कहानियां लिखीं, जिनमें से कुछ प्रकाशित भी हुईं। कुछ अंग्रेज़ी रचनाओं का शुक्ल जी ने हिन्दी में अनुवाद भी किया। सन् १९११ में वे बनारस आए और नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित 'हिन्दी शब्दसागर' का सम्पादन-कार्य करने लगे। कुछ दिन तक उन्होंने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का भी सम्पादन किया। इसी काल में शुक्ल जी की साहित्यिक प्रतिभा परिपक्व तथा विकसित हुई और उनकी अनेक महत्वपूर्ण कृतियां निर्मित हुईं। कोश का कार्य पूरा हो जाने के बाद शुक्ल जी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। सन् १९३७ में वे हिन्दी विभाग के अध्यक्ष बना दिए गए। किन्तु इस पद पर वे तीन वर्ष तक ही काम कर सके। सन् १९४१ में, लगभग ५६ वर्ष की अवस्था में, उनका देहान्त हो गया।

शुक्ल जी के साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ मिर्ज़ापुर में ही हो चुका था। 'मनोहर छटा' शीर्षक एक कविता उन्होंने १६ वर्ष की अवस्था में सन् १९०० में लिखी थी, जो 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। सन् १९०३ में उनकी लिखी 'ग्यारह वर्ष का समय' शीर्षक एक कहानी भी प्रकाशित हुई। शुक्ल जी के मौलिक तथा अनूदित लेख भी उसी काल की रचनाएं हैं। फिर भी उनकी समस्त महत्वपूर्ण कृतियां सन् १९१० से १९४० तक के काल में ही लिखी गई हैं, जब वे

वनारस में रहते थे। यह तीस वर्ष का समय हिन्दी साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। साहित्यिक क्षेत्र में जैसे आमूल, सर्वागीण परिवर्तन इन तीस वर्षों में हुए, वैसे पहले शायद कभी नहीं हुए थे। क्या भाषा, क्या शैली, क्या विषय—सभी नए-नए रास्तों पर मुड़ते गए। कहानी, उपन्यास, निवन्ध, एकांकी, आलोचना जैसे नए साहित्यांगों का विकास हुआ। कविता के क्षेत्र में भी युगान्तरकारी परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों से जहां एक ओर शुक्ल जी स्वयं प्रभावित हुए, वहां दूसरी ओर उनके प्रयत्नों से हिन्दी साहित्य कई दिशाओं में विकसित भी हुआ। आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माताओं में उनका अपना स्थान है। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि नवीन युग में हिन्दी में दो ही आचार्य हुए हैं—महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल। द्विवेदी जी का मुख्य कार्यक्षेत्र भाषा का परिमार्जन और स्थिरीकरण था; शुक्ल जी का आलोचना तथा साहित्य का इतिहास। पर इन दोनों ही महापुरुषों ने समसामयिक तथा उत्तरकालिक हिन्दी साहित्यिकों का पथ-प्रदर्शन किया है, जिसके लिए हिन्दी संसार इनका चिरऋणी रहेगा।

आधुनिक हिन्दी साहिय के अन्य अनेक अंगों की तरह आलोचना का भी प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' नामक पुस्तक लिख कर किया था, जिसमें प्राचीन साहित्य-शास्त्र के अनुसार दृश्य काव्य का विवेचन है, पर साथ ही पाश्चात्य नाट्य साहित्य पर भी ध्यान दिया गया है। स्पष्ट ही यह पुस्तक सैद्धांतिक आलोचना के अन्तर्गत आती है। व्यवहारिक आलोचना का सम्भवतः पहला उदाहरण बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' द्वारा की गई श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' की गुण-दोष-विवेचना है, जो सन् १८८२ में 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। इस काल के अन्य आलोचकों में बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी आदि के नाम लिए जा सकते हैं। किन्तु ये प्रारम्भिक प्रयास थे, जिन्हें प्रयोगकालीन आलोचना कहा जा सकता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में आने पर आलोचना का रूप कुछ व्यवस्थित और प्रौढ़ हुआ। स्वयं द्विवेदी जी ने अनेक आलोचनाएं लिखीं। उनकी आलोचना की प्रमुख विशेषताएं हैं—स्पष्टवादिता और निष्पक्षता। वे आलोच्य रचना की ईमानदारी से विवेचना करके उसके गुण-दोष गिना देते थे। द्विवेदी जी ने नई कृतियों में उन्हीं को प्रशस्य माना जो देश और समाज के लिए कल्याणकारी थीं और नवीन युग से सामंजस्य रखती थीं। इस युग के अन्य प्रसिद्ध आलोचक मिश्रबन्धु, पं० पद्मसिंह शर्मा, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', पंडित कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन आदि थे। मिश्रबन्धुओं की आलोचना में गुण-दोष-विवेचन और श्रेणी-विभाजन को विशेष महत्व दिया गया है। पं० पद्मसिंह शर्मा, कृष्णविहारी मिश्र तथा लाला भगवानदीन की आलोचनाएं प्रधानतया तुलनात्मक हैं, जिनमें दो या अधिक कवियों के गुण-दोषों को छोटा-बड़ा बता कर एक कवि को दूसरों से उत्कृष्ट सिद्ध करने का प्रयत्न है। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'बिहारी-सतसई' की पांडित्यपूर्ण टीका और आलोचना लिखी है। संक्षेप में, ये सभी आलोचनाएं या तो परिचयात्मक हैं, या तुलनात्मक और या फिर निर्णयात्मक हैं। आलोचकों के ईमानदार तथा सूक्ष्मदर्शी होने पर भी उनकी वैयक्तिक रुचि ही इन आलोचनाओं का प्रधान आधार है; विश्लेपण और विवेचन, तटस्थता, ऐतिहासिक दृष्टि आदि का इनमें प्रायः अभाव है। पाश्चात्य आलोचना सिद्धांतों पर भी इन आलोचकों ने कोई ध्यान नहीं दिया था।

शुक्ल जी ने अपने पूर्ववर्ती आलोचकों की विशेषताओं का समन्वय करते हुए गंभीर अध्ययन और मनन द्वारा उपार्जित अपनी मार्मिक दृष्टि से एक नई आलोचना पद्धति को जन्म दिया। यह पद्धति संस्कृत के साहित्य-शास्त्र पर आधारित है, पर पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र द्वारा उसका परिमार्जन किया गया है। इसमें प्रधानता विवेचना और विश्लेपण की है, पर साथ

ही प्रभावात्मक तत्व को भी उचित स्थान दिया गया है। इतिहास और मनोविज्ञान का भी यथेष्ट सहारा शुक्ल जी ने लिया है। आलोच्य कृति के साथ-साथ कृतिकार के देशकाल और समाज के अध्ययन को भी उन्होंने आवश्यक माना है। शुक्ल जी ने आलोचना के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक इन दोनों पक्षों को अपनाया है। उन्होंने साहित्य सम्बन्धी सिद्धांत भी स्थिर किए हैं और इन सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए अनेक कवियों और रचनाओं की विवेचना भी की है। शुक्ल जी की मान्यताओं और स्थापनाओं से कोई सहमत हो या न हो, यह सभी को मानना पड़ता है कि समालोचना की जिस पद्धति का उन्होंने विकास किया वह वस्तुतः आदर्श है। उन्होंने आलोचक के लिए जिन विशेषताओं को आवश्यक बताया है वे सब उनमें स्वयं विद्यमान थीं। आलोचक को जिस मार्ग पर चलने का निर्देश उन्होंने किया है, उस पर वे स्वयं भी सदा चले। शुक्ल जी का कथन है कि "उच्च कोटि की आधुनिक शैली की समालोचना के लिए विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण-बुद्धि और मर्मग्राहिणी प्रज्ञा अपेक्षित है।" अन्यत्र वे कहते हैं—"समालोचना के लिए विद्वत्ता और रुचि दोनों अपेक्षित हैं। न विद्वत्ता के स्थान पर रुचि काम कर सकती है, न रुचि के स्थान पर विद्वत्ता।" आलोचना के प्रयोजन के विषय में उनका कहना है कि "किसी कवि की आलोचना कोई इसीलिए पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को, ठीक-ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले, इसलिए नहीं कि आलोचक की भावभंगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे।" शुक्ल जी व्यावहारिक आलोचना का एक प्रयोजन सत्साहित्य को प्रोत्साहन देना और निकृष्ट रचनाओं से साहित्य को बचाना भी मानते थे। वे कहते हैं, "(आलोचना के द्वारा) काव्य के साधनों से रहित अनधिकारियों की यदि कुछ रोक-टोक न रहे तो साहित्य क्षेत्र कूड़ा-करकट से भर जाए।"

शुक्ल जी के साहित्य सम्बन्धी सिद्धांतों पर विचार करने का यहां अवकाश नहीं है। यह कहना पर्याप्त होगा कि उन्होंने रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, शब्द-शक्ति, रीति इत्यादि परम्परा-प्राप्त शास्त्रीय विषयों का तथा साथ ही प्रकृति वर्णन, कल्पना, छन्द और लय, रहस्यवाद, उपयोगितावाद, कलावाद, अभिव्यंजनावाद जैसे आधुनिक विषयों का अत्यन्त गंभीर और मार्मिक विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना, प्रबन्ध काव्य, इतिवृत्त, मुक्तक काव्य, गद्यकाव्य इत्यादि साहित्य के अंगों पर भी विचार किया है। शुक्ल जी के ये विवेचन संस्कृत के साहित्य-शास्त्र के या पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र के पिष्टपेषण मात्र नहीं है। इनमें से बहुत-से सर्वथा मौलिक हैं, और शुक्ल जी की प्रखर प्रतिभा तथा उनके गहरे अध्ययन और मनन का परिचय देते हैं।

शुक्ल जी ने आलोचना सम्बन्धी जो सिद्धांत तथा आदर्श स्थापित किए थे, उनका क्रियान्वित रूप हमें उनकी उन तीन सुप्रसिद्ध आलोचनाओं में मिलता है जो सूरदास, तुलसीदास और जायसी पर लिखी गई है। ये आलोचनाएं हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। मौलिक, विद्वत्तापूर्ण, मार्मिक और गंभीर होते हुए भी ये स्पष्ट और सुगम हैं। इन कवियों की विवेचना करते हुए शुक्ल जी ने अपने आदर्शों को अन्त तक निभाया है, और इसके बावजूद उन समीक्षाओं को नीरस नहीं होने दिया है।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी निःसन्देह हमारे आदर्श हैं, पथ-प्रदर्शक हैं। पर उनका यही स्थान एक दूसरे क्षेत्र में भी है, और वह है साहित्य के इतिहास का क्षेत्र, बल्कि शायद इस क्षेत्र में उनका स्थान और भी ऊंचा है। शुक्ल जी के इस क्षेत्र में आने से पहले हिन्दी साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित तीन ग्रंथ लिखे जा चुके थे—सन् १८८३ में प्रकाशित शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह सरोज', सन् १८८९ में प्रकाशित ग्रियर्सन का 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर

आफ नार्दर्न हिन्दुस्तान', जो अंग्रेज़ी में था, और सन् १६२३ में प्रकाशित मिश्रबंधुओं का 'मिश्र-बंधु विनोद'। इन तीनों में कवियों और उनकी रचनाओं का परिचय मात्र दिया गया है। इनमें न हिन्दी साहित्य का तर्कसंगत काल-विभाजन है, न विभिन्न युगों की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक परिस्थितियों अथवा काव्यगत प्रवृत्तियों की ही विवेचना है। इन ग्रंथों को साहित्य का इतिहास कहना कठिन है। शुक्ल जी ने ही पहले-पहल इस तथ्य को पहचाना कि "आदि से अन्त तक जनता की चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है।" इस दृष्टि से शुक्ल जी का लिखा हुआ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ही हमारा सबसे पहला साहित्य का इतिहास है—सबसे पहला भी और सबसे उत्कृष्ट भी। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर जितने भी ग्रंथ बाद में लिखे गए, उन सबका यही आधार है, और आज भी यही सबसे अधिक प्रामाणिक एवं सबसे अधिक उपयोगी माना जाता है। हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल, भक्ति काल, रीति काल, और आधुनिक काल के जिस विभाजन से आज सभी हिन्दी प्रेमी परिचित हैं, वह विभाजन शुक्ल जी का ही किया हुआ है। कहना नहीं होगा कि विभिन्न युगों की साहित्यगत प्रवृत्तियों को ध्यान में रख कर ही यह विभाजन किया गया है, और यह इतना संगत तथा उपयुक्त है कि स्वभावतः सभी को ग्राह्य हुआ है। शुक्ल जी ने अपने इतिहास में साहित्य की प्रवृत्तियों का तो विवेचन किया ही है, साथ ही साहित्यकारों की संक्षिप्त किन्तु मार्मिक आलोचना भी की है। समस्त ग्रंथ रोचक और विशद शैली में लिखा गया है। विवेचन की स्पष्टता तथा प्रामाणिकता में यह वास्तव में अनुपम है। यह ग्रंथ सन् १६३० में प्रकाशित हुआ था। परन्तु आज भी यही ग्रंथ समस्त इतिहास लेखकों का आदर्श बना हुआ है।

शुक्ल जी एक तीसरे क्षेत्र में भी अग्रगण्य हैं। यह क्षेत्र है निबन्ध का। उन्होंने पर्याप्त संख्या में उत्कृष्ट श्रेणी के प्रौढ़ निबन्ध लिखे हैं, जिन्हें प्रत्येक दृष्टि से आदर्श माना जा सकता है। इन निबन्धों में से कुछ भावों या मनोविकारों पर लिखे गए हैं, और कुछ समीक्षात्मक हैं। विचारात्मक तथा विवेचनात्मक होने पर भी ये निबन्ध सर्वथा साहित्यिक हैं। इनकी भाषा सुगठित तथा परिमार्जित और शैली रोचक है।

आलोचक, इतिहासकार और निबन्ध लेखक होने के अतिरिक्त शुक्ल जी एक अच्छे कवि भी थे। इस क्षेत्र में उनकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'बुद्धचरित' है जो अनुवाद होते हुए भी मौलिक काव्य की विशेषताओं से युक्त है। 'बुद्धचरित' ब्रज भाषा में लिखा गया है। बाद में शुक्ल जी ने खड़ी बोली में भी अनेक कविताएं लिखीं, जिनमें 'आमन्त्रण' और 'हृदय का मधुर भार' विशेष प्रसिद्ध हैं। मौलिक रचनाओं में शुक्ल जी के प्रकृति चित्रण अत्यन्त मनोरम तथा प्रभावशाली हैं।

शुक्ल जी के समान गंभीर विचारक और प्रौढ़ साहित्यकार हिन्दी ही नहीं, भारत की अन्य भाषाओं में भी बहुत ही कम हुए हैं। उन्होंने जिस क्षेत्र में प्रवेश किया, उसी में स्वभावतः नेतृत्व के अधिकारी हो गए। वे सच्चे अर्थों में आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख निर्माताओं में से एक हैं, विशेषकर आलोचना और साहित्य के इतिहास के क्षेत्रों में, जहां स्थापित किए हुए उनके सिद्धांत और आदर्श समस्त हिन्दी संसार के लिए अभी बहुत दिनों तक पथ-प्रदर्शन का काम करेंगे।

—हैदराबाद से प्रसारित

वैशाली

डा० अ० स० अलतेकर



प्रागैतिहासिक व ऐतिहासिक काल की दृष्टि से वैशाली एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। पुराणों के अनुसार, इस नगरी में इक्ष्वाकु वंश की एक शाखा बहुत प्राचीन काल से राज्य करती थी। उसका एक शासक सुमति, भगवान रामचन्द्र के सीता-स्वयंवर में जाने के समय वहां राज्य करता था। आगे चल कर इस राजवंश का लोप हुआ और वैशाली में एक गणतंत्र राज्य प्रस्थापित हुआ, जिसका इतिहास स्वर्णाक्षरों में लिखने लायक है। वैदिक व अवैदिक धर्मों का समन्वय मिथिला देश में हुआ, जिसमें वैशाली ने भी सहकार्य किया। जैन धर्म के संस्थापक वैशाली निवासी थे। भगवान बुद्ध ने भी वैशाली में बहुत कार्य किया था। शहर के इस अनेकांग महत्व के कारण काशीप्रसाद जायसवाल अनुसन्धान संस्था ने हाल ही में वैशाली में उत्खनन का आयोजन किया।

पुरानी वैशाली नगरी के अवशेष ४ मील लम्बे व दो मील चौड़े हैं। इसलिए उत्खनन के लिए महत्वपूर्ण स्थान निश्चित करना आसान नहीं था। सबसे पहले यहां कनिंघम ने उत्खनन किया। उसके पश्चात बेगलर ने। उन्हें अशोकस्तम्भ के पास बौद्ध विहार के कुछ अवशेष मिले। शास्त्रीय ढंग का उत्खनन वैशाली में सन् १९०४ में डा० ब्लाख ने शुरू किया और उसको डा० स्पूनर ने आगे चलाया। उन्होंने खुदाई राजा विशाल के गढ़ में की, और वे अपेक्षा करते थे कि उन्हें वहां राजप्रासाद, कचहरी इत्यादि के अवशेष मिलेंगे। किन्तु यह आशा सफल नहीं हुई। उनको वहां अनेक गुप्तकालीन मुहरें मिलीं, जिन पर के लेखों से तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक परिस्थितियों और रीति-रिवाजों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

इस साल की खुदाई का प्रधान उद्देश्य भगवान बुद्ध के शारीरिक अवशेषों पर लिच्छवि गणतंत्र ने जो स्तूप बनाया था, उसकी खोज करना था। इस स्तूप का निर्माण ई० पू० पांचवीं सदी की एक निःसंवाद ऐतिहासिक घटना थी, लेकिन उस स्तूप के अवशेष अभी तक पाए नहीं गए थे। उनकी खोज करना आसानी का काम नहीं था। प्रायः सब प्राचीन अवशेष ध्वस्त व खंडित हो कर वैशाली के आठ चौरस मील क्षेत्र में बिखरे हुए हैं। इनमें वह स्तूप कहां होगा, इसकी कल्पना करना कठिन था। नदियों के प्रवाह भी बदल गए हैं, जिसके कारण समस्या अधिक जटिल हो गई है।

सौभाग्य से प्रसिद्ध चीनी यात्री युआन च्वांग के वृत्तांत के अध्ययन से हमें स्तूप के स्थल के विषय में कुछ कल्पना आ गई। उसके वृत्तांत का सूक्ष्म पृथक्करण करने से हमें यह मालूम हुआ कि यह प्रसिद्ध स्तूप राजा विशाल के गढ़ के उत्तर-पश्चिम में आध से एक मील के फासले

पर होना चाहिए। गत शताब्दी के नक्शों मे इस स्थान पर एक बड़ा गढ़ दिखाया गया है, किन्तु उसकी सारी जमीन खेती के लिए समतल बनाई गई है। लेकिन वहां एक छोटा-सा टीला दीखता था, जो पचास फुट लम्बा, पचास फुट चौड़ा व डेढ़ फुट ऊंचा था। हमने सोचा कि वह स्तूप का हिस्सा हो सकता है, और वहां खुदाई शुरू की गई।

थोड़े ही समय में हमें वहां एक वर्तुलाकार स्तूप के अवशेष मिलने लगे, और आखिर यह स्पष्ट हुआ कि वहां एक अति प्राचीन स्तूप था जिसकी मरम्मत हमेशा होती थी व जो तीन दफा आकार में भी बढ़ाया गया था। पूर्वकालीन स्तूप वैसा ही रखा जाता था और उसके चारों ओर उत्तरकालीन स्तूप बनाया जाता था, जो पहले स्तूप को भीतर ले लेता था, जैसे बड़ी कटोरी छोटी कटोरी को। हमे अनेक शास्त्रीय प्रमाण मिले, जिनसे यह स्पष्ट हुआ कि सबसे पुराना स्तूप ईसा पूर्व पांचवी सदी में बनाया गया था। मालूम पड़ता है कि इतना पुराना स्तूप अभी तक हमारे देश में प्राप्त नहीं हुआ है। शायद आप लोगों ने सांची, सारनाथ इत्यादि स्थानों में स्तूप देखे होंगे। वे सब पक्की ईंटों के या पत्थरों के बने हैं। बिहार में नंदनगढ़ में जो स्तूप मिले हैं, वे ई० पू० तीसरी सदी के माने जाते हैं। उनमें तीन-चार फुट तक ऊंची पक्की ईंटों की दीवार है, ऊपर का सब हिस्सा केवल मिट्टी का है। हमारा सबसे प्राचीन स्तूप केवल मिट्टी का बना है। सांची आदि स्थानों के स्तूप बहुत बड़े हैं। उनका व्यास करीब-करीब सौ फुट व ऊंचाई पचास फुट है। किन्तु वैशाली का यह प्राचीन स्तूप व्यास में चौबीस फुट व ऊंचाई में नौ फुट है। वैदिक शतपथ ब्राह्मण ग्रंथ में क्षत्रियों की अस्थियों पर जो श्मशान या स्तूप बनाने का वर्णन आया है, उसकी ऊंचाई खड़े मनुष्य के ऊंचे हाथों की ऊंचाई के समान, यानी आठ फुट बताई गई है। हमारे स्तूप की ऊंचाई नौ फुट है। इससे भी पता लगता है कि उसका निर्माण स्तूप निर्माण के इतिहास में बहुत प्राचीन काल मे हुआ होगा।

यह प्राचीन स्तूप लिच्छवियों ने बनाया था, इसके लिए अनेक प्रमाण उपस्थित किए जा सकते हैं। उसका स्थान वहां ही है, जहां युआन च्वांग को बुद्ध भगवान की अस्थियो पर लिच्छवियों द्वारा निर्मित स्तूप का स्थान बताया गया था। सातवी सदी में वैशाली में अनेक बौद्ध भिक्षु व विहार थे, उस समय तक बौद्ध धर्म की परम्परा वहां अक्षुण्ण थी। इसलिए यह सम्भव है कि जिन बौद्ध भिक्षुओं ने युआन च्वांग को बुद्धावशेषों पर स्तूप का स्थान बताया था, उनको इस विषय में पूरी जानकारी नहीं थी। इस स्तूप के पहले परिवर्धन के समय के जो चिकने पत्थर के टुकड़े मिले हैं, वे नि.संशय मौर्यकालीन हैं। यह प्रथम परिवर्धन अवश्य अशोक ने किया था। सर्वप्रथम स्तूप में मिट्टी के बरतनों के काले चमकीले टुकड़े, जिसको एन० बी० पी० कहते हैं, मिले हैं जो इसके नीचे एक फुट से लुप्तप्राय होते हैं। ये टुकड़े ईसा पूर्व छठी शताब्दी से पहले नहीं मिलते हैं, इसलिए इस प्राचीन स्तूप का काल ई० पू० ४५० से ८०० तक मानना ठीक होता है। भगवान बुद्ध का निर्वाण भी उसी समय यानी ई० पू० ४८७ मे हुआ और वही लिच्छवि निर्मित स्तूप का काल होता है। अनेक बौद्ध ग्रन्थों में लिखा है कि अशोक ने इस स्तूप से बुद्ध के अवशेषों का बड़ा हिस्सा दूसरे स्तूपों मे रखने के लिए निकाला था। सबसे प्राचीन स्तूप में एक तीन फुट चौड़ा दराज़ पाया गया है, जो स्तूप के केन्द्र तक चला जाता है। यह अनुश्रुति इस स्तूप से पुष्ट होती है। दूसरी एक अनुश्रुति यह कहती है कि अशोकोत्तर काल में दूसरे एक राजा ने भी बुद्ध के अवशेष प्राप्त करने के लिए इस स्तूप को फिर तोड़ना शुरू किया, किन्तु उसी समय एकाएक भूडोल शुरू होने से वह डर गया और उसने यह उद्योग छोड़ दिया। यह अनुश्रुति भी इस स्तूप से प्रमाणित होती है, चूंकि उसके प्रथम परिवर्धन में भी एक बड़ा दराज मिला है, किन्तु वह प्रथम स्तूप तक नहीं पहुंचता है।

इसमें सन्देह नहीं कि यह स्तूप लिच्छवियों द्वारा ई० पू० पांचवीं सदी में बनाया गया था। यदि ऐसा हो, तो उसमें एक धातु करंडिका प्राप्त होनी चाहिए जिसमें भगवान् बुद्ध के शरीरावशेष रखे हों। प्राचीन स्तूप के ठीक बीच में हमें एक सुन्दर पत्थर की छोटी-सी करंडिका भी मिली, जिसमें रक्षा के साथ स्वर्णपत्र के टुकड़े, एक छोटा शंख, दो मणियां, एक तांबे का आहत सिक्का हमें मिला। यह बुद्ध भगवान की रक्षा है, यह बताने वाला अभिलेख; यदि करंडिका पर होता तो सबको अवश्य ही मानना पड़ता कि इस करंडिका की रक्षा बुद्ध भगवान की ही है। किन्तु ऐसा अभिलेख करंडिका पर नहीं मिला। शायद पांचवीं सदी में पत्थर पर अभिलेख खोदने की प्रथा प्रचलित नहीं हुई थी। अभी तक अशोक-पूर्व शिलालेख नहीं मिले हैं। केवल अभिलेख के अभाव के कारण हम यह नहीं मान सकते कि करंडिका की रक्षा बुद्ध की नहीं है।

यह वैदिक स्तूप नहीं है, चूंकि इसमें वैदिक अवशेष नहीं मिले हैं। जैनियों का भी नहीं है, चूंकि जैन धर्म में महावीर की अस्थियों पर स्तूप निर्माण का उल्लेख नहीं मिलता। अतः यह बौद्ध स्तूप है। इसका निर्माण काल ई० पू० पांचवी सदी का पूर्वार्द्ध है, जब भगवान् बुद्ध का निर्वाण हुआ था। यह लिच्छवियों द्वारा बनाया गया है, चूंकि उस समय वैशाली में उनका राज्य था। ऐसी परिस्थिति में हमें यह मानना पड़ता है कि उसमें जो रक्षा-करंडिका मिली, उसमें की रक्षा बुद्ध भगवान की ही है। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार अशोक ने इस करंडिका से कुछ अवशेष अन्य स्थानों के लिए निकाला व केवल कुछ उसमें रख दिया। हमारा करंडक क्यों खाली क्यों था, यह इस अनुश्रुति से हम समझ सकते हैं।

इस साल वैशाली की खुदाई से भगवान बुद्ध के अवशेषों पर लिच्छवि निर्मित चैत्य हम पा सके हैं, व उसमें के करंडक की रक्षा भगवान बुद्ध की ही थी, यह मानने के लिए काफी ठोस प्रमाण भी मिले हैं।

—जयपुर से प्रसारित

भूभौतिकी और सूर्य के धब्बे

रामचन्द्र तिवारी



भूभौतिकी विज्ञान की अनेक शाखाओं का समूह है। इसमें हम पृथ्वी और उसके वायुमंडल में क्रियाशील विभिन्न शक्तियों का अध्ययन करते हैं। पृथ्वी सौर परिवार की एक सदस्या है। सूर्य की आकर्षण शक्ति के कारण वह उसकी परिक्रमा लगाती है और सूर्य से आने वाले प्रकाश के कारण यहां दिन-रात होते हैं। सूर्य से जो धूप पृथ्वी पर आती है, वह वास्तव में शक्ति है। वह पचास लाख हार्स-पावर प्रति वर्ग मील के बराबर होती है। इस शक्ति से यहां आंधी-तूफान चलते हैं, वर्षा होती है, वनस्पति उगती है और जन्तु जीते हैं।

साधारणतया खुली आंखों से सूर्य की ओर देखना कठिन है, पर मामूली कांच पर काजल जमा कर और उसे आंखों के सामने रख कर सूर्य की ओर सरलता से देखा जा सकता है। इस प्रकार देखने से पता चलता है कि सूर्य की सतह सब ओर सदा एक-सी चमकदार नहीं जान पड़ती, उसमें कभी-कभी काले धब्बे दिखाई देते हैं। पुस्तकों के उल्लेखों के अनुसार कदाचित सबसे पहले ये धब्बे ईसा की दूसरी शताब्दी में देखे गए थे। दूरबीन द्वारा उनको देखने का काम सन् १६१०-११ में फ़ेबीयस, गैलीलियो द्वारा आरम्भ किया गया।

सूर्य के इन धब्बों के विषय में जो जानकारी इकट्ठी की गई है उससे पता चलता है कि ये मोटे तौर से ग्यारह वर्ष के बाद अति तीव्रता धारण करते हैं। सूर्य के ऊपर का तापमान लगभग छः हजार डिग्री समझा जाता है और चूकि इन धब्बों का क्षेत्र आस-पास के क्षेत्र की अपेक्षा श्यामल दिखाई देता है, इसलिए यह अनुमान किया जाता है कि इस क्षेत्र का तापमान छः हज़ार डिग्री से काफी कम, लगभग चार हजार पांच सौ डिग्री होगा। बड़े धब्बों का क्षेत्र ७ अरब वर्गमील तक पहुंच सकता है। ऐसा एक धब्बा सन् १९४७ में दिखाई दिया था। धब्बे भीतर से कुछ गहरे काले होते हैं और उनके चारों ओर एक हलका काला क्षेत्र पाया जाता है। ऐसा दिखाई देता है जैसे कि बीच के काले क्षेत्र से धारियां निकल कर आस पास के कम काले क्षेत्र में फैल रही हों। इन धब्बों के साथ सूर्य में भभके भी उठते हैं। कुछ धब्बों के साथ ये भभके अधिक शक्तिमान होते हैं और कुछ के साथ कम। धब्बों के इन भभकों का पृथ्वी और उसके वातावरण पर बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

सूर्य के भभकों से जो वस्तु पृथ्वी की ओर आती है, उसको हम तीन मोटे भागों में बांट सकते हैं। इनमें से एक विद्युत चुम्बकीय तरंगों के रूप में पृथ्वी तक पहुंचता है। यह तरंग-समूह प्रकाश की गति से चलता है, इसलिए आठ मिनट में पृथ्वी पर पहुंच जाता है। इसमें साधारण प्रकाश की तरंगें होती हैं, बहिर बैंगनी या अल्ट्रा-वायलेट तरंगें होती हैं और लगभग पांच मीटर लम्बाई की रेडियो तरंगें होती हैं।

साधारण परमाणुओं में से जब इलेक्ट्रान की एक उचित निश्चित संख्या अलग हो जाती है तो शेष परमाणु को आयन कहते हैं। इलेक्ट्रान और आयन दोनों ही विद्युत आवेशित होते हैं। ये आवेशित कण सूर्य के भभकों से आनेवाली वस्तु के दूसरे भाग हैं। ये मंद गति से चलते हैं और बीस से चालीस घंटे में पृथ्वी पर पहुंचते हैं।

तीसरी वस्तु जो सूर्य के इन भभकों से पृथ्वी पर आती है उसे कास्मिक किरणें कहते हैं। इन किरणों में परमाणु का वह भाग होता है जिसमें इलेक्ट्रान नहीं होते। इस भाग को परमाणु नाभिक भाग कहते हैं। ये कास्मिक किरणें पृथ्वी तक पहुंचने में एक घंटे से कुछ कम समय लेती हैं।

सूर्य से आने वाले प्रकाश का प्रभाव हम जानते हैं। पर अन्य विकिरण भी पृथ्वी को प्रभावित करते हैं। उनके प्रभावों को समझने के लिए यह आवश्यक होगा कि हम पृथ्वी के कुछ लक्षणों की ओर ध्यान दें।

पृथ्वी के चारों ओर वायु का बहुत मोटा आवरण है। इसमें पचास मील ऊपर से दो सौ पचास मील की ऊंचाई तक फैला हुआ वायु-मंडल आयन मंडल कहलाता है। इस मंडल में वायु की सघनता पृथ्वी के निकट की वायु की अपेक्षा केवल एक करोड़वां भाग है। यहां पर वायु के कण तो बहुत कम हैं, पर जो हैं उनमें से बहुत अधिक आयनों और इलेक्ट्रानों में विभक्त हैं। इसका अर्थ यह होता है कि मंडल के इस क्षेत्र में विद्युत आवेश उपस्थित हैं। इस आवेश की उपस्थिति के कारण हमारे रेडियो स्टेशनों से प्रसारित विद्युत-चुम्बकीय तरंगें सीधी दूर आकाश में नहीं निकल जातीं, वरन उनसे टकरा कर वापस धरती पर लौट आती हैं और इस प्रकार रेडियोप्रसारण को सम्भव बनाती हैं। रेडियो तरंगोंको परावर्तित करने वाली आयन मंडल की सबसे निचली तह ६० से ९० मील तक की ऊंचाई पर है। उसके ऊपर दूसरी तह ९० से १५० मील की ऊंचाई तक पाई जाती है। इसके ऊपर १०० मील मोटी तीसरी तह है। इस तह में आयनिक परमाणुओं की संख्या सबसे अधिक पाई गई है।

आयन मंडलीय क्षेत्रों में ध्रुवों पर और उनके आस-पास सैकड़ों मील ऊंची और हज़ारों मील चौड़ी प्रकाश की रंगीन लहरदार चादरें दिखाई देती हैं। ये प्रकाश की चादरें अरोरा कहलाती हैं।

पृथ्वी बहुत बड़ी चुम्बक है। इसके कारण कुतुबनुमे की चुम्बक सूई उत्तर-दक्षिण रहती है। चुम्बकीय उत्तर ध्रुव तारे पर आधारित भौगोलिक उत्तर से कुछ भिन्न होता है। इनके अन्तर के विषय में सूचना प्राप्त करके चुम्बक सूइयों को वायुयानों और समुद्री जहाजों में मार्ग-दर्शक के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

सूर्य के धब्बों से सम्बन्धित भभकों से निकली हुई अल्ट्रा-वायलेट या बहिर बैंगनी तरंगें जब पृथ्वी के निकट पहुंचती हैं तो अयन मंडल के सबसे निचले भाग को अधिक आयनित कर देती हैं। इसका फल यह होता है कि पांच से बीस मैगासाइकिल पर प्रसारित किए जाने वाले छोटी तरंगों के रेडियो ब्राडकास्ट सुनाई देने बंद हो जाते हैं। प्रसारण केन्द्र उन्हें प्रसारित करता रहता है पर श्रोताओं के सेटों पर ऐसा अनुभव होता है मानो प्रसारण बंद हो गया हो। इन किरणों के कारण १० से ५० किलोसाइकिल के लम्बी तरंगों के प्रसारण आयन मंडल से अधिक अच्छी तरह परावर्तित होने लगते हैं और तेज़ सुनाई देने लगते हैं। इन अल्ट्रा-वायलेट तरंगों के साथ सूर्य से जो लगभग पांच मीटर लम्बी रेडियो तरंगें आती हैं, वे रेडियो सेटों में खड़-खड़ की ध्वनि उत्पन्न करती हैं।

सूर्य से आने वाली विद्युत-चुम्बकीय तरंगों का प्रभाव पृथ्वी पर लगभग तुरन्त पड़ता है। पर आवेशित कण पृथ्वी पर काफी देर से पहुंचते हैं, इसलिए उनका प्रभाव देर में पड़ता है। आवेशित कण जब आयन मंडल में पहुंचते हैं तो वहां के विद्युत आवेश को प्रभावित करते हैं, जिसके

फलस्वरूप पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति में तेजी से परिवर्तन होता है। इन परिवर्तनों को चुम्ब-कीय तूफान कहते हैं। जब चुम्बकीय तूफान आते हैं तो यंत्रों में लगी हुई चुम्बकीय सुइयां डग-मगाने लगती हैं। वे निश्चित रूप से उत्तर-दक्षिण नहीं बता पातीं।

ये आवेशित कण पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति के कारण उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों की ओर खिंच जाते हैं और उनके ऊपर दिव्य प्रकाश की उन झिलमिल चादरों की तीव्र सृष्टि करते हैं जिनके बराबर सुन्दर और कोई दृश्य नहीं समझा जाता।

सूर्य के भभकों से निकलने वाली कास्मिक किरणें जब पृथ्वी पर पहुंचती हैं तो वे भी वायु-मंडल को आयनित करती हैं।

—दिल्ली से प्रसारित

इब्नबतूता की भारत यात्रा

सैयद अतहर अब्बास रिज़वी



तानजीर निवासी इब्नबतूता को, जिसे पूर्वी देशों के लोग शमसुद्दीन भी कहते हैं, भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास में विशेष महत्व प्राप्त है। वह अरब तथा अरबी बोलने वाले मुसलमान यात्रियों की विस्तृत श्रृंखला की एक कड़ी था जो मध्यकाल में समय-समय पर भारतवर्ष आते रहे और जिन्होंने भारतवर्ष के विषय में अपनी यात्राओं के विवरणों में तथा भूगोल एवं इतिहास की पुस्तकों में उल्लेख किया। यह यात्रा प्रेमी १४ जून, १३२५ को तानजीर से मक्का के लिए प्रस्थान करके विभिन्न स्थानों की यात्रा करता हुआ १२ सितम्बर, १३३३ को सिन्ध पहुंचा।

वहां से वह जनानी, सिविस्तान, लहरी, मक्कर, उच्छ, मुल्तान, पाकपट्टन, अबोहर, अबू बकहर, सिरसा, हांसी, मसऊदाबाद तथा पालम होता हुआ २० मार्च, १३३४ को दिल्ली पहुंचा। उसके भारत आगमन के समय इतिहास प्रसिद्ध सुल्तान मुहम्मद तुगलक दिल्ली के राज-सिंहासन पर शोभायमान था। सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक शाह उसकी प्रतिभा तथा यात्रा प्रेम से बड़ा प्रभावित हुआ और उसे २२ जुलाई, १३४२ को अपनी ओर से राजदूत बना कर चीन भेजा। इस बीच में सुल्तान तथा उसके दरबारियों से इब्नबतूता के सम्बन्ध उत्तरोत्तर घनिष्ठ होते गए। उसने इस अवधि में भी विभिन्न स्थानों की यात्रा की। १३३६ में उसने दिल्ली से बिजनौर होते हुए अमरोहे की यात्रा की, वहां से वह अफगानपुर भी गया। १३३९-४० में उसने दिल्ली से स्वर्गद्वारी की यात्रा की, और वहां से वह सुल्तान के साथ कन्नौज तथा बहराइच का भ्रमण करता हुआ दिल्ली लौट आया। १३४१-४२ में वह सुल्तान से भेंट करने दिल्ली से हवान गया और फिर वहां से लौट आया।

चीन की ओर प्रस्थान करते समय उसने भारतवर्ष के बहुत-से स्थानों की केवल सैर ही नहीं की, अपितु उनका सविस्तर उल्लेख भी अपनी यात्रा क विवरण में दिया।

इस प्रसिद्ध यात्री ने अपने विवरण में भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति, यहां की जलवायु, फल-फूल, वनस्पति, पशुओं तथा वेश-भूषा और रहन-सहन, कृषि एवं व्यापार के विषय में विस्तार से प्रकाश डाला है। वह जिस नगर में भी पहुंचा, उसका उसने बड़ी गहन दृष्टि से अध्ययन किया। उसकी यात्रा के विवरण द्वारा भारतवर्ष के अनेक समकालीन नगरों के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो जाती है। इब्नबतूता ने दिल्ली का हाल बड़े विस्तार से लिखा है। नगर की चहारदीवारी, विभिन्न द्वार, दिल्ली की जामा मस्जिद, दिल्ली की कब्रों, तथा दिल्ली के बाहर के दो बड़े हौजों का बड़ा ही विशद उल्लेख किया है। उसके भौगोलिक ज्ञान का मूल आधार उसका

व्यक्तिगत निरीक्षण था और वह किसी ग्रन्थ से इस सम्बन्ध में प्रभावित नहीं हुआ था। आरम्भ ही से उसने विभिन्न नगरों की दूरी तथा उनके बीच के अन्तर का उल्लेख किया है।

इब्नबतूता का सम्बन्ध ग्रामों के शासन-प्रबन्ध तथा न्याय-व्यवस्था और वक़्फ़ (धर्म संस्थाओं) के इन्तज़ाम से विशेष रूप से रहा। उसकी यात्रा के विवरण से समकालीन ग्रामों के शासन-प्रबन्ध पर भी प्रकाश पड़ता है जिसकी चर्चा अन्य समकालीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में भी कम ही मिलती है। वह सुल्तान तथा उच्च पदाधिकारियों की गतिविधि से पूर्ण रूप से परिचित था, अतः उसने उनके कर्तव्यों एवं उनसे सम्बन्धित राजकीय सेवाओं का उल्लेख भी विस्तार से किया है। उस युग में जब कि यातायात के साधन आजकल के वैज्ञानिक युग जैसे नहीं थे, साधारण से साधारण बात की सूचना का सुल्तान को शीघ्र ही मिल जाना उस विदेशी यात्री को आश्चर्य चकित किए बिना न रख सका। अतः उसने सुल्तान की डाक-व्यवस्था का उल्लेख बड़े विस्तार से किया है। उसने राज्य के गुप्तचरों का भी हाल लिखा है और ऐनुलमुल्क के विद्रोह के सम्बन्ध में बताया है कि किस प्रकार लोगों के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित बातें भी सुल्तान की सेवा में पहुंच जाती थीं और लोगों के अपराध किसी प्रकार भी छिपे नहीं रह पाते थे।

इब्नबतूता ने भारतवर्ष के रीति-रिवाज, लोगों के रहन-सहन तथा वेश-भूषा का उल्लेख करते समय मुसलमानों के विवाह की भारतीय प्रथाओं का बड़ा विशद वर्णन किया है। उसने सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक की बहन से अमीर सैफुद्दीन के विवाह का हाल बड़े विस्तार से लिखा है। अमीर सैफुद्दीन का घनिष्ठ मित्र होने के कारण उसे इस विवाह के सम्बन्ध में साधारण से साधारण बात का भी ज्ञान था। मुस्लिम समाज में क्या-क्या समकालीन मृतक क्रियाएं प्रचलित थीं और उनका पालन किस प्रकार होता था, यह सब भी इब्नबतूता को अपनी पुत्री के मृतक संस्कार के अवसर पर स्वयं देखने को मिल गया था। वह सती होने के दृश्य को भी देख कर बड़ा प्रभावित हुआ और उसने उसका बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है।

इब्नबतूता भारतवर्ष के विभिन्न भागों में नाना प्रकार की दावतों तथा प्रीति-भोजों में सम्मिलित हुआ था। शाही भोजन का प्रबन्ध कैसे होता था तथा साधारण भोजनों के नियम क्या थे, इसके विषय में भी उसने विस्तार से लिखा है। उसकी यात्रा के विवरण द्वारा हमको मिठाइयों तथा भोजनों के विषय में विस्तृत ज्ञान प्राप्त हो जाता है। पान खाने के महत्व तथा उसकी विशेषता का उल्लेख भी इब्नबतूता से नहीं छूटा। भारतवर्ष के कुछ नगरों के बाज़ारों तथा उनकी चहल-पहल, सजावट और तत्सम्बन्धी अन्य बातों का चित्रण इब्नबतूता के विवरण में मिलता है। सूफियों के गायन तथा नृत्य, सैनिक बाजों तथा अन्य संगीतों एवं नृत्यों का भी हाल इब्नबतूता के यात्रा-विवरण द्वारा प्राप्त हो जाता है। इब्नबतूता द्वारा दौलताबाद के गायकों तथा गायिकाओं के बड़े बाज़ार का विस्तृत विवरण पढ़ने योग्य है।

जब इब्नबतूता को राजदूत बना कर चीन की ओर भेजा गया, तो उसने विभिन्न स्थानों की व्यापार-व्यवस्था का भी अध्ययन किया। भारतवर्ष के समुद्र-तट के बन्दरगाहों के व्यापार, नौकाओं, जहाज़ों तथा अन्य देशों के व्यापारियों से सम्पर्क का विशद उल्लेख उसकी यात्रा के विवरण से मिलता है। नारियल, काली मिर्च तथा बन्दरगाहों में उत्पन्न होने वाली अन्य वस्तुओं का भी उल्लेख इब्नबतूता ने किया है। कुछ प्रांतों की समृद्धि की उसने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। बंगाल को उसने समृद्धिशाली नरक (दोज़खे पर नमत) लिखा है। अन्य देशों से तुलना करते हुए उसने भारतवर्ष को संसार का सबसे अधिक धन-धान्य सम्पन्न तथा प्रगतिशील देश बताया है।

—लखनऊ से प्रसारित

हिमालय के रम्य स्थल

सतीशचन्द्र काला



हिमालय के वक्ष में अनेक रमणीय स्थल छिपे पड़े हैं। आवागमन की सीमित सुविधाओं के कारण कई स्थान अभी तक पूर्णतया प्रकाश में नहीं आ सके हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कश्मीर से लेकर, कांचनजुंगा की तलहटी तक प्राकृतिक दृश्यों की जो विवधता है, उसका दर्शन स्विट्जरलैण्ड, नार्वे, स्वीडन आदि देशों तथा आस-पास की पर्वत शृंखलाओं तक में नहीं मिलता है। यह सत्य है कि यूरोप में रमणीय स्थलों को आकर्षित करने के लिए कई उपादान प्रस्तुत किए गए हैं। किन्तु वहां के वातावरण में न तो स्वतन्त्रता ही है और न स्वाभाविकता। ऋतुकाल के चक्र में निखरने वाले प्रकृति के नाना भांति के रूप, मानव के करतलों से अछूत निर्झर तथा प्रपात, स्वाभाविक शक्ति तथा सुकुमारता के प्रतीक वृक्ष तथा लताएं एवं स्वयं उगने वाले रंग-बिरंगे पुष्पों के दर्शक अधिकतर वनचर या आकाश के तारे ही होते हैं। गिरिराज हिमालय भारत का मुकुट है। इसमें जड़े नगों की छटा का वर्णन करना आसान नहीं है।

भारत के उत्तर-पश्चिमी सिरे पर कश्मीर है। इस देश में अनेक लुभावने दृश्य, मनोरम घाटियां, सरोवर तथा पुष्पाच्छादित मैदान व्याप्त हैं। इसके सौंदर्य से आकर्षित हो कर मुगल सम्राटों ने श्रीनगर में शालीमार तथा निशात नामक उद्यानों का निर्माण करवाया। हिमाच्छादित पर्वतों की शृंखलाओं की पृष्ठभूमि में स्थित ये उद्यान आज भी देश-विदेश से आए हुए दर्शकों को मुगल सम्राटों के वैभव का ही नहीं वरन् उनके अद्वितीय सौंदर्य तथा कला प्रेम का दिग्दर्शन करवाते हैं। जहांगीर तो कश्मीर के पुष्पों तथा लताओं पर बहुत ही मुग्ध था। जब कभी इस सम्राट की दृष्टि पर्वतों के ऊपर उगे पुष्पों की ओर पड़ती थी, तो वह पागलों की तरह उन्हें चयन करने दौड़ता था। उस समय उसे इस बात का ध्यान नहीं रहता था कि वह कितने बीहड़ तथा भयंकर स्थानों की ओर लपक रहा है। कश्मीर की 'डल' नामक झील भी अनेक दृष्टियों से अनूठी है। यहां पर भी 'नसीम बाग' नामक उद्यान है। इसके भीतर जो 'चश्मेशाही' नामक सोता है, उसका जल हिम के सदृश ठंडा है। कश्मीर की राजधानी श्रीनगर है। यह जेहलम के तट पर सात पुलों के साथ स्थित है—पहलगांव, गुलमर्ग, खिलनमर्ग, कोकरनाग, अच्छावल आदि-आदि कई रमणीक स्थान कश्मीर में हैं।

कुल्लू तथा कांगड़ा घाटियों की सुन्दरता कश्मीर से किसी भांति कम नहीं है। अनेक स्थानों पर सेव तथा दूसरे फलों के उद्यान भी हैं। ऊंची-ऊंची पहाड़ियों की चोटी पर अभी तक राजपूत राजाओं के छोटे-छोटे दुर्ग भी दीख पड़ते हैं। कांगड़ा, योगीन्द्रनगर, डलहौज़ी, धर्मशाला, चम्बा, मनाली तथा कुल्लू नामक स्थानों का जलवायु विशेषकर लाभदायक है। इसके

अतिरिक्त प्रत्येक नगर विशिष्ट स्थानीय परम्पराओं, रीति-रस्मों तथा नर-नारियों के स्वच्छन्द अल्हड़पन से दर्शकों का मन मुग्ध कर लेता है। योगीन्द्रनगर में बिजली उत्पादन करने का विशाल कारखाना दर्शनीय है। पिघले बर्फ के जल से उत्पन्न नदी उहल से ही इस कारखाने के लिए पानी लिया जाता है। मनाली नगर पठानकोट से २०० मील की दूरी पर बसा है। इस नगर के चारों ओर लहलहाते फलों तथा पुष्पों के कई उद्यान हैं। मनाली रोहतंग दर्रे के द्वार पर है, जहां से व्यास नदी निकलती है। बैजनाथ में तो कई मध्यकालीन मंदिर है। इनकी पच्चीकारी देखने ही योग्य है। कुल्लू घाटी में प्रसिद्ध रूसी चित्रकार प्रो० निकोलस रोरिक द्वारा स्थापित शोध संस्थाएं है। वहां एक सुन्दर बोटेनिकल गार्डन भी है। इसमें हिमालय पर उगने वाल कई प्रकार के वृक्ष, लताएं, जड़ी-बूटियां आदि-आदि का संग्रह किया गया है।

शिमला भारत सरकार की पूर्व राजधानी रहा है, इस कारण इस स्थान को आकर्षक बनाने के लिए सभी उपलब्ध साधनों का प्रयोग किया गया है। शिमले से हिमालय का बड़ा ही सुन्दर दृश्य दीख पड़ता है। मसोवरा तथा महसू नामक दो क्षेत्रो मे घने तथा उच्च व्यवस्थित वन हैं। प्रातः काल ये वन नाना प्रकार के पक्षियो की ध्वनि से गूंज उठते है। कालका से शिमला जाते हुए सोलन तथा कसौली दो अन्य रम्य स्थल रास्ते में पड़ते हैं।

हिमालय के वक्ष में गढ़वाल, अल्मोड़ा तथा नैनीताल नामक तीन महत्वपूर्ण प्रदेश है। गढ़वाल प्रदेश में आवागमन की असुविधा के कारण कई रम्य स्थल प्रकाश में नही आ सके है। प्रमुख नगर पौड़ी से हिमालय का कांति मनोहर दृश्य दीख पड़ता है। उत्तर भारत के शायद ही किसी और स्थान से हिमालय की इतनी शृंखलाओं के दर्शन होते हों। पौड़ी नगर के ऊपर चोटी पर चीड़ का एक घना वन है, जिसमे घूमने के लिए चौड़े-चौड़े कई मार्ग बने है। यहां से ८ मील उतर कर श्रीनगर नामक स्थान मिलता है। श्रीनगर को प्राचीन काल में गढ़वाल की राजधानी होने का गौरव प्राप्त हुआ था। अलकनन्दा के मंद प्रवाह के साथ यह नगर पूरी घाटी में व्याप्त है। नगर के पंक्तिबद्ध मकानों मे विविधता है। नदी के दोनों ओर की शृंखलाओं में चंद्रवदनी तथा अष्टावक्र नामक ऐतिहासिक पर्वत महत्वपूर्ण है।

चमोली नामक स्थान से १२ मील की दूरी पर गौहना नामक सरोवर है। कुमायूं डिवीज़न में यह सबसे बड़े आकार का सरोवर है। इसका निर्माण सन् १८९३ ई० में विरही नदी में एक बड़े पहाड़ के टूटने से हुआ था। गौहना सरोवर में अटल शांति का साम्राज्य है। ध्यान तथा मनन के लिए इसके अतिरिक्त दूसरा कोई अन्य स्थान उत्तराखण्ड में नही है। गढवाल का मुकुट बद्रीनाथ पुरी है। बद्रीनाथ भारत के ४ प्रमुख तीर्थस्थानों में से एक है। धार्मिक महत्व के अतिरिक्त बद्रीनाथ का प्राकृतिक सौंदर्य भी अनूठा है। चट्टानो पर अलकनंदा के जल के टकराने का दृश्य बड़ा ही प्रभावोत्पादक है। बद्रीनाथ के निकट १५,००० फुट की ऊंचाई पर सतोपंथ नामक सरोवर है। इसके तट पर छोटे-छोटे अनेक पेड़ों के झुड तथा उनसे सटे ग्लेशियरों की कतारें है। बद्रीनाथ से ५ मील की दूरी पर वसुधारा नामक ४०० फुट ऊंचा जल प्रपात है। बर्फानी चट्टानों पर जब यह प्रपात गिरता है तो उससे धुएं के गुब्बारे उत्पन्न होते है। सूर्य की रोशनी में बूंदों तथा बौछारो के बीच ऐसा लगता है जैसे कई इन्द्रधनुष नृत्य कर रहे हों। ये स्थल सचमुच पृथ्वी पर स्वर्ग है। बद्रीनाथ से १३ मील की दूरी पर अंदरवेली नामक घाटी है। इस घाटी मे अगणित भाति के पुष्प खिले रहते है। ऋतुकालानुसार कभी-कभी ऐसा लगता है कि सारी घाटी मे फूलों के कालीन बिछा दिए गए हों। पर्वतारोही श्री स्माइथ ने इस घाटी से १९२७ ई० मे २५० प्रकार के पुष्पों का संकलन कर उन्हे एडिनबरा की बोटेनिकल गार्डन शोधशाला में भेजा था। गढवाल मे केदारनाथ, त्रियुगीनारायण, गंगोत्री तथा

यमुनोत्री नामक दर्शनीय स्थल भी हैं। केदारनाथ में कोई गांव या नगर नहीं हैं। यहां वातावरण का सूनापन विराग की स्वाभाविक भावना को उत्पन्न करने में बड़ा सफल हुआ है।

नैनादेवी के नाम से उत्पन्न नैनीताल प्रदेश में नैनीताल नगर कई वर्षों तक उत्तर प्रदेश की ग्रीष्म ऋतु की राजधानी रहा है। यह नगर एक ताल के चारों ओर बसा है और बराबर लोगों को आकर्षित करता आ रहा है। सुन्दर लाल तथा हरे रंगों से चित्रित छतों वाले मकान तथा लम्बे देवदार चीड़ आदि वृक्षों की परछाईं जब इस दो मील घेरे वाले ताल पर पड़ती है, तो यह एक अद्भुत जादू का खेल-सा लगता है। नैनीताल ज़िले में ६० ताल, जिनमें भीमताल, साततात, खुर्पाताल तथा मैनाताल प्रमुख हैं, इधर-उधर व्याप्त हैं। अल्मोड़ा तथा रानीखेत की भी अपनी-अपनी सौन्दर्य विशेषताएं हैं। रानीखेत हिमालय के वक्ष में बसे उन चंद स्थानों में से एक है जहां कई मील तक वृक्षों से आच्छादित समतल भूमि दीख पड़ती है। रानीखेत से हिमालय पर्वत की एक बहुत बड़ी शृंखला दीख पड़ती है। अल्मोड़ा एक ऐतिहासिक स्थान है। यहां से पर्वतों के क्रमिक चढ़ाव-उतार का बड़ा सुन्दर दृश्य दीख पड़ता है। अल्मोड़ा प्रदेश में कौसानी भी एक अन्य रम्य स्थल है। यहां की भूमि पर देवदार तथा सुराही की पौध खूब उगती है। किसी युग में कौसानी में हरे-भरे चाय के उद्यान थे। इस स्थान के सौन्दर्य तथा शांति से आकर्षित हो कर महात्मा गांधी भी यहां कुछ काल तक ठहरे थे। लोदाघाट से साढ़े-तीन मील दूरी पर श्री रामकृष्ण अद्वैत आश्रम है। इस स्थान के चारों ओर बांज के वृक्ष हैं। ग्रीष्म ऋतु के आगमन पर जब इन वृक्षों पर लाल रंग के उरास के पुष्प खिलते हैं, तो दूर से ऐसा लगता है जैसे लकड़ी के ऊपर अंगारों के ढेर रखे हों।

कैलाश तथा मानसरोवर हिमालय में दो अति महत्वपूर्ण स्थान हैं। हमारे धर्म, पुराणों तथा दंत-कथाओं में इन दोनों का विशद उल्लेख पाया जाता है। कैलाश तिब्बत के पश्चिम में ट्रांस हिमालय क्षेत्र में स्थित है। यहां पहुंचने के मार्ग में २५,३५५ फुट की ऊंचाई पर हिमाच्छादित गुरला मांधाता नामक पर्वत मिलता है। कई दर्रों को पार करके भ्रमणकार गुरला-ला दर्रे पर ठहरते हैं। इसके बाद ही उन बीहड़ तथा निर्जन स्थानों में उसे राक्षस ताल तथा मानसरोवर के दर्शन होते हैं। इनमें मानसरोवर का घेरा २०० वर्ग मील है। सामने ही कैलाश पर्वत एक बड़े शिवलिंग की तरह खड़ा है। हिन्दू, बौद्ध तथा जैन धर्मावलम्बी इस पर्वत को बड़ा पवित्र मानते हैं। राक्षस तथा मानसरोवर का पानी श्वेत नीलम की तरह है और इसकी पृष्ठभूमि श्वेत बर्फ से ऐसी ढकी है मानो इसके ऊपर इसी रंग की कोई चादर ओढ़ा दी गई हो। यह क्षेत्र सचमुच में देवों का विचरण स्थल है। अल्मोड़ा ज़िले में स्थित पिंडारी ग्लेशियर भ्रमणकारों एवं पर्वतारोहियों का विशेष क्रीड़ास्थल रहा है। इस ग्लेशियर का नाम पिंडर नदी के नाम पर हुआ है। यह स्थान रानीखेत से लगभग १४० मील उत्तर-पूर्व दिशा में स्थित है। १२,००० फुट की ऊंचाई के इस ग्लेशियर के चारों ओर बर्फानी पहाड़ियों का प्रभाव है। दो मील के घेरे में केवल पूर्व की ओर ही एक विशाल पर्वत है। ग्लेशियर के निकट मीलों तक जंगली पुष्पों, झाड़ियों तथा अन्य वृक्षों के झुरमुट दीख पड़ते हैं। इनमें जंगली गुलाब विशेष उल्लेखनीय हैं। पानी के छोटे-छोटे सरोवरों में जंगली बत्तखें तथा हरे कबूतर स्वच्छन्दतापूर्वक क्रीड़ा में मस्त रहते हैं। चट्टानों पर कभी स्यार तथा कभी जंगली भालू की विचित्र आवाज़ वातावरण को गम्भीर कर देती है।

पूर्व में दार्जिलिंग नामक रमणीक स्थान है। ७,००० फुट की ऊंचाई पर बसे इस स्थान से हिमालय की शृंखलाओं का अति सुन्दर विहंगम दृश्य दीख पड़ता है। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक प्रकाश के अनेक खिलवाड़ इनमें दृष्टिगत होते हैं। कांचनजंगा नामक पर्वत की विशालता

तथा भव्यता देखने ही योग्य है। दार्जिलिंग से ७ मील की दूरी पर टाइगर हिल है। सिलीगुड़ी से दार्जिलिंग को जाने का रेल-मार्ग इंजीनियरिंग कला का अद्भुत कौशल है। इस क्षेत्र की जनसंख्या में लेपचा, शेरपा, भूटानी, तिब्बती तथा नेपाली सम्मिलित हैं। स्वास्थ्यकर जलवायु के अतिरिक्त लोगों की चित्र-विचित्र वेश-भूषा, आमोद-प्रमोद, हास्य मुद्रा तथा रीति-रस्म से दार्जिलिंग ग्रीष्म ऋतु में एक स्वर्ग-सा बन जाता है।

असम की राजधानी शिलांग नगर की रूपरेखा देखने योग्य है—खासी तथा जैन्तिया पर्वतों के मध्य में स्थित हिमालय के तल पर रहते हुए भी यह नगर उससे प्राकृतिक तत्वों में विचित्रता रखता है।

हिमालय को विद्वानों ने 'देवात्मा' की ठीक ही उपाधि दी है। सहस्रों मील लम्बी पर्वत-श्रृंखलाओं में जो संसार बसा है उसमें जीव-जंतु, पशु-पक्षी, वन-फूल तथा जड़ी-बूटियों से सम्पन्न कई स्थल भरे पड़े हैं।

—इलाहाबाद से प्रसारित

मानवता के उपकारी अब्राहम लिंकन

क्षेमचन्द्र 'सुमन'



अब्राहम लिंकन का जन्म १२ फरवरी, १८०९ को अमेरिका के केंटकी राज्य में हाजनविल से लगभग डेढ़ मील के अन्तर पर नालिक क्रीक नामक स्थान में हुआ था। उसका जन्म ऐसे घर में हुआ था जिसमें फर्श की जगह केवल जमीन थी, दीवारों की जगह फट्टे खड़े कर लिए गए थे; मेज, कुर्सी, पलंग आदि का कहीं नाम न था, अर्थात अब्राहम का घर ऐसा झोंपड़ा था जैसा कि भारत की निर्धन छोटी जातियों के लोग घास-फूंस का बना लेते हैं।

अपने बाल्यकाल में ही अब्राहम को अपने गांव में रहने वाले लोगों की गुलामी का ज्ञान हो गया था। उनके साथ बड़ा अन्याय तथा अत्याचार किया जाता था। एक दिन उसने अपनी माता से पूछा भी था—क्या तुम्हारी समझ में गुलामी अच्छी चीज है?

इस पर उसकी माता ने उत्तर दिया था—नहीं बेटा, कदापि नहीं!

अब्राहम ने फिर अपनी माता से पूछा—क्या केंटकी के बच्चों को दासत्व से मुक्त करने के लिए कोई महापुरुष उत्पन्न नहीं होगा?

उसकी मां ने उत्तर दिया—सम्भव है, होगा।

अब्राहम अपनी मां के इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हुआ और उसने कहा—मुझे विश्वास है कि जिस प्रकार ईश्वर ने मिस्रवासियों को दासता से मुक्त कराने के लिए महात्मा मूसा को वहां भेजा था, उसी प्रकार केंटकी में भी वह किसी न किसी को अवश्य ही भेजेगा।

अब्राहम लिंकन के माता-पिता जमीन पर घास और पुआल के बिछौने बना कर फटी-पुरानी खालों और कम्बलों को ओढ़ कर ही रात बिताया करते थे। आग चिराग का काम देती थी, कोयला कलम का और लकड़ी तथा पत्थर स्लेट तथा कागज का काम देते थे। न पैसा पास था, और न कोई सहायक मित्र ही। लिंकन को साल भर भी किसी स्कूल में शिक्षा नहीं मिली थी, परन्तु इस अवस्था में भी उसने अपने साहस, परिश्रम और दृढ़ संकल्प के द्वारा स्वावलम्बन का मार्ग ग्रहण किया और धीरे-धीरे वह एक दिन अमेरिका का राष्ट्रपति हो गया।

एक बार लिंकन किसी की मजदूरी करके उसके बदले में वाशिंगटन की जीवनी पढ़ने के लिए लाया। उसने रात में आग के पास बैठ कर पुस्तक पढ़ी और उसे वह तब तक पढ़ता रहा जब तक कि उसके पिता ने आग बुझा नहीं दी। लिंकन इसलिए लकड़ियों के पास सोया रहा ताकि सवेरा होने पर वह पुस्तक को पढ़ सके। पुस्तक रात में ओस से गीली हो गई। इससे उसका दिल बैठ गया। अगले दिन उससे कहा गया कि यदि वह तीन दिन बिना

पैसे लिए काम करेगा तो वाशिगटन की जीवनी उसकी बन जाएगी। वह तुरन्त मान गया। वाशिंगटन की जीवनी उसकी बन गई। उस दिन वह बहुत खुश था।

वाशिंगटन अमेरिका का पहला प्रेसीडेंट था। उसकी जीवनी को बार-बार पढ़ कर उसके मन में यह भावना पैदा हुई कि वह भी एक दिन अवश्य ही अमेरिका का प्रेसीडेंट बनेगा। इस पुस्तक के बाद लिंकन ने हेनरी प्ले की जीवनी भी पढ़ी। उन दिनों हेनरी प्ले का बड़ा नाम था और राजनीतिक विषयों पर उसके भाषण बड़े ही प्रभावशाली हुआ करते थे। क्योंकि लिंकन स्वयं राजनीतिज्ञ बनने की महत्वाकांक्षा रखता था, अतएव उसके लिए यह पुस्तक बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुई। पुस्तकें पढ़ने के अतिरिक्त उसे और भी कितने ही काम करने पड़ते थे, वह जंगल से लकड़ी और पानी लाया करता था, और घर के कामों में अपनी माता को बहुत सहायता दिया करता था।

लिंकन स्वभाव का बड़ा दयालु था। एक बार जब वह तथा दूसरे लड़के काम से वापस घर लौट रहे थे, तो उन्होंने सड़क के पास एक घोड़े को कसा-कसा-सा हुआ पाया। अब्राहम ने अपने साथियों से कहा कि मेरे विचार में यह घोड़ा जिस आदमी का है, वह कही शराब पिए हुए बेहोश पड़ा होगा—आओ उसे ढूंढ़ें। ढूंढ़ने से वह मिल गया। उसके साथियों मे से एक ने कहा कि इस बदमाश को यहां पड़ा रहने दो। इसकी यही सज़ा है। परन्तु लिंकन ने कहा—नहीं, यह ठीक नही है, यह बेचारा मर जाएगा। तुम इसे मेरे कन्धों पर चढ़ा दो। मै इसे पास वाले घर में ले जाऊंगा। जब तक वह आदमी होश में नहीं आया लिकन बराबर उसके पास रहा।

लिंकन में बड़े से बड़े और छोटे से छोटे हर एक काम को करने की क्षमता थी। जहा से जो बात मिलती उस वह तुरन्त सीख लेता था। उसकी दृढ़ता ही उसे आगे बढ़ाए लिए जाती थी। एक बार पादरी जे० पी० गुलीवर ने अब्राहम से, जब वह उच्च पद पर पहुंच गया था, पूछा कि आपने अपने विषयों को ऐसी उत्तम रीति से तरतीब देना कैसे सीखा? आपने कैसे शिक्षा पाई? इस पर लिंकन ने उत्तर दिया—मैं स्कूल में पढ़ने के लिए तो बारह महीने से एक दिन भी अधिक नहीं गया। हां, एक बात है कि मैंने किसी भी बात को उस समय तक नही छोड़ा जब तक कि वह अच्छी तरह से मेरी समझ में नहीं आ गई। मैं ज़रा-ज़रा-सी बात पर घण्टों विचार किया करता था।

एक बार अब्राहम १६ वर्ष की आयु में जेम्स टेलर नाम के एक व्यक्ति के यहां ६ डालर मासिक वेतन पर नौकर था। टेलर-दम्पति लिकन के काम से बहुत प्रसन्न रहते थे। भाग्यवश लिंकन को उनके घर में संयुक्त राज्य अमेरिका का इतिहास तथा दो-तीन और पुस्तकें मिल गई। दिन भर तो वह काम करता था और रात में उन पुस्तकों को पढ़ा करता था। अब्राहम रात को जेम्स टेलर के लड़के ग्रीन टेलर क साथ ऊपर के कमरे में सोया करता था। एक दिन ग्रीन टेलर ने उस पर क्रोध करके उसे बहुत मारा, परन्तु लिकन ने चूं तक नही की, यद्यपि वह टेलर से कही अधिक ताक़तवर था। यदि वह चाहता तो उसे ऐसी मार लगाता कि वह जन्म भर याद रखता। परन्तु लिंकन समझता था कि वही आदमी सच्चा वीर है जो अपने आपको काबू में रखता है।

टलर साहब के यहां से नौकरी छोड़ने के उपरान्त लिंकन ने मिस्टर जेम्स के गोदाम मे नौकरी कर ली। उसे भी अब्राहम ने अपने काम से बहुत सन्तुष्ट कर लिया था। जेम्स के पास बहुत-सी पुस्तकें थीं, उनमें फ्रेंकलिन का जीवन-चरित भी था। लिकन को जब भी अवकाश मिलता वह पुस्तक पढ़ने में लग जाता। धीरे-धीर उसकी रुचि राजनीतिक विषयो की ओर हो गई। नीति और सदाचार सम्बन्धी उसकी बातें भी अत्यन्त रोचक होती थीं।

एक बार उसने कोई चीज़ किसी स्त्री को बेची, परन्तु जब वह स्त्री क़ीमत दे कर चली गई तो बाद में लिंकन को यह मालूम हुआ कि उस स्त्री से ज्यादा कीमत ले ली गई है। बस उसे चैन

मिज़ाजपुरसी करने वाले

व्रजकिशोर 'नारायण'



'कड़वा-कड़वा थू, मीठा-मीठा गप्प' के ज़माने में हर आदमी हर आदमी को अजीब जीव मालूम होता है, अगर वह उसके माकूल नहीं पड़ता। माकूल नहीं पड़ने का सीधा मतलब यह है कि आप चाहे बावन तोले, पाव रत्ती की तौल की बात बेशक बोलें, लेकिन वह अगर मेरे मतलब की तराजू के पासंग से ऊपर-नीचे हो जाती है, तो समझिए कि आपने सारा गुड़-गोबर कर डाला।

ठीक इसी तरह मिज़ाजपुरसी करने वाले भी उस वक्त बदबख्ती और बदकिस्मती के शिकार हो जाते हैं जब उनकी गहरी संवेदना और हार्दिक सहानुभूति मरीज के मुआफिक नहीं पड़ती। बात तिरसठ की तरह कहिए या छत्तीस की तरह, मगर असलियत यह है कि कहने की बारी जिसको मिलती है, बाजी उसी के हाथ होती है। चूंकि आज बारी उस व्यक्ति की है जो मरीज है और हर-दिल-अजीज भी ऐसा कि हर दो मिनट पर एक न एक मिज़ाज-पुरसी करने वाले साहब तशरीफ ला रखते हैं, आपको कुछ मज़ेदार बातें सुनने को अवश्य मिल जाएंगी।

मेरे एक साहित्यिक मित्र जो कलम के धनी होने के साथ-साथ कमाई के भी धनी हैं, दुर्भाग्यवश सीढ़ी से गिर गए। ढलती उम्र थी, कमर में कुछ ज्यादा जर्ब पहुंच गया। चलने-फिरने की कौन कहे, करवट लेना भी दुश्वार हो गया। उठे तो हाय! और बैठे तो उफ! जान आफत में आ गई, और ऊपर से जले पर नमक यूं कि सुबह से शाम तक कम से कम दो दर्जन दोस्त अहबाब तो जरूर ही पधारें—केवल यह पूछने के लिए कि जनाब कैसे गिरे? कहां चोट लगी? और अब दर्द कैसा है? शाम को जब मैं अपने मरीज दोस्त के पास पहुंचा तो वे आपे से बाहर हो चुके थे और उन्होंने नौकर से कह दिया था कि खुदा मियां भी आवें तो कह देना कि वे घर पर नहीं हैं, खाट पर से तो जाने कब के उठ गए। मैं उनकी मुसीबत को भांप गया। बाहर से ही चिल्ला कर बोला, "मैं खुदा नहीं हूं, जनाब। मैं आपका मुलाकाती हूं, बिना मिले नहीं जा सकता।"

मेरी आवाज जो उन्होंने सुनी तो दर्द की हालत में भी हँस पड़े और अन्दर से चिल्ला कर बोले, "आ जाओ, यार! मैंने समझा कि गुसाईं जी आ गए हैं। तुम्हारी आवाज, उनकी आवाज से बहुत मिलती-जुलती है।"

मैंने पूछा, "भाई! मगर मेरी आवाज से आवाज मिलाने वाले यह महात्मा हैं कौन?"

मेरे मरीज़ दोस्त ने दूसरी तरफ करवट बदलते हुए कहा, "क्या कहें दोस्त ? यह मेरे मामा जी के दोस्त हैं। सामने वाली गली में रहते हैं। रिटायर्ड आदमी हैं, काम-धन्धा तो कुछ है नहीं। जब मे बीमार पड़ा हूं, करीब दो-तीन घंटे का अपना बहुमूल्य समय यहां रोज़ व्यतीत कर देते हैं। तीन घंटों में दस-बारह आदमी बाहर से भी आ जाते हैं और उनकी बन आती है।"

मैंने अचरज से पूछा, "बाहर के आदमियों के आ जाने से उनकी क्या बन आती है ?"

रोगी महाशय को दर्द की जगह पर मुक्का जैसा लगा और वे तिलमिला कर बोले, "भाई मेरे ! और लोग तो तबाह करते हैं मिज़ाज की खराबी की पूछताछ करके, मगर गुसाईं जी रामायण से ले कर स्पुतनिक तक की चर्चा ले बैठते है। और जब मैं घबड़ा कर करवटें बदलता हूं या ऊपर-नीचे सांस लेने लगता हूं, तो बड़े प्यार से उझककर पूछते हैं,—"कहिए, पहले से तो कुछ अधिक अच्छा 'फील' कर रहे हैं न ?···क्या कहूं दोस्त ! खून का घूंट पी कर रह जाना पड़ता है। इच्छा तो होती है कि कहूं, गुसाईं जी ! अगर आप गुसाईं जी की रामायण के 'मिलत एक दारुन दुख देहीं' वाले शुभचिंतक हैं, तो इससे अच्छा है कि आप मेरे जानी दुश्मन ही बन जाइए और ऐसी उलटी माला फेरिए कि मैं फौरन से पेश्तर इस असार संसार से मुक्ति पा जाऊं। मगर मजबूरी को क्या कहिए कि न कुछ कहते बन पड़ता है और न जान बचाते।"

अपने मित्र की मिज़ाजपुरसी की मुसीबत सुन कर मुझे भी वे दिन याद आ गए जब मैं खुद बीमार पड़ कर बिस्तरबन्द था और साहित्यिक मित्रों का तांता मेरे घर लगा था। और मित्र आते थे और मिज़ाजपुरसी करकें चले जाते थे, मगर जब मेरे हमपेशा कवि मित्र आते थे तो हर घड़ी परम पिता परमात्मा से मन ही मन साष्टांग दंडवत करके यही प्रार्थना करता था कि कहीं खंडकाव्य या महाकाव्य का कोई टुकड़ा ले कर यह महापुरुष न पधारे हों। आप कहेंगे कि किसी के बीमार पड़ने पर काव्य सुनाने की जरूरत या अवसर ? तो इसकी भी सफाई सुन लीजिए। कुछ उत्साही तरुणों की काव्य-प्रतिभा हिरन की तरह यूं कुलांचें मारती है कि अगर उसे किसी खूंटे में आप इसलिए बांध देना चाहें कि वह कोमल पांवों से हाथ न धो बैठे, तो आप देखेंगे कि वह उछल कर अपने दो सींग आपकी ही पीठ पर गड़ा देगा और अगर आप "खामोश" रह गए तो खून खराबी तक उतर भी आएगा। आप हिरन के मार्फत मेरा दूर का भी मतलब समझ ही गए होंगे। सो जनाब यूं समझिए कि ऐसे कवि आपके जीवन की व्यस्तता में से कुछ ज्यादा समय प्राप्त नहीं कर पाते और अंजाम यह होता है कि जब कभी आप अपने दुर्भाग्य और उनके सौभाग्य से बीमार पड़ जाते है, तो उनके पौ-बारह हो जाते है।

तो सारांश में किस्सा यह कि मुझे बीमार यानी लाचार देख कर एक तरुण कवि मेरी मिज़ाजपुरसी को पहुंचे और तबियत को पहले से बेहतर जान कर निहायत खुश हो गए। कुर्सी के नीचे से अपना बस्ता खोलते हुए उन्होंने कहा, "नारायण जी ! महाकाव्य तो यूं वाल्मीकि से माइकेल तक लिखे गए, मगर मेरा यह महाकाव्य महज़ मरीजों के लिए लिखा गया है। चरक से ले कर लुकमान तक और धन्वन्तरि से ले कर घन्नू वैद्य तक के नुस्खे इस काव्य में कलात्मक और श्लेपात्मक आवरण में अपना चमत्कार दिखा रहे हैं। अगर इजाजत हो तो कुछ अंश सुनाऊं।" मैं मरीज़ आदमी क्या कहता ? सिवाय इसके कि अजीब जीव होते हैं ये मिज़ाजपुरसी करने वाले, जो मिज़ाजपुरसी में भी बिना महाकाव्य सुनाए किसी मरीज़ को मरने की इजाज़त नहीं देते।

—पटना से प्रसारित

धागे की मार

सत्येन्द्र शरत्



अपने छोटे भाई वीरेन्द्र को मैं खासे कट्टर प्राण का व्यक्ति मानता हूं। उसकी आंखों में मैंने अब तक कभी भी आंसू नहीं देखे। जिस समय माता जी का देहांत हुआ था, उस समय हम सब भाई-बहन बहुत छोटे थे, इस कारण तब की तो मुझे याद नहीं, परन्तु बाद में अनेक ऐसे अवसरों पर जब मैं और वीरेन्द्र से छोटे भाई देवेन्द्र और शैल फूट-फूट कर रोए, मुझे अच्छी तरह याद है, वीरेन्द्र साहब निर्विकार भाव से टहलते रहे, या बैठे इतमीनान से किसी पत्रिका को उलटते-पुलटते रहे। अपनी छोटी बहन विनोदिनी की विदा के समय हम तीनों भाइयों का रोते-रोते बुरा हाल हो गया, मगर मजाल है जो वीरेन्द्र जी के चेहरे पर एक शिकन तक पड़ी हो। यहां तक कि उन्हें हमारे इस तरह फूट-फूट कर रोने पर क्रोध आ गया—ऐसा मेरे चचेरे भाई ने बाद में मुझे बतलाया।

अपने शहर में इंटरमीडिएट से आगे शिक्षा की कोई व्यवस्था न देख मैं बी० ए० करने इलाहाबाद चला गया। जिस दिन मुझे रेल पर चढ़ना था, छोटे भाई देवेन्द्र और शैल मुझे दूर तक छोड़ने आए और विदा होते समय मुझे नमस्ते करके कुछ आगे बढ़ गए और वहां से मुड़ कर मुझे देखने और धीरे-धीरे रोने लगे। मेरा भी मन भर आया। मैं भी रोने लगा। हम मातृ-पितृविहीन बच्चे पहली बार एक-दूसरे से इतनी दूर हो रहे थे। रोते-रोते उन दोनों के सिर पर हाथ फिराते हुए मुझे सहसा वीरेन्द्र का ध्यान आया, जो मुझे घर से सामान ले कर चलते समय एक निर्विकार और भावरहित नमस्ते करके आचार के लिए आम तोड़ने चला गया था। मुझे फिर यही प्रतीति हुई कि वीरेन्द्र बड़े कट्टर प्राणों का है, उसे किसी से मोह नहीं है।

पढ़ाई समाप्त करने के दो-तीन वर्ष बाद की बात है। मैं उन दिनों बम्बई में नौकरी करता था और एक माह की छुट्टी ले कर घर आया हुआ था। उन दिनों हम सब भाई अपनी मौसी जी के यहां गांव में रहा करते थे। विनोद बहन अपनी ससुराल में थी। वीरेन्द्र जी काफी बड़े हो गए थे। एफ० ए० में पढ़ रहे थे। इधर घर में उनकी खासी धाक जम गई थी। घर वालों पर उनका बड़ा रोब था। बच्चों और छोटे भाइयों के रिंग लीडर तो वह हमेशा से ही थे। पढ़ते कम थे। घर का काम ज्यादा करते थे और छोटे भाइयों—देवेन्द्र, और शैल को भी अपने साथ लगाए रहते थे। मौसी जी ने एक बार कहा—"ए वीरेन्द्र! जलाने की लकड़ी खत्म हो गई है। टाल से एक गाड़ी लकड़ी फड़वा कर ले आ न!"

दो-एक दिन तो वीरेन्द्र जी सुनते रहे और टाल-मटोल करते रहे। चौथे दिन सुबह ही बैठ कर पत्थर पर कुल्हाड़ी तेज करने लगे। मौसी जी ने अचरज से पूछा—"भाई, यह क्या?"

हुआ साधू के पास जाता था और चिल्ला कर कहता था, "साधू ! चुप ! खबरदार जो शोर किया !" बेचारा साधू वीरेन्द्र की ओर सहमी दृष्टि से देख अपनी पीड़ा दवा कर थोड़े समय के लिए चुप हो जाया करता था। तब हम सबको, विशेष रूप से शैल को, साधू पर बड़ा तरस और वीरेन्द्र पर बहुत गुस्सा आया करता था। लेकिन वीरेन्द्र से कुछ कहने का साहस हममें से किसी में भी न था।

अब साधू ने खाना-पीना सब बन्द कर दिया था। उसकी हालत बिगड़ती ही देख मौसी जी ने शैल के द्वारा वृद्ध माली दादा को बुलवाया। कांपते हाथों से कराहते साधू के ऊपर हाथ फेरते हुए अनुभवी माली दादा ने कहा, "बहू जी, तुम्हारे कुत्ते की जीवारी खत्म हो गई। इसका सिर सड़ गया है। अब यह बचेगा नहीं। जितने दिनों का कष्ट इसके भाग में और है, वो तो इसे झेलना ही होगा। दवा-पूड़ी अब क्या असर करेगी ! अच्छा तो यही हो कि ईश्वर इसे ज़्यादा त्रास न दे और जल्द ही इसका चोला छूट जाए।

सुन कर मन दुख से भर गया।

मैं उस रात को कभी नहीं भूल सकता। खाना खा लेने के बाद हम सब लोग रसोई में बैठे हुए थे। बाहर गैलरी में साधू अपने दर्द से रो रहा था। मौसी जी ने कहा, "वीरेन्द्र ! आज माली दादा कह गए हैं, साधू बचेगा नहीं।" वीरेन्द्र ने एक विचित्र ही अक्खड़पन से कहा, "वो तो मुझे पहले ही दीख गया था। मैं तो आपकी वजह से ही चुप था, नहीं तो अब तक कभी का······

"कभी का क्या ?" मैंने उत्सुकता से पूछा।

"मैंने इसे खत्म कर दिया होता।" वीरेन्द्र ने बड़ी लापरवाही से कहा। फिर एक क्षण चुप रह बोला, "देखिए न भाई साहब ! साधू को जिन्दा रख हम उस पर दया नहीं कर रहे हैं, बल्कि उसके कष्ट की अवधि ही बढ़ा रहे हैं। माना कि वह बड़ा वफ़ादार है, और हमें उससे बहुत प्यार है, लेकिन उस प्यार से क्या फायदा, जिससे उसका कोई भला न हो। या तो हम उसे बचा लें। नहीं तो उस प्यार के नाते ये हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम उसे सड़ कर मरने न दें, बल्कि जितना शीघ्र हो सके उसे उसके कष्टों से मुक्ति दिला दें।"

वीरेन्द्र के इस हृदयहीन प्रस्ताव पर हम सब सहम कर चुप हो गए और एक-दूसरे की ओर देख, कुछ न बोल पाने के कारण लालटेन की ओर देखने लगे। वीरेन्द्र थोड़ी देर चुप रहा, फिर उठता हुआ बोला, "मैंने तो तय कर लिया है। कल सुबह मौसा जी से बंदूक ले मैं साधू को जंगल ले जाऊंगा और उसे गोली मार दूंगा। साफ बात है। मुझसे इसका यह रोना-कराहना नहीं देखा जाता।" खड़ाऊं पहन वह अपने कमरे की ओर चला गया। देर तक हम चुपचाप बैठे उसकी दूर होती हुई खट्खट् और साधू का दर्द-भरा रोना सुनते रहे।

सुबह से वीरेन्द्र जी मस्त थे। बंदूक ले, सीटी बजाते हुए उसे साफ कर और उसमें कारतूस भर वह बिलकुल तैयार थे। देवेन्द्र और शैल प्रसन्न तो न थे, पर साधू कैसे मारा जाएगा, ये देखने की उत्कंठा उन्हें अवश्य थी। चाय पी कर वीरेन्द्र जी ने देवेन्द्र और शैल को आर्डर दिया कि साधू को खोल दो और उसकी ज़ंजीर ले कर मेरे साथ आ जाओ। खुलते ही, हमेशा की तरह साधू बाहर आ गया और तीनों भाइयों को बाहर जाते देख, बिना कुछ बोले उनके पीछे-पीछे हो लिया। मौसी जी चावल साफ करने अन्दर रसोई में चलीं। मैं थोड़ी देर चुपचाप इधर-उधर टहलता रहा और तब कमरे में आ एक किताब खोल बैठ गया और कोशिश करने लगा कि उसमें अपना ध्यान गड़ा दूं। मुझे देवेन्द्र और शैल पर आश्चर्य हो रहा

था। साबू से इतना स्नेह होने पर भी वे किस कौतूहल के साथ ये देखने गए थे कि वीरेन्द्र जी उसे गोली कैसे मारते हैं ? मानव स्वभाव कितना विचित्र है !

कोई आध घंटे बाद कुछ आहट सुन मैं बाहर आया। देखा—सबसे आगे वीरेन्द्र और पीछे देवेन्द्र व शैल सिर झुकाए लौट रहे हैं। तीनों के चेहरे उतरे हुए थे। वीरेन्द्र को गम्भीर देख मैं विस्मय में पड़ गया। उसके हाथ में बंदूक थी। शैल के हाथ में जंजीर, और देवेन्द्र खाली हाथ था।

वीरेन्द्र आंगन में पड़े लकड़ी के एक कुंदे पर चुपचाप बैठ गया। देवेन्द्र बिना रुके कमरे की ओर बढ़ा। निकट आने पर मैंने उससे पूछा, "खत्म कर दिया ?"

बिना मुझ से आंख मिलाए उसने संक्षिप्त उत्तर दिया —"हां" और अन्दर चलने लगा।

मैंने फिर पूछा, "बंदूक देख वह भागा तो नहीं ?"

"नहीं। उसे एक पेड़ के साथ जंजीर से बांध दिया था।" कहता-कहता वह अन्दर चला गया।

मैं चुपचाप खड़ा रहा। शैल भी आ गया था। वीरेन्द्र के पास पहुंच उसने पूछा, 'वीरेन्द्र भाई साहब, ये जंजीर कहां रखूं ?"

वीरेन्द्र ने सिर उठा एक विचित्र ही दृष्टि से उसकी ओर देखा और अजीब ही रूखेपन से उसे डपटता हुआ बोला, "मुझे क्या मालूम ? कहीं भी डाल दे। मुझे क्यों तंग कर रहा है ?"

शैल सहम गया। तब थोड़ा साहस कर विरोध करता हुआ बोला—"आप मुझ पर क्यों नाराज हो रहे हैं ? मैंने क्या किया है ?"

क्रोध से वीरेन्द्र की आंखें जल उठीं। बंदूक उठाता हुआ वह बोला—"भाग जा यहां से। मुझसे बहस मत कर। नहीं तो तेरा सिर भी····।" उसकी आवाज भर्रा उठी। और सहसा उसे न जाने क्या हो गया। वह व्यक्ति जो जीवन में कभी रोया न था, जिसने सदैव आंसुओं से घृणा की थी, बंदूक नीचे फेंक, जमीन पर बैठ बच्चे की तरह फूट-फूट कर रोने लगा।

कोड़ों की भी मार को निर्भयतापूर्वक सह सकने वाले व्यक्ति के लिए धागे की मार असह्य हो उठी थी।

—दिल्ली से प्रसारित

अनायास भूलें

डा० जी० एस० दस्तूर



मरीज़ ने मन का रोग जानने वाले डाक्टर से कहा—देखिए डाक्टर साहब, मेरी स्मरण शक्ति यों तो खराब नही है, एक तरह से अच्छी ही है; मगर मैंने देखा है कि मैं अकसर वे ही चीज़ें भूल जाता हूं जिन्हे याद रखना मेरे लिए ज़रूरी होता है। नतीजा यह है कि अकसर मुझे निदामत भोगनी पड़ती है। कुछ समझ मे नहीं आता कि मेरा हाफ़िजा ऐसी ऊट-पटांग हरकतें क्यों करता है? कभी तो जो चाहता हूं ठीक वही दिमाग से निकल आता है और कभी-कभी याददाश्त ऐसे चक्कर खिलाती है कि बस। अभी एक मर्तबे अपनी कम्पनी के बोर्ड आफ़ डायरेक्टर के सामने अपने एक साथी और दोस्त का परिचय कराने की ज़रूरत पड़ी। मैं परिचय कराने के लिए खड़ा हुआ, मगर दोस्त का नाम ही याद न आए। हर बार याद आए उसके घर का नाम जिसे सभा मे लेना बदतमीजी से कम नही था। सोचिए, उस वक्त मेरी क्या हालत हुई होगी!

अगर हम चाहे तो इस तरह के उदाहरण पर उदाहरण दिए जा सकते है, क्योंकि यह हमारी रोज़मर्रा की जिन्दगी में कम-ज्यादा सब पर बीतती रहती है। भला उस भुलक्कड़ प्रोफेसर की खिल्ली किसने नही उड़ाई होगी जो कि करने की बात भूल बैठता है और न करने की बात कर बैठता है। साहित्य में इस तरह के उदाहरण भी पाए जाते है। जब कवियों और नाटककारों ने अपने पात्रो से शब्दों की ऐसी गलतियां कराई है जिनसे उनके मन में छिपे-छिपे चलने वाली हलचले व्यक्त हो जाती है। इससे यह बात साफ है कि अनजाने में की गई भूलों के पीछे कोई कारण रहता है जिसका अर्थ समझा जा सकता है। यह बात पहले के लोग भी जानते थे, अलबत्ता उसका वैज्ञानिक विश्लेषण उनके पास नही था।

साधारणतया स्वस्थ व्यक्तियों के स्मृति दोषों को लीजिए। स्मृति के गम्भीर दोष तो किसी रोग मे सम्बन्धित होते है। साधारणतया स्मृति दोषो की चर्चा करते समय हमारे मन मे व्यक्तियों का नाम भूल जाना, तयशुदा बातों की याद न रहना, लिखा हुआ खत डालते-डालते रह जाना, चैक लिखने मे कुछ छोड़ देना, बिल चुकाने की बात अकसर मन से उतर जाना, पढ़ने के लिए उधार लाई गई किताबों का वापस न करना, चीज़ों को कही का कही रख देना और फिर परेशान होना जैसी बातें आती है। इसी तरह की दूसरी गलतियां, जैसे कुछ कहने जा कर कुछ और कह देना, जाने हुए शब्दों के हिज्जे गलत लिख देना, कुछ का कुछ पढ जाना, या कुछ का कुछ सुन लेना, ऐसी गलतिया भी इसी मे शामिल समझिए, क्योंकि स्मृति के ये दोष भी मन की उसी तरह की

हलचल के कारण उत्पन्न होते हैं जिस तरह की हलचल के कारण पहले गिनाई हुई गलतियां होती रहती हैं। थकावट, बीमारी, ध्यान बंटना, आवेश, मानसिक उलझाव आदि भी एक हद तक इन भूलों से सम्बन्धित होते हैं। मगर इस तरह के अभावों में भी ऐसी भूलें होती हैं, इसलिए इन कारणों को केवल तात्कालिक कारण माना जा सकता है। असल कारण दूसरा ही है।

भूलते रहना और चूकते रहना निरर्थक व्यापार नहीं है, बल्कि इनसे व्यक्ति के अवचेतन में पड़े हुए किसी उद्देश्य, किसी इच्छा अथवा लालसा का व्यक्तिकरण होता है जो भले ही उस व्यक्ति की नज़र से उस समय ओझल हो। सच पूछिए तो भूलना मन की एक मसलेहत है, सुरक्षा कवच है, जिसके द्वारा वह उन अनुभवों या स्मृतियों को नज़रअंदाज़ करना चाहता है जो दुखदायी हैं। फ्रायड ने कहा कि हमारी चेतना दुख भरे क्षणों को बचाना चाहती है और सुख के साधन खोजना चाहती है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि कोई आदमी दांत के डाक्टर को दी हुई तारीख भूल जाए, या गलत तारीख को उसके यहां पहुंच जाए या उसके पास जाने के लिए गलत गाड़ी में बैठ जाए। तीन-तीन बार की हुई इस तरह की गलतियां निश्चय ही अनायास भूलें नहीं हैं, बल्कि तकलीफ के भय से उत्पन्न बचने की इच्छा की प्रमाण हैं। एक बार एक स्त्री को अपने पिता की ज्यादतियों से परेशान हो कर अपना महल जैसा मकान छोड़ देना पड़ा और फिर वह उस मकान का पता भूल गई—साफ है कि उसके अवचेतन पर उस घटना का बड़ा गहरा असर पड़ा और अवचेतन ने उस घटना को भूलने में सारी ताकत लगा दी। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिस घटना का ज़िक्र हम अपनी ज़बान पर नहीं लाना चाहते या कहिए जिसकी हम याद भी नहीं करना चाहते वह हमारे कामों से ज़ाहिर हो जाती है। जैसे एक व्यक्ति अपने दोस्त का नाम भूल गया, क्योंकि उसके दोस्त ने उस लड़की को बहका कर उससे शादी कर ली जिससे वह शादी करना चाहता था और इससे भी बढ़ कर व्यापार के क्षेत्र में उसका प्रतिद्वंद्वी बन गया! उसका नाम भूल कर गोया उसने यह कहा कि अब आप मेरे मन में नहीं हैं, याद रखिए कि मैं आपसे कभी मिला तक नहीं हूं, मैं आपका नाम-धाम कुछ नहीं जानता। कभी-कभी किसी व्यक्ति या घटना में कम दिलचस्पी होने से भी हम उसे भूल जाते हैं। एकाध बार तो ऐसी भयानक बात हो जाती है कि शर्मिन्दा होने के सिवाय कोई चारा नहीं रहता। किसी व्यक्ति ने अपने भाई की मृत्यु का समाचार पा कर मां को पत्र लिखा—इस मृत्यु का समाचार सुन कर बड़ी खुशी हुई।

जब मां ने उसे उसके विचार की निन्दा करते हुए पत्र लिखा तो वह बड़ा क्रोधित हुआ और उसने मां को बहुत बुरा-भला कहा कि उसमें कलम की चूक और मन के भावों को अलग-अलग करके देखने की अक्ल नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस गलती का मतलब चूक नहीं, भाई के प्रति उसकी दिली विरक्ति है और मां को भला-बुरा कहना तो केवल पकड़े जाने की चिढ़ है।

स्मृति के ऐसे दोषों के पीछे की मंशा को जानने के लिए उन सभी परिस्थितियों का जानना ज़रूरी होता है जिनमें वह गलती हुई हो। विद्यार्थी जब परीक्षा भवन में जाने लगा तो वह अपना चश्मा भीतर ले जाना भूल गया। इस भूल को समझने के लिए यह ज़रूरी हो जाएगा कि वह परीक्षा के लिए ठीक से तैयार था या नहीं—अगर तैयार नहीं था, तो भूल का कारण उस हालत से बचना है जिसका सामना उसे प्रश्न पत्र पढ़ कर करना पड़ेगा। अगर विद्यार्थी परीक्षा के लिए तैयार था, तो भूल का कारण कहीं और ढूंढ़ना पड़ेगा। एक व्यक्ति का उदाहरण है जो हर बार घर से बाहर जाते हुए घर के दरवाज़े खुले छोड़ जाता था। अब

इस भूल को समझने के लिए उसके आगे-पीछे की परिस्थितियों का जानना जरूरी है और मुश्किल भी। कई बार उसके साथ उठने-बैठने के बाद बात समझ में यह आई कि बन्द दरवाजों से उसकी स्मृति का एक दुखदायी अंश जुड़ा हुआ है। जब वह बच्चा था तो उसकी मां उसे घर में बन्द करके काम-काज के लिए या घूमने के लिए बाहर चली जाती। ऐसे ही किसी दिन घर में आग लग गई और आग बुझाने वालों ने बच्चे को एक खिड़की तोड़ कर बाहर निकाला। अब इस दुखदायी याद पर खुले दरवाजे ही पानी फेर सकते थे। दरवाजों को बार-बार खुले छोड़ देने का यही राज था। अब यह बात साफ हो गई कि अनायास भूलों के पीछे अवचेतन में पड़ी हुई किसी प्रबल इच्छा का हाथ होता है। आगे हम उन इच्छाओं के उद्गम और अवचेतन मन की कार्य पद्धति को समझने की कोशिश करेंगे।

अवचेतन मन ऐसे उद्देश्यों का उद्गम स्थान है जो बहुत ताकतवर उद्देश्य होते हैं। यह बात तब सिद्ध होती है जब कि कोई व्यक्ति हिप्नोटाइज किए जाने पर कुछ सुझावों पर अनुकूल प्रतिक्रिया देता है। भूख और यौन इच्छाएं, विनाश और निर्माण की प्रेरणाएं, प्यार, घृणा और ईर्ष्या की भावनाएं इनको प्रबल बनाती है और अभावों को तृप्त करने का प्रयास करती हैं। यह बात स्पष्ट है कि यौन इच्छाओं की पूर्ति स्त्री के पुरुष और पुरुष के स्त्री से मिलने पर ही होती है और पेट की ज्वाला बगैर कुछ खाए नही बुझ सकती। जब किसी व्यक्ति की ये इच्छाएं अधूरी रह जाती हैं तो उसके स्नायु-तन्तुओं पर एक पीड़ा पहुंचाने वाला तनाव पैदा हो जाता है। किन्तु ऐसी इच्छाओं की पूर्ति सामाजिक रीति-रिवाजों, परिस्थितियों और तर्क-संगत औचित्य के वातावरण मे ही पैदा हो सकती है। वे विरोधी ताकतें जो किसी इच्छा के पूरे होने मे आड़े आती हैं वैज्ञानिक भाषा मे प्रतिरोध कहलाती है। इस तरह हम देखते हैं कि एक ओर व्यक्ति की नैसर्गिक मांगों, और दूसरी तरफ नैतिक और सामाजिक प्रतिरोधों में द्वन्द्व होता है। मान लीजिए, दो कमरे हैं—एक कमरा बड़ा है, एक जरा छोटा है, और बड़े कमरे के दरवाज़े पर एक पहरेदार खड़ा है। अब यह बड़ा कमरा हमारा विस्तृत अवचेतन मन है, पहरेदार प्रतिरोध है और छोटा कमरा चेतन मन है। बड़े कमरे के निवासी हर चन्द छोटे कमरे में जाने की कोशिश करते हैं मगर पहरेदार उन्हें रोकता-टोकता है, क्योंकि चेतन का कमरा छोटा है; उसमें केवल वे शिष्टजन ही प्रवेश पा सकते हैं जिन्होंने समाज के नियमों की इज्जत करना सीख लिया है। किन्तु फिर भी कुछ ऐसे अवचेतन के निवासी सज्जन भी हैं ही जो वेश बदल कर या पहरेदार की आंख चुरा कर पहुंच जाते हैं और चेतन के व्यवस्थित समाज मे गदर पैदा करने की कोशिश करते हैं। अगर प्रतिरोध ज़ोरदार हुआ तो वे दब जाते हैं, मगर मौका पाते ही फिर सिर उठाते हैं और प्रकट होते हैं—भूलों और चूकों के रूप मे।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से इसीलिए इन स्मृति दोषों, भूलों और चूकों को पकड़ा जा सकता है। जो बात अनायास भूलों के विषय मे है, वही सपनों और चिढ़ आदि दूसरी भावनाओं के विषय मे भी हो सकती है। ये सारे के सारे लक्षण अवचेतन की गतिविधि को सूचित करते हैं और इस तरह व्यक्ति को समझ कर सुधारने में सहायक हो सकते हैं।

—बम्बई से प्रसारित

कोयले

प्रयागनारायण त्रिपाठी



कोयले धधकते हैं क्षण-क्षण
पवन के अनियंत्रित परस से
छिटकाते हैं चिनगारियां
जो बनाती हैं पैराबोलिक ज्योतिष्पथ
(स्पृहणीय अथ !)
फिर बुझ-बुझ जाती हैं चिपक कर
सीली ज़मीन पर
(दयनीय इति !)

कोयले—जिनकी हर एक सांस धुवां है जो
उठता है रह-रह कर
अंगड़ाते अजगर-सा
कोंचे गए कोबरे-सा
नीले गगन में पथ भूले घन-सा
उठता है
और टकराता है धुंवाई दीवार से
फिर-फिर आता है
छेड़ता है
मूंजी हुई पलकों को
घुटी हुई नासिका को
कसे हुए रोशनदान को
जिसकी सांस में से खिसक-खिसक जाता है
कायर वह बाहर को
आसमान के खाली, खुले मैदान में

कोयले—जो धधकते हैं
दम साध कर घड़ी भर को
माथे की सिंदूरी बिंदिया में
अंधियारे पाख, सांझ-वेला उगे शुक्र से
धधक—जो सिमटती है
होती है अंतर्मुक्त
लुप्त होती जाती है तिल-तिल कर
हवाएं राख के परत छितराती हैं
यहां तक कि आखरी परत भी
बिखर उड़ जाती है।

मेरी
मेरे आज की
अंगीठी के कोयलों की
मुख्तसर कहानी, दोस्त, खत्म हुई
आना कल
दावानल की भी सुनाऊंगा।

—दिल्ली से प्रसारित

हमारी विदेश नीति

अली यावर जंग



न्यूयार्क, काहिरा या किसी अन्य नगर में जब किसी व्यक्ति से भारत के बारे में कोई आदमी बातें या प्रश्न करता है, तो साधारणतया एक ही सांस में हमारे प्रधान मन्त्री, हमारी विदेश नीति और हमारे आर्थिक व सामाजिक विकास के बारे में जरूर बातें करता है ।

मैं उन लोगों की बात यहां पर कर रहा हूं जो कम से कम दैनिक अखबार ज़रूर पढ़ते हैं, फिर चाहे वे किसी भी श्रेणी के हों, चाहे जो काम करते हों, और चाहे प्रशंसक हों चाहे आलोचक। उनमें से कुछ ऐसे हैं जो हमारी विदेश नीति को सही-सही समझते ही नहीं, और कुछ ऐसे हैं जो उसे समझते तो हैं लेकिन उसके साथ सहमत नहीं है।

वास्तव में विदेश और गृह नीतियों को मिल कर एक सम्पूर्ण इकाई बनना चाहिए और वे बनती भी हैं; विभिन्नता तो केवल उन क्षेत्रों की होती है जहां वे प्रयुक्त होती हैं। विदेश नीति के लिए एक और गृह नीति के लिए दूसरा सिद्धान्त होना किसी भी देश के लिए अस्वाभाविक है। ऐसा भी नहीं कि किसी देश में ऐसा हुआ ही न हो, लेकिन इसका अन्त प्रतिवादों और कभी-कभी भयानक विपत्तियों में ही जा कर हुआ है ।

विदेश नीति स्वभावतः परिवर्तनशील है । मीडिज़ अथवा ईरानियों के किसी कानून से वह चालित नहीं होती । दो या उससे अधिक व्यक्ति अथवा दल राष्ट्रीय हितों को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखते या समझते हैं, इससे तो विदेश नीति में अन्तर आता ही है, साथ ही विश्व की समकालीन परिस्थितियों का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। फिर ये परिस्थितियां स्वयं बदल सकती हैं। सरकारों में परिवर्तन, विद्रोह, युद्ध, सम्बन्धों के सन्तुलन में परिवर्तन या उससे उत्पन्न शक्तियां, या क्रान्तिकारी विकास—जैसे हमारे ही समय में न्यष्टि-ऊर्जा की खोज—या राष्ट्रीय आन्दोलनों की शक्ति या कुछ मानों में परमाणु शक्ति, सभी से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में—और इस कारण विदेश नीति में—परिवर्तन आ सकते है और आते है ।

यदि मुझे विरोधाभास की बात करने का अवसर दिया जाए तो मैं कहूंगा कि जनता की बढ़ती हुई जानकारी और दिनों-दिन छोटी होती हुई दुनिया के कारण विश्व-मत का अभूतपूर्व विकास हुआ है । ये हैं कुछ कारण जिनकी वजह से विदेश नीति बदलती रहती है । जो भी हो, विदेश नीति को शून्य में तो नहीं समझा जा सकता और व्यवहृत तो किया ही नहीं जा सकता ।

इसके विपरीत भी, दूसरों के साथ आपसी सम्बन्ध, उनकी परम्परा, दृष्टिकोण और वातावरण पर भी निर्भर करते हैं। साथ ही लक्ष्यों और उनको पूरा करने की सम्भावनाओं

में सन्तुलन भी आवश्यक है। इनके बिना विदेश नीति असफल तो हो ही जाएगी, अवास्तविक भी कम न होगी। इस विचार से विदेश नीति दोतरफ़ा आवागमन वाली सड़क है और संसार के सबसे अच्छे ड्राइवर को भी दूसरी कार के चलाने वाले दूसरे ड्राइवर पर भरोसा करना ही पड़ेगा, फिर चाहे वह उसी की दिशा में जा रहा हो या विपरीत दिशा में।

इससे यह नतीजा भी निकलता है कि अपने को या दूसरों को पृथक नहीं किया जा सकता। हमारे आधुनिक संसार ने 'मुझे मत छुओ' तरह के देशों को वानस्पतिक नमूनों का रूप दे दिया है, और फिर संसार किसी भी देश से बड़ा है और विदेश नीति को इसका भी लेखा-जोखा रखना है।

लेकिन विदेश नीति के पीछे राष्ट्रीय परम्परा और दृष्टिकोण से उत्पन्न कुछ महत्वाकांक्षाएं होती हैं जो उस पर बहुत अधिक प्रभाव डालती हैं और सभी प्रभाव डालने वाले कारणों में सबसे ज़्यादा समय तक बनी रहती है। वे किसी देश और जनता की उत्पत्ति, आदर्शों और यथार्थ का सम्मिश्रण, महत्वाकांक्षाएं और स्वार्थ होती हैं, वे कुछ ऐसी चीज़ हैं जो हमारे प्रधान मन्त्री के अनुसार किसी राष्ट्र का वर्तमान और भविष्य दोनों हैं।

यही कारण है कि विदेश नीति एक दिन में, या एक भाषण में या किसी दावत में नहीं बन जाती। यह एक लम्बी क्रिया है, और राष्ट्रीय व्यक्तित्व की जो मुहर इस पर लगती है वह सरकारों के परिवर्तन के बावजूद इसे किसी हद तक क्रमबद्धता प्रदान करती है। कहा जाता है कि दोनों विश्व-युद्धों के बीच के युग में एक अंग्रेज़ ने एक फ्रांसीसी से कहा था कि सरकारों के इतने परिवर्तनों के बावजूद फ्रांसीसियों ने अपनी विदेश नीति को कायम रख कर कमाल कर दिखाया है। फ्रांसीसी ने आंग्ल-फ्रांसीसी नौसैनिक समझौते की ओर इशारा करते हुए जवाब दिया कि सरकारों के इतने कम परिवर्तनों के बावजूद अपनी विदेश नीति को अनेक बार परिवर्तित करके तो और भी ज़्यादा कमाल कर दिखाया है।

फिर भी ऐसा माना जा सकता है कि विदेश नीति का बार-बार परिवर्तन बहुत कम ही होता है। वास्तव में साम्राज्यवादी परम्परा और विचारों वाले देश में परम्परा साम्राज्य से कहीं ज़्यादा जीवन्त होती है। और देश में होने वाले परिवर्तनों को मानने से इनकार कर देती है। परिणामस्वरूप जीर्ण-शीर्ण पारस्परिक सम्बन्धों और व्यवहारों को पुनर्जीवित किया जाता है और उन्हीं पर ज़ोर दिया जाने लगता है, लेकिन यह भी सत्य है कि इस प्रकार के सम्बन्ध और व्यवहार स्थायी नहीं रह सकते। अभी पिछले दिनों ही हम ऐसे अवशेषों के परिणामों को देख चुके हैं।

सौभाग्यवश हमारी कोई ऐसी साम्राज्यवादी परम्परा और विचार नहीं है। इसके विपरीत दूसरों ने साम्राज्यवादी चालों का प्रयोग हमारे ऊपर करना चाहा है। यही कारण है कि जब और जहां भी ये सिर उठाते हैं हम उसका विरोध करते हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के कुछ महीने पहले तक हमें राष्ट्रमण्डल के देशों को छोड़ कर—और राष्ट्रमण्डलीय देशों को भी बड़ी कड़ी सीमाओं के साथ—बाहरी दुनिया को ह्वाइट हाल के झरोखों से ही देखने की आज्ञा थी। शताब्दियों बाद पहली बार सन् १९४६ में, निकट भविष्य में मिलने वाली स्वतन्त्रता के उपलक्ष्य में, हमने वैदेशिक मामलों का नियन्त्रण हासिल किया और संयुक्त राष्ट्रीय महासभा के प्रथम अधिवेशन में अपना प्रतिनिधि दल भेजा, जिसने स्वतन्त्र भारत के नाम पर अपनी बात कही।

प्रतिनिधि मण्डल को जो संक्षिप्त विवरण और टिप्पणियां दी गई थीं, वे न तो ब्रिटिश अधिकार म थीं और न उनके द्वारा दी गई थीं। मैं भी उस प्रतिनिधि मण्डल का एक सदस्य

था और मुझे अच्छी तरह याद है कि हमें दी गई सूचनाओं को देख कर जिनमें से कुछ पर "जवाहरलाल नेहरू" के सरल किन्तु महत्वपूर्ण हस्ताक्षर अंकित थे—मुझे कितने सम्मान और गर्व का अहसास हुआ था।

यह हमारी स्वाधीनता की सुबह का संकेत था। इसी कारण स्वभावतः सूचनाएं एक बिलकुल ही अलग दृष्टिकोण से लिखी गई थीं। इससे पूर्व का दृष्टिकोण ब्रिटिशों का होता था जो दूसरे ढंग से ही भारत से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को देखते थे।

यद्यपि हमें स्वतन्त्र हुए अभी कुछ वर्ष ही हुए हैं, फिर भी हमें विश्वास दिलाने की जरूरत है कि हम सर्वथा अबोध नहीं हैं। सन् १९४७ में यह सच था, और आज भी सच है कि हमें बहुत आगे बढ़ना है, बहुत कुछ सीखना है, विशेषकर उन लोगों से जिनसे हमें लम्बे समय अलग रखा गया है, और हमें यह भी जानना है कि उनके साथ हमारे सम्बन्ध कैसे होंगे, क्योंकि सचाई यह भी है कि हमारी मित्रता को हमेशा ही स्वीकार नहीं किया गया है? फिर भी हमारी जड़ें समय में गहराई तक हैं और हमारे इतिहास और वातावरण ने ऐसी परम्परा को जन्म दिया है जिससे इनकार नहीं किया जा सकता।

किसी विचारक ने कभी कहा था कि इतिहासों को पढ़ने या लिखने वाले इतिहासकार ही इतिहास से ग्रहण करने वाली शिक्षाओं को गढ़ते हैं, लेकिन सत्य यह है कि किसी देश के निवासी हमेशा ही जीवित रहते और सीखते हैं। तो फिर हमारी वह विरासत क्या है जिसने हमारी परम्परा और परिप्रेक्ष्य का निर्माण किया है?

हमारे देश पर अनेक बार आक्रमण किए जा चुके हैं। हमारे ही आपसी मतभेदों और फूट के कारण अधिकांश आक्रमण उस समय सफल हुए थे, लेकिन हमने अपनी और उनकी ग्रहण-शक्ति से या तो आक्रमणकारियों को जीत लिया, या अगर उनमें इस शक्ति का अभाव रहा तो हमने उन्हें निकाल बाहर किया और चुपचाप चले जाने दिया।

हम स्वयं कभी दूसरे का देश जीतने अथवा हड़पने नहीं गए। यदि कभी हम अपना देश छोड़ कर दूसरे देश में गए भी, तो वहां शान्तिपूर्वक बस जाने के ही उद्देश्य से गए और हर जगह हमने यही सलाह दी, बल्कि जोर दिया, कि वे अपने नए देशवासियों को आत्मसात कर लें। विभाजन, विरोध और आपसी कलह के युगों से गुज़रते हुए हमने जाति, धर्म और भाषा की विभिन्नताओं के बावजूद एकता स्थापित करने की कोशिश की है।

लोगों का खयाल था कि भारत से अंग्रेजी राज्य हट जाने के बाद हम टूट-फूट जाएंगे और देश में विश्रृंखलता फैल जाएगी, लेकिन यह उनकी कोरी कल्पना ही सिद्ध हुई। हमने केवल अपने को बनाए ही नहीं रखा, वरन हम आगे भी बढ़े, हमने उन्नति भी की। वैयक्तिक स्वतन्त्रता और सामाजिक न्याय तथा बाहरी नियन्त्रण से राजनीतिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता—इन दोनों आकांक्षाओं का परिणाम ही हमारा स्वाधीनता संग्राम था।

उस एक व्यक्ति को लाख बार धन्यवाद है जिसने हमें सिखाया कि बल-प्रयोग मूलतः कमजोर व्यक्तियों का हथियार है और किसी देश की जनता की शान्तिपूर्ण इच्छा और दृढ़ प्रतिज्ञा साम्राज्य को भी डिगा सकती है, जहां पर बल प्रयोग व्यर्थ साबित होगा। उसी व्यक्ति से हमने सीखा कि भय हमें लंगड़ा बना दे सकता है, इसलिए हमें उससे अलग ही रहना चाहिए। जिन विचारों और आदर्शों ने हमारे राष्ट्र के दृष्टिकोण का निर्माण किया है और संसार को शान्ति के बारे में सोचने को प्रेरित किया है, उनमें उस एक व्यक्ति का योगदान क्या था, इसका लेखा-जोखा तो आगे के इतिहास में ही मिलेगा।

संक्षेप में, यही सिद्धान्त हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं। स्वभावतया हमें सबसे पहले अपने देश की समस्याओं को सुलझाना है, लेकिन मैं पहले ही कह चुका हूं कि बिलकुल अकेले हो कर नहीं रहा जा सकता और दूसरे देशों के साथ सम्बन्ध बनाए रखना भी आवश्यक है। हमारे देश की भौगोलिक स्थिति ऐसी है और कई दृष्टियों से स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में हमारे उदय ने हमें एक सीमा तक बाध्य कर दिया है कि हम वैदेशिक मामलों का खयाल रखें। फिर विश्व इतिहास के अत्यन्त गम्भीर क्षण में हमारे राष्ट्र का उदय हुआ था।

सभी देशों के निवासी चाहते हैं कि संसार में शान्ति और सुरक्षा कायम रहे, और सम्भवतः छोटे-बड़े सभी देश इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। युद्ध की भयानक वास्तविकताओं को हम भली प्रकार जान और समझ गए हैं और हमारा शान्ति तथा सुरक्षा प्राप्त करने का प्रण और दृढ़ हो गया है।

शान्ति स्थापित रखने और बढ़ाने के लिए आवश्यक साधनों और उपायों के विषय में हममें और कुछ अन्य देशों में काफी मतभेद है। हमने शान्तिपूर्ण साधनों और शान्तिपूर्ण उपायों के पक्ष में स्वयं को ज़ोरदार शब्दों में व्यक्त किया है, हमने स्पष्ट और सुनिश्चित शब्दों में सैनिक सन्धियों, सेनाओं और विदेशों में सैनिक अड्डे जैसे सैनिक साधनों और उपायों का विरोध किया है, फिर चाहे कोई भी देश ऐसा काम क्यों न करे।

हमारा विश्वास है कि ऐसे सामरिक उपायों से, फिर चाहे वे अपनी रक्षा के लिए ही क्यों न किए गए हों, वास्तव में शान्ति की सुरक्षा में कमज़ोरी पैदा होती है, तनाव बढ़ता है और सामरिक घात-प्रतिघातों का जन्म होता है। हमारा यह विश्वास एक-दूसरे को प्रभावित करता है और उसके द्वारा प्रभावित होता है कि हम ऐसे समझौते को स्वीकार न कर लें कि कुछ देशों के साथ हमारे अत्यन्त मित्रतापूर्ण सम्बन्ध हो जाएं। यह स्थिति निस्सन्देह हर्षप्रद होगी और दूसरे देशों के साथ अत्यन्त शत्रुतापूर्ण।

अपने पड़ोसी देश के साथ हमारा व्यवहार बड़ा शान्तिपूर्ण रहा है। कश्मीर इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। कश्मीर की जनता और शासक के प्रार्थना करने पर भी हम आक्रमणकारियों से उसकी रक्षा को तभी गए जब हम अनेक बार आक्रमण न करने के लिए अपील कर चुके। और वहां पहुंचते ही संयुक्त राष्ट्र संघ से हमने अपील की कि वह आक्रमण को तुरन्त रोके। हमने हमेशा ही वार्ताओं के ज़रिए शान्तिपूर्ण हल पर ज़ोर दिया है और उत्तेजित किए जाने के बावजूद हमारी जनता या सरकार ने कभी युद्ध का नारा नहीं लगाया और न ही वैसा रुख अख्तियार किया।

औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध अफ्रीका और एशिया के देशों के संघर्ष के बारे में भी हमारा दृष्टिकोण सदव शान्तिवादी रहा है। दक्षिण अफ्रीका में जातीय भेदभाव की नीति के विरुद्ध वहां के निवासियों के आन्दोलन के प्रति भी हमारा रुख हमेशा शान्तिवादी रहा है। इस संघर्ष को सफल बनाने के लिए हमने नम्रतापूर्वक और मित्रतापूर्वक ढंग से उन्हें वही बताया है जिसका उपयोग हमने स्वयं अपने संघर्ष में किया था।

स्वतन्त्र भारत के नेता भी वही हैं जिन्होंने स्वाधीनता संग्राम में देश को राह दिखाई थी, यह सत्य ही इस बात का प्रमाण है कि दूसरे देशों के स्वाधीनता संग्राम और सामान्य वैदेशिक सम्बन्धों के प्रति हमने अपना दृष्टिकोण सदैव शान्तिवादी ही रखा है। हमारा संग्राम तो वास्तव में एक शक्तिशाली साम्राज्य के विरुद्ध निःशस्त्र जनता का संग्राम था; इसके अनिवार्य आधार थे जनता की दृढ़ प्रतिज्ञता, और हिंसा तथा भय दोनों का सर्वथा वर्जन।

यह संग्राम साथ-साथ अपनी आन्तरिक एकता प्राप्त करने और विदेशी शासन द्वारा जानबूझ कर लादे गए बीमारी, अज्ञान और गरीबी के भार से स्वतन्त्र होने के लिए भी संग्राम था। इस संग्राम का निश्चित और अमिट प्रभाव हमारी आन्तरिक और वैदेशिक दोनों नीतियों पर पड़ा है।

जब हम स्वतन्त्र हुए थे तो सांसारिक सम्पत्ति और शक्ति का हमारे पास नितान्त अभाव था, लेकिन मानवता के उज्ज्वल भविष्य में हमारा दृढ़ विश्वास था और हमने अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा अपने अतीत की गलतियों को सुधारने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। उस समय सम्पूर्ण संसार ध्वंसकारी युद्ध के बाद टुकड़े-टुकड़े हो कर बिखर गया था और एक एशियाई देश पर पहली बार गिराए गए परमाणु बम के रूप में हिंसा चरम सीमा को पहुंच चुकी थी। दो विशाल देश एक-दूसरे का विरोध करने के लिए तने खड़े थे। उसी समय ५१ देशों ने घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किए और संयुक्त राष्ट्र संघ ने मानवता की आशाओं को रोशनी प्रदान की।

इस महान संस्था के जन्म के साथ-साथ विश्व एक प्रकार के शीत युद्ध की स्थिति मे पहुंच गया, जिसका आभास सन् १९४६ में हमें संयुक्त राष्ट्रीय सभा के पहले अधिवेशन मे ही हो गया था।

दूसरी हलकी परिस्थितियों में, जब दुनिया इतनी छोटी नही थी और लड़ाइयां इतनी तीव्र गति से नहीं हुआ करती थीं और कम विनाशकारिणी होती थीं, नए-नए आजाद हुए देशों ने कोशिश करके अपने को संसार के अन्य देशों से तब तक दूर रखा जब तक वे स्वयं मज़बूत नही हो गए। और आश्चर्य की बात तो यह है कि इन्हीं देशों में से कुछ हमारी नीति की कड़ी आलोचना करते हैं।

हम बिलकुल दूसरे प्रकार की परिस्थितियों में स्वतन्त्र हुए थे और हमारे देश में ही अनेक समस्याएं थीं। जीवन-यापन के सम्बन्ध में हमारे विचारों में अन्तर चाहे जो भी रहा हो, अन्तर्देशीय मामलों में अपने देश के प्रयत्नों, शक्तियों, और इस प्रकार भविष्य को लगा देना हमारे लिए बुद्धिमत्ता की बात न थी। एक परिणाम तो यह होता कि अपने जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने की दिशा में जो प्रगति हमने की है, वह कभी सम्भव न हो पाती, बल्कि इस प्रकार के कार्य के लिए आवश्यक प्रयत्नों और साधनों के कई दिशाओं में बंट जाने और हमारे अपने बीच अन्तर पड़ जाने से काफी देर में ही हो पाती।

जिन देशों ने अन्तर्देशीय मामलों में किसी तरह का लक्ष्य कर लिया है, उनका अनुभव भी इस मामले में हमारे विचार से ज्यादा सन्तोषप्रद नहीं है। हम उन्हें सलाह देने का दावा नहीं कर सकते, नही करते, और हमारी नीतियां केवल हमारी और हमारे लिए हैं, लेकिन हम अपने लिए परिणाम तो निकाल ही सकते हैं।

हमारी दृष्टि में शीत युद्ध में हमारा कोई एक पक्ष ग्रहण कर लेना हमारे शान्तिपूर्ण दृष्टिकोण एवं उपायों के ही विरोध में होता। साथ ही ऐसा करने पर शीत युद्ध स्वयं हमारे घर में ही आ जाता। और मैं कह सकता हूं कि आज तक कभी एक पक्ष ग्रहण करने की नीति को ठीक प्रमाणित करने का अवसर नहीं आया।

हम जानते हैं कि इस तरह की किसी भी प्रतिज्ञा से आबद्ध हो जाने पर जो परिणाम होता और आवश्यकताएं जिस तरह मोड़ लेती, उनसे हमारी स्वतन्त्रता में तो बाधा आ ही जाती--चाहे शर्तों मे न भी होती। साए से भी तो नुकसान की सम्भावना रहती है, क्योंकि उसके नीचे कुछ उग नही सकता।

यह पृथक्करण नहीं है, पृथक्करण से दूर की चीज़ है। पृथक्करण की नीति को दूसरों ने अपनाया होगा, हमने नहीं अपनाया। शीत युद्ध और दो कैम्पों में संसार के राष्ट्रों के विभाजन के हम निश्चित विरोधी हैं, फिर भी हमारी नीति को तटस्थ कहना भी गलत होगा। हमारी नीति है कि इस दशा को समाप्त करने में सहायता की जाए।

हमारा ध्येय सभी देशों से मित्रता कायम रखना है। कुछ देशों के समान और कुछ देशों के विपरीत हमारी मित्रता उन देशों से भी है जिनकी व्यवस्था अथवा नीति को हम तनिक भी स्वीकार नहीं करते। हमने शान्ति की स्थापना और वृद्धि में सदैव सक्रिय सहयोग दिया है और अपनी मर्यादाओं के अन्दर रह कर किसी देश पर होते आक्रमण को निष्क्रिय हो कर देखते भर नहीं रहे हैं। हमने आत्मरक्षा के अलावा और कभी युद्ध नहीं किया और वह भी अपने देश की सीमाओं के भीतर। और हमारी नीति का एक आवश्यक अंग यह है कि हमारी सेनाएं केवल शान्ति स्थापना के उद्देश्य से ही दूसरे देशों में प्रवेश करें।

हमारी सेनाओं ने दो बार यह कार्य ससम्मान सम्पन्न किया है। शान्ति के कार्यों में और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने में दूसरों का साथ देने में हमारा विश्वास है। एशियाई होने के नाते हमने बांडुंग सम्मेलन में सहयोग दिया और भाग लिया। अंग्रेज़ों के विरुद्ध हमने अपनी आज़ादी की लड़ाई बड़ी निर्भयता से लड़ी थी, लेकिन जब उनके और एशिया के बाहर के अन्य देशों के साथ राष्ट्रमण्डल में सहयोग देने का प्रश्न आया तो हमने इनकार नहीं किया।

यह आशा करना व्यर्थ है कि सभी राष्ट्र हमसे सहमत होंगे। ठीक उसी तरह, जिस प्रकार हमसे यह आशा करना व्यर्थ है कि हम हमेशा उनके विचारों अथवा कार्यों का समर्थन करेंगे। इसलिए जिन पांच सिद्धान्तों पर हमने अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का आधार स्थापित किया है, कई देशों ने उनकी भी आलोचना की है, जो होनी ही चाहिए; यहां तक कि कुछ ने तो उन्हें सर्वथा अवास्तविक करार दिया है।

फिर भी जो हमें जानते हैं वे यह भी समझते हैं कि हमारा राष्ट्र कल्पना की ऊंचाइयों पर नहीं उड़ता, और हमारी नीतियों का आधार वास्तविकताएं ही होतीं हैं। इतना तो निश्चित है कि हमारी नीति की विरोधी विचारधारा विश्व में विभाजन ही पैदा कर रही है, शान्ति स्थापना नहीं। संसार को अधिक से अधिक आभास हो चुका है कि विनाश की शक्तियां प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में शस्त्रास्त्रों की छाया में मिलने वाली शान्ति से उसे सन्तोष नहीं मिल सकता।

मुझे अनुभव होता है कि हमारी नीति में सबसे बड़ा यथार्थ तो हमारा विश्वास है कि सर्वप्रथम हममें आन्तरिक शक्ति ही होनी चाहिए, सेनाओं या परमाणु शस्त्रों की नहीं। यद्यपि इन शक्तियों का भी अपना अलग महत्व है, लेकिन सबसे बढ़ कर तो है हमारे अपने विकास, स्थिरता और दृढ़ निश्चय की शक्ति कि संसार का सम्मान करते हुए और अपने चारों ओर घटित होने वाली घटनाओं को देखते हुए भी हमें किसी के अनुग्रह की आवश्यकता नहीं पड़ेगी और किसी के आरोपों से भय नहीं लगेगा।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि हमें सम्पूर्ण संसार को देखना है, क्योंकि वह किसी भी देश से बड़ा है, और उसका आदर करना है, क्योंकि गुणों और बुद्धि पर हमारा ही एकाधिकार नहीं है। साथ ही मुझे आशा है कि जिन सिद्धान्तों के लिए हमने संघर्ष किया, उन्हें न तो हम कभी भूलेंगे और न सुविधा की वेदी पर उनका बलिदान ही करेंगे।

—इलाहाबाद से प्रसारित

नारी की दृष्टि में पुरुष

[१]

सत्यवती मलिक



नारी की दृष्टि में पुरुष, या पुरुष की दृष्टि में नारी, ऐसे भेदभाव के प्रश्न प्रायः तब उठते हैं जब किसी भी देश व समाज की व्यवस्था उचित ढंग से नहीं चल रही होती है।

उचित ढंग से मेरा तात्पर्य सृष्टि के अविरल कार्यक्रम या नर-मादा के उस मधुर व्यापार से नहीं है जिसकी पूर्ति के लिए कीट-पतंग, पशु-पक्षी से ले कर मानव समाज तक अनन्त काल से एक-सा चल रहा है। मेरा संकेत तो उस चेतनता या विवेक-दृष्टि से है जो इस जड़-जंगम सृष्टि में से मानव को अलग करती है।

मनुष्य ही वह प्राणी है जो ज्ञान के आलोक और सहज बुद्धि से प्रकृति के अटल नियमों को जान कर अपनी सामाजिक व्यवस्था को उन्नत या अवनत कर सकता है। किसी समय जिस सीमा तक उसने पूर्ण सुन्दर, सुव्यवस्थित समाज की रचना की, उसकी झलक हमें भारतीय इतिहास व साहित्य में जहां-तहां मिलती है।

प्राचीन युग के ऋषियों ने यह बखूबी समझ लिया था कि नर और नारी, ये दो नाम एक ही शरीर की दो आंखों के समान, अथवा एक ही पक्षी के दो डैनों, या रथ के दो पहियों की तरह हैं। यही नहीं, आगे चल कर उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने यह देखा कि इन दोनों पक्षों में किस-किस के अन्दर कौन-कौन से विभिन्न तत्व पाए जाते हैं और उनका क्या-क्या कार्य है, एक आनन्दमय सुखी समाज के संचालन के लिए दोनों का ही अपने-अपने तरीके से पूर्ण शिक्षित होना कितना आवश्यक है। ऋग्वेद में बार-बार नारी को, जो पुरुष के चारों रूपों, यानी पिता, भाई, पति, पुत्र के समान ही माता, बहन, स्त्री और पुत्री के रूप में प्रगट होती है, प्रत्येक विषय की पंडिता, और सुशिक्षिता करने का वर्णन आया है :

—जो कन्या भूगर्भ, कृषि, कला-कौशल, व जल के समान कोमल, पृथ्वी की तरह सहनशील, और शूरवीरों जैसी उत्साहिनी विद्याओं को ग्रहण करती है, वही सौभाग्यशाली होती है।

—हे कन्याओ! जैसे दिन और रात्रि के क्रम के समान पथिक जन नित्य ही चलते है, जैसे सारथी घोड़ों को चलाता है, जैसे वीर, धीमान राजा पुरुष पौरुष के संग्रामों को जीतने का प्रयत्न करते हैं, वैसे ही तुम भी सम्पूर्ण विद्याओं की कामना से पूर्ण ब्रह्मचर्य से विजय की विशेष भावना करो।

—जैसे विद्वान पुरुष विद्या बोध के बल से सब गुणों को धारण करते है, वैसे ही कन्याएं भी विद्याबल से आनन्द को पाती है।

इस प्रकार समोचित शिक्षा द्वारा नर-नारियों का पूर्ण शारीरिक व मानसिक विकास हो जाने पर ही उन्हें यह अधिकार प्राप्त होता था कि वे भावी समाज का निर्माण कर सकें।

आज तक भी वैदिक विवाह के समय सप्तपदी की रस्म में इन महत्वपूर्ण प्रतिज्ञाओं को कहा जाता है—सुभगे ! मैं पुत्र आदि के लिए आगे चलता हूं, तू भी अपना पहला कदम उठा।

—बल प्राप्ति के लिए, हे प्रिये ! मैं आगे चलता हूं, तू दूसरा कदम उठा।

—देवि ! प्राप्त धन की रक्षा के लिए मेरे साथ तू तीसरा पग उठा।

—आरोग्य लाभ के लिए तू चौथा कदम रख।

—जन समाज की भलाई के लिए मैं पांचवां पग रखता हूं, तेरा भी यही व्रत हो।

—हे गुणवती ! नियमानुसार चलने के लिए मै छठा पग रखता हूं, मेरा साथ दे।...और अन्त में

—हे सखी ! मैं साख्य भाव के लिए सातवां कदम रखता हूं, तू मेरी सखी बन, मैत्री के मार्ग पर मेरा साथ दे।

—हे कल्याणी ! तू ससुर गृह की सम्राज्ञी यानी रानी बन कर रह।

—हे स्त्री ! तू पूर्व दिशा की भांति प्रकाशमान है, दक्षिण की तरह विनय से, पश्चिम दिशा की तरह शान्ति से, और उत्तर दिशा के समान स्वयं प्रकाशपूर्ण व अधिकार वाली गृहस्वामिनी बन।

इसी प्रकार कन्या भी कहती है—विद्यादि शुभ गुण प्राप्त मैं अखंडिता ब्रह्मचारिणी सन्तान के लिए तुम्हें वरण करती हूं। आकाश में सूर्य के लिए जैसे विशाल मार्ग हैं, इसी प्रकार इस दुर्गम गृहस्थाश्रम में पैर रखने के लिए तू मार्ग बना।

—तू कभी प्रमाद न करना, तू कदापि अपने भावों को, रहस्यों को न छिपाना, तू कभी मेरे हृदय को शेर की तरह गरज कर पीड़ा न देना, कभी सूर्य की प्रखर किरणों की तरह न तपना, तेरी वाणी सदा तेजस्वी वचनों का उच्चारण करे, आदि-आदि।

वेद में अनेक स्थलों पर नर-नारी के सम्बन्धों को अद्भुत उपमा, अलंकारों से दिखाया गया है। कहीं पृथ्वी नारी और माता का रूप धारण किए है, तो आकाश व द्यौ पिता रूप में है, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र उनकी गोद में दुलार भरी सन्तानें हैं; कहीं सूर्य पिता और उषा उसकी पुत्री है, उषा और रश्मियां बहनें हैं—वेद की अनेक ऋचाओं की स्रष्टा स्त्रियां है।

केवल वेदकालीन युग में ही नहीं, उपनिषद्, रामायण, महाभारत तक में परम विदुषी गार्गी, मैत्रेयी, सुलभा, मंडन मिश्र की पत्नी जैसी नारियों को हम प्रत्येक उच्च विषय पर पुरुषों के साथ संवाद करते पाते हैं। सीता, सावित्री, दमयन्ती व द्रोपदी का स्वयंवर द्वारा बलिष्ठ, साहसी, गुणवान पतियों की कामना करना उनके उच्च मानसिक स्तर को प्रकट करता है।

अनेक परिवर्तन और युग बीत जाने पर भी प्राचीन काल की उस खुली हवा के दर्शन हमें आज भी किसानों, मजदूरों के समाज में मिलते हैं जहां के नर-नारी पूरी स्वतन्त्रता से मधु-मक्खियों के समान एक-दूसरे से मिल कर स्वाभाविक रूप से जीवनयापन करते है, दोनों का एक-दूसरे पर दबाव नहीं होता, न ही उन्हें एक-दूसरे का दृष्टिकोण पूछने की फुर्सत है। ऐसी चर्चाएं अधिकतर मध्य वर्ग में ही उठा करती हैं, क्योंकि उनकी पृष्ठभूमि में दुर्भाग्य ने मध्य युग की वह संस्कृति है जिसे दोहराने की आज विशेष आवश्यकता नहीं। जिस काल में अनेक कारणों से कितने ही हेर-फेर हुए, कहीं स्मृतियों ने स्त्रियों के लिए मनगढ़न्त कानून रचे, कहीं कविताओं ने उन्हें आश्चर्य भरी निगाह से देख, केवल नख-शिख के सौंदर्य व नायिका-अभिसारिका भेद पर ही पन्ने भर डाले है—बहुविवाह, बाल

विवाह, अनमेल विवाह, विधवाओं पर अत्याचार, सती प्रथा, और नारी पक्ष को निजी सम्पत्ति मानना उसी युग की देन है ।

इसीलिए कुछ अपवादों को छोड़ कर इस युग की वन्दी व मूर्च्छित नारी की पुकार गाथाओं, लोक-गीतों या प्रमुख कवि स्त्रियों की अध्यात्म भावना की छाया में हमें प्रत्यक्ष सुनाई पड़ती है । इस युग की कुंठित नारी पत्नी की दृष्टि में पुरुष चाहे वह किसी भी रूप में हो केवल मालिक या 'पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने' से अधिक क्या हो सकता है ।

किन्तु समय सदा एक-सा नहीं रहता, और दृष्टिकोण भी सदा स्थिति व युग के साथ ही बदला करते हैं ।

अनेक महापुरुषों और सुधारकों के प्रयत्न से कुछ प्रकाश की किरणें जगत में पुनः आईं, जमाने ने करवट ली, और विश्वव्यापी स्वतन्त्रता आन्दोलनों मे खुल कर भाग लेने के कारण नारी-जगत में बड़ी भारी क्रान्ति हो रही है । साथ ही प्रत्येक विषय की उच्च शिक्षा, दाय भाग आदि के कानून, सरकारी व गैर-सरकारी काम-काज में समान अधिकार मिल जाने से उसे बल मिला है, उसकी आत्मा जाग उठी है, ज्ञान के अगाध सागर में वह आज तैरना चाहती है । वह आज केवल पिता, भाई, पति, पुत्र पर आश्रित न रह कर स्वावलम्बन की सीढ़ी पर चढ़ रही हैं ।

शायद इसीलिए आज यह मौका उपस्थित हो रहा है कि क्या इस निरन्तर बढ़ती हुई स्वावलम्बन की भावना से हमारे परस्पर सम्बन्धों में अर्थात पिता, पति, भाई, पुत्र के प्रति उन मंगल कामनाओं व साधना में जिसे वह युग-युग से स्नेह और समर्पण से सींचती आई है, या वे हृदयगत कोमल तन्तु जिन पर संसार आज तक स्थिर है कहीं छिन्न-भिन्न तो न हो जाएंगे । समस्या वास्तव में जटिल है और मध्य वर्ग की विचारशील नारी के सामने आज घर-बाहर की दोहरी जिम्मेदारी आ गई है, जीवन-सागर के तट पर खड़ी वह मानो सोच रही है कि किश्ती को किस ओर ले चलें ।

नए जमाने की तेज रफ़्तार के साथ उसे यदि एक ओर निजी विकास करना है तो दूसरी ओर उसे आर्थिक संकट के कारण परिवार के भरण-पोषण में भी सहायक होना है, तीसरी ओर पुराने रीति-रिवाजों और अर्ध-शिक्षित समाज से संघर्ष करना है तो चौथी ओर भावी सन्तति को शिक्षित करना व प्रेरणा देना है ।

सो ऐसे कठिन समय में वह पुराने ढंग से न तो पुरुष को देवता मान कर पूजा ही कर सकती है, न वृक्ष के साथ वल्लरी के समान चिपटी ही रह सकती है, न उसकी उन्नति में कहीं ब्रेक लगाना या बाधक बनना चाहती है । किन्तु वह प्रत्येक दैनिक कर्म में वैदिक काल की भांति ही पुरुष से सखा भाव या मैत्री का-सा व्यवहार चाहती है ।

यदि पिता ने उसे पूर्ण शिक्षित होने का मौका दिया है, तो वह आजन्म उसकी आभारी रहेगी । उसके कन्धों का बोझा न बनेगी । अगर भाई उदारतापूर्वक सम्पत्ति में से दाय भाग दे कर भी जीवन भर घनिष्ठ मित्र के रूप में उसके दुख-सुख बांटने में सहायक होगा; अगर पति उसके विकास में बाधा न डाल कर उसकी कोमल भावनाओं को समझने का प्रयत्न करेगा; यदि पुत्र जिस पर उसकी समस्त आशाएं निर्भर हैं जो उसका अपना ही प्रतिबिम्ब है, जिसके चरित्रवान, प्रतिभावान, सामर्थ्यवान होने पर उसको गौरव है, उसका आदर करेगा तो वह सौभाग्यशालिनी नारी क्यों न प्रति पल अपने को पुरुष के लिए न्योछावर करने के लिए प्रस्तुत रहेगी ।

हमें यह सदैव आशा और विश्वास रखना चाहिए कि ज्यों-ज्यों ज्ञान का विस्तार होगा, नर-नारी प्रकृति के अटल गम्भीर नियमों व रहस्यों को जानते जाएंगे, यह अस्थायी स्थिति

जो केवल रटन्त शिक्षा के कारण उत्पन्न हो रही है, स्वयं दूर हो जाएगी। और फिर पृथ्वी के समान गहन-गम्भीर नारी प्रमुखतया माता के रूप में ही सत्कार पाएगी। पिता आकाश के समान पुरुष उसके आस-पास छाया रहेगा, और सूर्य चन्द्र के समान भावी सन्तति उसकी गोद में खेलेगी। नर-नारी के दृष्टिकोण व भेदभाव स्वतः मिट जाएंगे।

—दिल्ली से प्रसारित

नारी की दृष्टि में पुरुष
[२]

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा



शीर्षक सुन कर चौंकिए नहीं! नवीनता इसमें भले ही हो, पर विचित्रता नहीं है। आपने पुरुष की दृष्टि में नारी, कवि की दृष्टि में नारी, साहित्यकारों की दृष्टि में नारी जैसे लेख बहुत पढे होंगे। आदम की एक पसली से उत्पन्न नारी की जितनी और जैसी व्याख्याएं पुरुषों ने की हैं, वैसी एक-आध व्याख्या भी मैंने पुरुष के लिए किसी नारी के मुख या लेखनी से सुनी-पढी नहीं। साहित्य में प्रसाद की 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' जैसी ऊंची व्याख्या से ले कर गोस्वामी तुलसीदास की 'ताड़न की अधिकारी' नारी तक सभी दर्जों की व्याख्याएं और दृष्टियां मिलती हैं, किन्तु नारी की दृष्टि में पुरुष क्या है, इससे सम्बद्ध साहित्य कम से कम भारतीय भाषाओं में तो गोल है। अछूते विषय पर कुछ कहना जहां कथाकार के लिए गौरव है, वही अन्धी गली में रास्ता टटोलने के समान दुखदायक भी है। किन्तु 'जो मुश्किल हल करने बैठो तो हो आसान जाती है' के अनुसार मैंने सबसे पहले अपनी महरी से ही पूछा कि तेरी दृष्टि में पुरुष क्या है, यानी तू अपने मरद को या दुनिया के मरदों को क्या समझती है। समझ लीजिए, महरी मरद का अर्थ करती है 'मन सेधुआ' अर्थात पति।

उसने प्रयोगवादी कवि की भाति चमक कर उत्तर दिया—"अरे! मरद का का समझी, खाए का सर कमाए का बिल्ली, अपने मतलब का रसिया, अउर का! ····· बीबी जी! मरद की जात का कोनो भरोसा नाही।"

महरी की व्याख्या साहित्य के आस-पास भी नहीं थी, परन्तु वह निम्न वर्ग की प्रतिनिधि के रूप में बोल रही थी, जो पुरुष की भाति ही बाहर का काम करती है, साथ ही बच्चे सभालती, घर चलाती है, और पुरुष होने के नाते मन सेधुआ के द्वारा कभी-कभी पुरस्कार में लात-घूंसे भी खाती है। कबीर और सभी सन्त जब किसी प्रकार भी नारी से पीछा नहीं छुड़ा पाते तो खीझ कर कहते हैं—नारी नरक की खान! श्रमिक वर्ग की नारी भी पुरुष के बिना अपना अभाव नहीं

भर पाती। किन्तु उसकी दृष्टि में पुरुष 'हीरो' नहीं है, न रहस्यमय और न ही कर्ता-धर्ता स्रष्टा। महरी का रसिया भी उसकी दृष्टि में मतलब का है, अर्थात श्रमिक वर्ग की नारी की दृष्टि में पुरुष बहुत कुछ गोस्वामी की व्याख्या के आस-पास ही बैठता है। जाने दीजिए, महरी-धोबिन की दृष्टि का मूल्य पूंजी के युग में कुछ हलका प्रतीत होता है। आइए, आपको पतिव्रता, समर्पिता, रक्षिता मध्यवर्गीय नारी के विचार बताऊं। हमारी एक भाभी हैं, नए-पुराने दोनों प्रकार के प्रसाधनों से सुसज्जित—गोदभरी, मांगभरी सुहागिन! सोचा, इनकी राय भी पूछ ली जाए। पहले तो वह लाजवन्ती के समान शरमाई, सकुचाई। फिर किसी प्रकार बोलीं—बीबी जी!

"पति बिन सूना सब संसार,
पति ही तप है, पति ही जप है,
पति ही प्राणाधार · · · ·।"

मैंने कहा—"भाभी व्याख्या भी की तो पुरुष के ही शब्दों में · · · यह भजन भी तो किसी नारी की रचना नहीं है! तुम अपने शब्दों में बताओ, फिर पुरुष तो पति-पिता सभी होता है।"

उत्तर मिला—"अरे, तो पति, पिता, भाई, पुत्र, सभी तो हमारे रक्षक होते हैं। पुरुष बिना न घर की शोभा, न मांग की, न गोद की। वह तो बरगद की छांह होता है जिसके तले पंछी बसेरा लेते हैं। नारी का मान तो पुरुष के कारण है, तुमने सुना नहीं—

राजा के आई रानी कहाई।

· · · · · · · · · · लो, मुन्ना जग गया, ज़रा उसका दूध बना लाऊं," चूड़ियां खनकाती, बिछिया छमकाती वह तो चली गई। और मैं मान गई कि मध्यवर्गीय नारी की दृष्टि में पुरुष 'त्वमेव सर्व मम देव देव' का प्रतीक है। आकाशबेल का विस्तार जिस प्रकार उसके वृक्ष पर निर्भर है, उसी प्रकार इस वर्ग की नारी का सुख-सौभाग्य और स्वप्न सभी कुछ पुरुष की कृपा कोर का भिखारी है। उसकी दृष्टि में पुरुष शक्ति, सामर्थ्य, सम्मान, गौरव, सभी कुछ है, वह उनका उत्तमांग, अर्थात अंग्रेज़ी का 'बैटर हाफ़' है। अंग्रेज़ अपनी सभ्यतावश यह उपाधि स्त्री जाति के लिए सुरक्षित मानते है। परन्तु मध्यवर्गीय नारी नर की खान होते हुए भी यह जानती है कि उस खान की उपयोगिता नर को जन्म देने में ही है। मनु जी का एक बड़ा प्रसिद्ध श्लोक है—'यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।' यहां नारी के स्थान पर पुरुष शब्द कर दीजिए. कहावत एक-दम फिट बैठेगी।

अब तनिक उच्च वर्ग की नारी के विचार सुनिए। मिस बाटलीवाला को आप नहीं जानते। जानने से कुछ लाभ भी नहीं है। समझ लीजिए वह एक लखपती की उच्च शिक्षिता कन्या है। उन्होंने कृपापूर्वक जो प्रवचन दिया, उसका सार यूं है—पुरुष तो पालतू पशु है, थोड़े में नरम, थोड़े में गरम! नारी में कला हो तो वह पुरुष को अपना दास बना कर रख सकती है। सहयोगी, सहकर्मी, जीवन-साथी इत्यादि तो पुरानी परिभाषाएं हैं। असल में पुरुष को विधाता ने बनाया ही इसलिए है कि वह नारी के चारों ओर उसी प्रकार अनुगत हो कर चक्कर लगाता रहे जैसे सूर्य के चारों ओर पृथ्वी। महान से महान पुरुष को देखिए, किसी न किसी नारी के सम्मुख वह नत हुआ होगा। पुरुष तो खुली पुस्तक है, जिसे जब चाहो पढ़ो, और बन्द करके रख दो। और चूंकि उन्हें क्लब जाने को देर हो रही थी वह अपना टैनिस रकिट घुमाती कार में सवार हो गई।

तीनों वर्गों की दृष्टियों में इतना अन्तर है कि समझ में नहीं आता किसे यथार्थ समझूं। नारी लिखित साहित्य में पुरुष का जो चित्रण है, उसमें वह निष्ठुर प्रियतम है, साथ ही बहुत वीर भी नहीं। दो पंक्तियां सुनिए—

मेरे प्रियतम को भाता है तम के परदे में आना।
हे नभ की दीपावलियो, तुम क्षण भर को बुझ जाना ॥

उजाले में आते भी प्रियतम को भय लगता है ! या फिर कोई विह्वल प्रेमिका पुकारती है—

आज रात मत जा परदेसी. आज न मोह बिसार।
उमड़ रहीं घनघोर घटाएं ऊपर तनिक निहार ॥

और यह तो सभी जानते हैं कि परदेसी कभी किसी से मोह नहीं करता। लोक साहित्य की कोई एकाकिनी विरहणी भी उसी स्वर में स्वर मिला कहती है—बेला फूले आधी रात, गजरा मैं काकै गरे डारूं ? उसका प्रिय भी न जाने दूर कहीं परदेस में है, या कोई परदेसी ही उसका प्रिय बन उसे छल कर दूर चला गया है, इसे कौन जाने ? साहित्य में नारी का अपना स्वर अभी थोड़े ही दिनों से फूटा है, और उस मौन मुखरता में अभी मात्र जीवन की खीझ, दुख और दैन्य है। इसी से उसकी दृष्टि में पुरुष का महान पिता, महान पति, प्रेमी या सहयोगी का चित्रण विरल या नहीं के समान है। मैं भी नारी हूं, कुछ लिख पाने के नाते लेखिका भी हूं ही। मेरे दृष्टिकोण में तो नारी की दृष्टि में पुरुष और चाहे कुछ हो या नहीं, वह एक हठी शिशु अवश्य है। तेनसिंह की पत्नी भी उसके स्वास्थ्य और भोजन की चिन्ता करती है। कस्तूरबा भी गांधी जी के लिए परेशान रहती थीं, और नेपोलियन की प्रेमिका भी उसे कुछ क्षणों की शान्ति प्रदान करने का दावा रखती थी। प्रसाद के शब्दों में--पुरुष उड़ता पंछी है, जिसके पीछे नारी दाने-पानी से भरा पींजर लिए सदैव भटकती फिरती है।

—दिल्ली से प्रसारित

मूर्तिकला

डा० मोतीचन्द्र



किसी देश की सांस्कृतिक एकता के अनेक साधन हैं। इनके अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्थाएं, धर्म, साहित्य, तत्त्व-चिन्तन तथा कला सभी आ जाते हैं। यह सत्य है कि सांस्कृतिक एकता बहुधा राजनीतिक एकता के मूल में होती है, क्योंकि देश को एक शृंखला में सुगठित करने वाली शक्ति अपना प्रभाव धर्म, साहित्य और कला पर पूरी तरह से डालती है और केन्द्रगत विचारधारा प्रजा के सांस्कृतिक जीवन को अनुप्राणित करके उसे एक दिशा की ओर ले जाने का प्रयत्न करती है। पर यह नियम भारतीय संस्कृति के विकास पर पूरी तरह से लागू नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि भारत के इतिहास में समय-समय पर राजनीतिक एकता लाने के प्रयत्न किए गए, पर उस एकता के लाने वाले अशोक, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, हर्ष और अकबर ने जबर्दस्ती एक संस्कृति विशेष को, जिसको वे ठीक मानते थे, प्रजा पर लादने का कभी प्रयत्न नहीं किया। हां, उनके आदर्शों से प्रभावित हो कर प्रजा उनके प्रदर्शित पथ पर चले, इसके लिए वे प्रयत्नशील अवश्य रहे। अशोक के शब्दों में समवाय साधु, और अकबर के शब्दों में सुलह कुल, इसी प्रयत्न के प्रतीक हैं।

पर संस्कृति के मुख्य प्रतीक धार्मिक विचारधाराओं और उन्हें मूर्त रूप देने वाली कला मे हम विविध सांस्कृतिक धाराओं और विश्वासों का समन्वय देख सकते हैं। भारतीय विचार-धारा के मूलगत सिद्धान्तों को न समझने से हमें उस विचारधारा में असंगति प्रतीत होती है। पर कला के अध्ययन से यह पता चलता है कि भारतीय संस्कृति ने अनेक विविधताओं को एक केन्द्रीय शक्ति के अधीन करके उन्हे एक सूत्र में ग्रथित करने का प्रयत्न किया है। ईसा पूर्व सदी से ले कर ईसा की तीसरी सदी तक की मूर्तिकला का विश्लेषण करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय कला की प्रतीक मूर्तिकला किस प्रकार समन्वय की भावना से अभि-प्रेरित है। अशोक युग की मूर्तिकला, जिसके कुछ ही उदाहरण पंजाब से ले कर बिहार तक मिले हैं, इस बात की साक्षी है कि प्रत्येक काल की कला से अभिप्रेरित हो कर भी मौर्य कला ने अपना रूप भारतीय ही रखा और मूर्तिकला केवल प्रदेशविशेष में ही सीमित न रह कर प्रायः सारे उत्तर भारत में फैली। मूर्तिकला भारतीय भावों, संस्कृति, तत्त्व चिन्तन और लोकाराधन की प्रतीक कैसे बनी, इसके सबसे अच्छे उदाहरण हमें भरहुत, सांची और अमरावती के स्तूपों की वेदिकाओं, स्तम्भों, सूचियों और तोरणों से, दक्खिन की भाजा, पीतलखोरा, कार्ले, नासिक तथा कन्हेरी के लेखों के अर्धचित्रों से तथा मथुरा की शुंग कला के अर्धचित्रों और कुषाण युग की मूर्तियों से मिलता है। उत्तर से दक्षिण भारत तक फैली हुई इस मूर्तिकला की जांच-पड़ताल

से पता चलता है कि उसमें स्थानिक विशेषताएं होते हुए भी वह भारतीय संस्कृति की एकता की प्रतीक है। इस मूर्तिकला का विषय बौद्ध है, पर मथुरा की कला में जैन और वैष्णव मूर्तियां भी मिलती हैं। ध्यान देने पर पता चलता है कि जिस प्राचीन कला पर यह कला आश्रित है, उसका सम्बन्ध केवल लोकधर्मों से ही—जैसे नागपूजा और यक्षपूजा से—न हो कर कुछ वैदिक विश्वासों और परिभाषाओं से भी है, जिन्हें बिना समझे उस कला के अलंकार, जैसे कमल की बेलियां पूर्णघट इत्यादि, समझ में नहीं आ सकते। ईसा के पूर्व इस कला में बुद्ध मूर्ति न हो कर बुद्ध की स्थिति का पता चैत्य वृक्षों तथा बुद्ध द्वारा व्यवहृत वस्तुओं से होता है तथा अनेक जातक कथाओं और अवदानों के उत्खनन से बौद्ध धर्म की महत्ता प्रकट की जाती है। पर बौद्ध धर्म के आगे बढ़ने के लिए यह आवश्यक था कि वह लोक-धर्मों को साथ ले कर चले। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय मूर्तिकला में यक्षों और नागमूर्तियों तथा उनकी पूजाओं में होने वाला नाच-रंग, आसव पान इत्यादि का प्रदर्शन है। बौद्ध धर्म में ये सब बातें वर्जित हैं पर शायद मूर्तिकारों को यह भली-भांति पता था कि बौद्ध कला तब तक लोगों को आकर्षित नहीं कर सकती थी जब तक लोक-धर्म उसमें अपने उन देवताओं का भी दर्शन न कर लें। उसी तरह मथुरा के जैन स्तूपों में मिली हुई यौवनोन्मत्त यक्षिणियों की मूर्तियों का सम्बन्ध जैन धर्म से न हो कर लोक-धर्म से था। प्राचीन भारत की इस कला में जो भाव, लावण्य योजना और सादृश्य है, वह भी स्थानिक न हो कर सार्वभौमिक है। पुरुष मूर्तियों में हम जिस उदात्त भाव का चित्रण पाते हैं, उसी तरह नारी मूर्तियों में हम उस मादक सौंदर्य का उद्‌बोधन पाते हैं, जिसका वर्णन करते हुए हमारे प्राचीन कवि नहीं अघाते। एक सूत्र में बंधी हुई प्राचीन भारत की यह मूर्तिकला तत्त्वचिन्तन में निरत न हो कर लोक जीवन का आदर्श बन गई है, जिसमें हम तत्कालीन वेशभूषा, राग-रंग, राजदरबार, इमारतों इत्यादि का ऐसा रूप देख सकते हैं जिनका हलका आभास हमें साहित्य में मिलता है। ये मूर्तियां इस बात की साक्षी हैं कि जहां तक बाह्य संस्कृति का सम्बन्ध है, सारा देश एक सूत्र में बंधा हुआ था।

ईसा की पहली सदी में भारतीय मूर्तिकला में एक अपूर्व घटना घटी जिसने भारतीय कला को एक नई गति दी : इस सदी में किसी अज्ञातनामा मूर्तिकार ने भगवान बुद्ध की मूर्ति की रचना की। कुछ यूरोपीय विद्वानों का मत है कि इस मूर्ति का आदर्श कोई ग्रीक मूर्ति रही होगी, पर ऐसा सोचना ठीक नहीं है, क्योंकि ईसा पूर्व की बनी हुई पत्थर की यक्ष मूर्तियों के आधार पर बुद्ध मूर्तियों का सृजन अधिक सम्भव है। मथुरा की प्राचीन बौद्ध मूर्तियों में हम यक्ष मूर्तियों की विशालता और गंभीरता के साथ ही साथ एक नए आत्म-चिन्तन का भाव पाते हैं, पर यह आध्यात्मिक भाव इस काल में मनुष्योचित है, देवोचित नहीं। जो भी हो, कुषाण युग की बुद्ध मूर्तियां कालांतर में भारतीय संस्कृति की प्रतीक बन गई। देश का शायद ही कोई ऐसा कोना बचा हो जहां शांतात्मा, लंबकर्ण, उत्तरासंग और संघार संयुक्त बुद्ध के दर्शन न होते हों। इतना ही नहीं, बुद्ध मूर्तियां पंजाब और अफगानिस्तान होती हुई मध्य एशिया भी पहुंचीं। वहां से वे चीन और जापान पहुंचीं तथा हिन्देशिया में उनका प्रसार हुआ। महायान और तंत्रयान ने वास्तविक बुद्ध को पीछे छोड़ कर अनेक बुद्धों, बोधिसत्वों, और देवी-देवताओं की कल्पना की, पर जिन बोधिसत्त्वों की कल्पना की गई उन सबमें हम मैत्री, करुणा और सर्वभूतानुकंपा की भावना पाते हैं, जो भारतीय संस्कृति की प्रधान देन हैं। इतना ही नहीं, बाद में वज्रयान के अनाचारों की प्रतीक भी ये मूर्तियां बनीं और स्थानिक न हो कर सारे देश में फैल गई

पर कला का स्वभाव है कि वह युग के वातावरण के साथ अपना रूप भी बदल देती है। गुप्तयुग में प्राचीन सादृश्यवादी लोक-धर्मानुसारिणी कला ने तत्कालीन तत्व-चिन्तनरत

धार्मिक भावनाओं से अभिप्रेरित हो कर अपना रूप बदल दिया। इस काल की मूर्तियां, चाहे वे उत्तर भारत की हों या दक्षिण भारत की, योगनिरत-सी मालूम पड़ती हैं। प्राचीन युग की लोक-कला की सुलभ स्फूर्ति का स्थान अब आत्म-चिन्तन ले लेता है जिसके फलस्वरूप आसनों में स्थिरता आ जाती है और अंगों का सुडौल निर्माण आन्तरिक शान्ति का प्रतीक बन जाता है। कुषाण युग में बुद्ध मूर्ति के निर्माण का उदाहरण ले कर हिन्दू धर्मानुयायियों ने भी विष्णु, शिव तथा अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियां गढ़ीं और अपने विश्वासों को मूर्त रूप दे डाला; इतना ही नहीं, गुप्त युग में उत्तर और दक्षिण भारत में मूर्तिशास्त्र लिखे गए और देवताओं के रूपविशेष लक्षणों के आधार पर स्थिर किए गए, सौंदर्य की परिभाषा निश्चित की गई तथा मूर्तिकला में करणों, स्थानों और मुद्राओं के स्थान निर्धारित किए गए।

गुप्तकाल में सिवाय चित्रों को छोड़ कर प्राचीन सादृश्यवाद का स्थान लाक्षणिकता ग्रहण कर लेती है। इसके फलस्वरूप देवी-देवताओं की मूर्तियों में हम तत्कालीन स्त्री-पुरुषों का रूप न देख कर उस कल्पना जगत में भ्रमण करने लगते हैं जिसे जानने के लिए हमें तत्त्व-चिन्तन तथा गुप्तकालीन धार्मिक विचारों का जानना आवश्यक हो जाता है और उन्हें ठीक तरह से समझे बिना हमें उस युग की मूर्तिकला की उपादेयता समझ में नहीं आ सकती। इस युग की मूर्तिकला का सम्बन्ध वास्तुशास्त्र से है। अगर मूर्तियां जिस मन्दिर में लगी थीं, उनसे अलग करके उनका इस शास्त्र के आधार पर मूल्यांकन किया जाए तो वह मूल्यांकन ठीक नहीं होगा, क्योंकि जिन धार्मिक भावों को ले कर मन्दिर की रचना हुई, उनमें एक मूर्ति-विशेष अथवा अलंकार का अपना स्थान निश्चित था तथा दूसरी मूर्तियों और अलंकारों के सामंजस्य से ही उसकी सुन्दरता और उपादेयता प्रकट होती थी। गुप्तकालीन मूर्तिकला की ये विशेषताएं केवल उत्तर भारत तक ही सीमित नहीं रहीं। राजनीतिक दृष्टि से देश अनेक भागों में बंटे रहने पर भी उसकी सांस्कृतिक और धार्मिक मान्यताएं इतनी सम्बद्ध थीं कि मूर्तिकला के क्षेत्र में अगर उत्तर भारत में कोई नई विचारधारा चलती थी तो उसकी गूंज दक्षिण भारत तक अवश्य पहुंचती थी। इसके यह माने नहीं कि दक्षिण के कलाकार आंख मूंद कर उत्तर की नकल कर लेते थे। वास्तविकता तो यह है कि अपने स्वर्ण युग में भारत के मूर्तिकार रूप की नकल न करके उसके अन्तर्निहित भावों को समझने का प्रयत्न करते थे और इसके बाद अपने आदर्शों के अनुसार निर्मित आकारों में भारतीय संस्कृति की मूलगत भावनाओं का सृजन करते थे। गुप्त युग की भावनामय मूर्तिकला केवल इस देश की ही सम्पत्ति नहीं रही। सिंध, अफगानिस्तान और मध्य एशिया तक उसका प्रचार हुआ तथा हिन्देशिया में पहुंच कर उसने एक नए आदर्श की स्थापना की, जिसमें भारतीयता की स्पष्ट छाप होते हुए भी अपना एक निजत्व है।

गुप्त युग के बाद भारतीय मूर्तिकला की अन्तर्गत एकसूत्रता तो बच गई, पर कला के प्रसार और मन्दिरों के बढ़ते हुए निर्माण की वजह से मूर्तिकला की विभिन्न शैलियों का विकास हुआ। पल्लव युग के कलाकारों ने अपनी बृहदाकार मूर्तियों में अमरावती की गतिशीलता की रक्षा करते हुए उसमें पौराणिक जगत के अलौकिक भावों का प्रदर्शन किया। पल्लवों की मूर्तिकला के प्रसारक कुछ मूर्तिकार आठवीं सदी में दक्खिन में पहुंचे और उनके प्रभाव से ऐहोले और पट्टडकल के मन्दिरों की विशाल और भव्य मूर्तियों का निर्माण हुआ। एलोरा के गुफा-मन्दिरों की मूर्तियों में दक्षिण में परिवर्धित मूर्तिकला अपनी पूर्णता को प्राप्त करती है तथा उस युग की दक्षिण की शैव मूर्तियों के ओज और गांभीर्य में हम राष्ट्रकूटों के बढ़ते हुए ऐश्वर्य और सार्वभौम विजय की भावनाओं का दर्शन कर सकते हैं। दक्षिण की इस शैली

के विपरीत आठवीं सदी के उत्तर भारत में एक लावण्य प्रवण शैली का जन्म हुआ, जिसका मूल स्रोत गुप्त कला थी। इस कला में मूर्तिशास्त्र को विशेष स्थान मिला। इसमें हम दक्षिण की कला का ओज न पाकर एक शान्त वातावरण का दर्शन पाते हैं। शायद यही कारण है कि उत्तर भारत में दक्षिण भारत के शिव नटराज की गतिमय मूर्ति की तरह कोई कल्पना न हो सकी।

आठवीं सदी के बाद और तेरहवीं सदी तक तो सारे भारत में मन्दिरों की बाढ़-सी आ गई तथा मन्दिर बनवाने वाले हिन्दू और जैन इस होड़ में लग गए कि उनमें से कौन बाजी मार ले जाए। देश में कला के इस प्रसार से मूर्तिकला को बड़ा प्रोत्साहन मिला तथा कारीगरों के आदान-प्रदान से मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण में बहुत कुछ एकरूपता आई, गोकि इस युग में भी उत्तर और दक्षिण की वास्तुकला और मूर्तिकला ने अपना निजस्व कायम रखा। बुन्देलखण्ड से उड़ीसा तक फैली हुई इस युग की मूर्तिकला में स्त्री-सौंदर्य और तंत्रमार्गी यौनाचारों का हम नग्न दर्शन करते हैं। कला का दृष्टिकोण बदल जाने से देवी-देवताओं की मूर्तियां यंत्रवत-सी लगती हैं। इस कला की दूसरी विशेषता यह है कि अपना ऐश्वर्य दिखलाने के लिए मन्दिर नक्काशियों और अलंकारों से ढक दिए गए, जिसका नतीजा यह हुआ कि मूर्तियां भी स्वयं नक्काशी बन गई। इस युग की भारी-भरकम तथा कुछ अंशों में कामोत्तेजक कला मानो इस बात का इशारा कर रही थी कि उसका अन्त आने ही वाला है। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि अनेक विविधताएं होते हुए भी भारतीय मूर्तिकला के मूलगत सिद्धान्त एक थे।

—इलाहाबाद से प्रसारित

M153Mof I&B—10

खेल

रघुवीर सहाय



नुक्कड़ के मकान में बढ़ई लगा हुआ था। उसने अभी-अभी एक कुंदे में से एक तख्ता निकाला था। एक ज़रा-सा टुकड़ा लकड़ी का, जो फालतू बच रहा था, किसी तरह छिटक कर बरानदे से बाहर बजरी पर आ रहा।

वह काफी देर से बढ़ई की कारीगरी देख रहा था। किसी भी तरह का कौशल मोहक होता है, फिर यह कौशल तो बच्चे को पसन्द आता ही, क्योंकि वह देखता जा रहा था कि किस तरह एक बेडौल खुरदरी लकड़ी को बढ़ई की आरी ने बीच से दो कर दिया, फिर उस पर रन्दा चला। खर्र-खर्र करके, देवदार के खुशबूदार लच्छे निकलते आए और चिकना-सा तख्ता निकल आया। उस पर लकड़ी के रेशे, गोल-गोल भंवरदार छल्ले, लम्बी लहरियोंदार लकीरें, बीच में एक गांठ—जैसे छपी हुई-सी। उसकी तबियत होती थी इसी तरह का काम वह खुद करे—ठोंक-पीट कर मरम्मत का काम—कोई औज़ारों से तैयार करना।

इस टुकड़े ने उसे फौरन खींचा। वह बढ़ई के काम का नहीं था, बच्चा उसका कुछ-न-कुछ बना लेता, उसके पास एक बच्चे की कल्पना थी जो किसी भी वस्तु मे किसी भी वस्तु की प्रतिष्ठा कर सकती है।

वह पहले हिचका, फिर उसने लकड़ी का वह टुकड़ा उठा लिया और उसको उलट-पुलट कर देखते-देखते अनायास ही मैदान तक आ गया। उस चौकोर मैदान में धूप छिटकी हुई थी। धूप तक जाते-जाते उसका ध्यान बंट गया। बहुत से और बच्चे मिल कर कोई खेल खेल रहे थे। उसके प्रभाव में वह भूल गया कि वह टुकड़े का क्या करने जा रहा था।

उसने लकड़ी के टुकड़े को ऊपर उछाला। चकरघन्नी की तरह घूमता हुआ वह ऊपर गया और जब नीचे आया तो बच्चे ने उसे गोच लिया। वाह! यह भी तो एक खेल है। अब हर मर्तबा वह टुकड़े को और ऊपर उछालता और उसके उतरते वक्त डरता कि शायद इस बार रह जाऊं....... पर वह हर बार उसे गोच लेता।

धीरे-धीरे वह इस खेल से ऊबता जा रहा था। इस बार टुकड़ा बहुत ऊपर गया था...... अपनी चौकोर शक्ल को तेज़ी से घूम कर गोल दिखलाता हुआ.......और बच्चे ने सोच लिया था कि इस बार न गोच सका तो कोई हर्ज नही...... कि वह लकड़ी का टुकड़ा आ कर उसके सिर पर खट् से बोला।

खेल में क्या लुत्फ आ गया...... हालांकि चोट ज़रूर आई होगी। वाह, यह भी तो एक खेल है। इसलिए कई बार उसने टुकड़े को अपने सिर पर झेलने की कोशिश की......इसमें

होशियारी की बात यह थी कि टुकड़ा इतने ऊंचे भी न जाए कि लौट कर बहुत ज़ोर से लगे और इतने नीचे भी न रह जाए कि अपनी चालाकी पर स्वयं ग्लानि हो।

मैं यह सोच रहा था कि इससे भी यह बच्चा ऊबा तो क्या खेल ईजाद करेगा ...... कहीं टुकड़े को फेंक न दे और बाकी लड़कों के साथ कोई पिटा हुआ साधारण-सा खेल खेलने न लग जाए, जैसे 'चोर चोर'। तब तो मुझे उस बच्चे से बड़ी निराशा हो जाएगी। इतने में उसने कुछ किया, जिसे देख कर तबियत खुश हो गई।

किसी क्वार्टर में कोई मेहमान कार पर आए थे। कार वहीं खड़ी थी। वह कार के सामने खड़ा हुआ, और लकड़ी को उसने निशाना साध कर कार के पार फेंका। बहुत संतुलन की आवश्यकता थी। इतने ही ज़ोर से फेंकना था कि लकड़ी कार के ठीक पिछाड़ी ज़मीन पर गिरे..... यह नहीं कि बहुत दूर निकल जाए। उसे इस हाथ तौलने में मज़ा आने लगा। मज़े का खेल था ही। उधर से वह फेंकता, फिर दौड़ कर उधर से उठा लाता।

अचानक उसे ध्यान आया कि आगे से पीछे फेंकने के अलावा टुकड़े को कार की चौड़ाई के पार भी फेंका जा सकता है ......यानी जिधर दरवाज़े होते हैं उधर से दूसरी तरफ जहां दरवाज़े होते हैं।

इसलिए अब यह होने लगा। मैं बोर हो रहा था ...... हालांकि होना मुझे नहीं चाहिए था.... क्योंकि खेल के इस नए सुधार में बच्चा एक नई दूरी के लिए नए सिरे से हाथ साध रहा था। पर एक बार ऐसा हुआ कि इधर से फेंक कर जो वह उधर उठाने गया तो लकड़ी का टुकड़ा ग़ायब था।

उसने आस-पास सब जगह खोजा..... बजरी पर, घास में, कार के नीचे झांक कर देखा। सन्देह से पास से गुज़रने वाले बच्चों को ताड़ा .... पर लड़का तेज़ था, अचानक उसे जाने क्या समझ में आया कि वह कार के सामने आया और बफ़र पर पैर रख कर ऊपर चढ़ने लगा।

बफ़र से हेडलाइट पर और हेडलाइट से वह हुड पर आ गया। हुड पर खड़े हो कर उसने ताली बजाई और थोड़ा-सा कूदा भी, संभल कर। लकड़ी का टुकड़ा कार की छत पर निश्चित रखा हुआ था।

उसने हाथ बढ़ा कर देखा, हाथ छोटा रह जाता था। अब आगे बढ़ने में हिम्मत की ज़रूरत थी ...... मगर हिम्मत उसमें थी, सो वह ढलुवां विंडस्क्रीन पर से छत पर चढ़ गया। मुझे उसकी गोरी-गोरी टांगों और कत्थई जूतों को विंडस्क्रीन पर फिसलते देख कर खूब हंसी आई। बच्चे ने अपना खिलौना उठाया और फिर हुड पर वापस आ गया।

धूप बड़ी प्यारी थी। हलकी-हलकी हवा थी, जैसे धूप को उड़ा ले जाएगी। हर चीज़ चमक रही थी और हरियाली खास तौर से। वह बिना धारियों वाला लाल ऊनी निकरबाकर पहने हुए उस बड़ी भारी ऊंची मशीन पर खड़ा था और धूप में उसका गोरा रंग भूरे बाल और भोली आंखें तसवीर जैसी लग रही थीं। मुझे तो वह दूर से यों प्यारा लग रहा था, पता नहीं उसे क्या इतना अच्छा लगा कि वह हुड पर से उतरा ही नहीं, ऊंचे पर से मैदान को देखता रहा जहां और बच्चे खेल रहे थे। लकड़ी का टुकड़ा और उसके सीधे-सादे खेल उसे भूल गए थे।

—लखनऊ से प्रसारित

नन्हेराम का भूत

चिरंजीत



कथा परिचय

['नया नगर' रूपक आकाशवाणी दिल्ली से सन् १९५४ से धारावाहिक प्रसारित हो रहा है। यह प्रहसन उसी की एक कड़ी है। वैसे तो यह रमेश और महेश—दो भाइयों के परिवार की कहानी है, परन्तु दूर का सम्बन्धी नन्हेराम इस पारिवारिक कहानी की धुरी बन गया है। नन्हेराम को भगवान ने जितना मोटा शरीर दिया हुआ है, उससे कही मोटा दिमाग दिया है।

जमीदार बाप का इकलौता बेटा होने के कारण नन्हेराम को कमाने की कोई चिन्ता नही, सिर्फ चिन्ता है तो किसी मनपसन्द लड़की से विवाह करने की। उषा, सुषमा और मीनाक्षी के प्रेम में असफल होने के बाद इसने डा० कुसुम को दिल दिया। जब कुसुम ने भी ठुकरा दिया तो निराश हो कर नन्हेराम नदी मे कूद पडा ·]

पात्र परिचय

महेश—'नेशनल पत्रिका' का नौजवान सम्पादक
उषा—महेश की ग्रेजुएट पत्नी
सुषमा—महेश के बड़े भाई की साली और डा० वर्मा की पत्नी
कुसुम—डा० वर्मा की चचेरी बहन, 'नया नगर' अस्पताल मे डाक्टर
मीनाक्षी—उषा, सुषमा और कुसुम की सहेली, एक दक्षिण भारतीय युवती
मदन—महेश और उषा का लड़का
पिता—महेश का पिता, मदन का बाबा
नन्हेराम—एक ज़मीदार का अत्यन्त मोटा नौजवान लडका, महेश का दूर का सम्बन्धी।

[रात की भयंकर निस्तब्धता। एकाएक उषा की चीख सुनाई देती है।]

महेश— (घबरा कर, पास आ कर) उषा! उषा!! क्या हुआ, उषा?
मदन— ममी, क्या हुआ?
महेश— उषा, बताओ न! बोलती क्यो नही?
उषा— (डरी हुई, सहमी हुई) भूत!
मदन— भूत!
महेश— भूत! कैसा भूत?

उषा— (पूर्ववत) वही……नन्हेराम का भूत !

महेश— क्या ?

[भयसूचक संगीत में से अखबार छापती हुई मशीनों की आवाज़ उभरती है। फिर बाज़ार की चहल-पहल में से अखबार बेचने वाले की आवाज़ सुनाई देती है।]

अखबारवाला—आ गया ! आज का ताज़ा अखबार आ गया। पढ़िए, नन्हेराम के भूत की ताज़ा खबर। नन्हेराम का भूत फिर देखा गया—'नेशनल पत्रिका' के सम्पादक के घर।

[बाज़ार का शोर, खरीदारों की आवाज़ें]

अखबारवाला—आज का ताज़ा अखबार 'नेशनल पत्रिका'। सावधान ! नन्हेराम का भूत नए नगर में घूम रहा है, घर-घर प्रकट हो रहा है। पढ़िए, नन्हेराम के भूत का सनसनीपूर्ण समाचार 'नेशनल पत्रिका' में।

बहुत सी आवाज़ें—एक अखबार मुझे देना। मुझे भी देना।

[खरीदारों का शोर ट्रैफिक के शोर में घुल मिल जाता है। 'आज का ताज़ा अखबार' की आवाज दूर जाती सुनाई देती है। डा० कुसुम के क्वार्टर में सुषमा का प्रवेश।]

सुषमा— (जल्दी से आ कर) कुसुम ! कुसुम ! !

कुसुम— क्या है, भाभी ? बड़ी घबराई हुई हो !

सुषमा— लो पढ़ो, आज का अखबार !

कुसुम— (जैसे चीख कर) एँ, फिर नन्हेराम का भूत !

सुषमा— उषा बची थी, कल रात उसके घर भी पहुंच गया।

कुसुम— जल्दी से पूरी खबर पढ़ो न !

सुषमा— खबर का ब्योरा वही है जो कुछ मेरे, तुम्हारे और मीनाक्षी के साथ घटित हो चुका है। कोई आधी रात के समय उषा को 'ठीक है, ठीक है' की आवाज़ सुनाई दी। और फिर उसे लगा, जैसे कोई उसके सिरहाने खड़ा कह रहा हो—'अब तो मैं इस दुनिया में नहीं हूं। सच-सच बताओ, तुम मुझसे प्रेम करती थीं या नहीं ?' …… इसके साथ ही दो मोटे काले हाथ उषा के गले की तरफ बढ़े। उषा ने चीख मारी। सारा घर जाग उठा और नन्हेराम का भूत गायब हो गया।

कुसुम— बिलकुल यही घटना मेरे साथ घटित हुई थी।

सुषमा— चार दिन पहले तुमसे ही तो शुरुआत हुई थी।

कुसुम— हां, दूसरी रात मीनाक्षी ने नन्हेराम का भूत देखा।

सुषमा— फिर मैंने।

कुसुम— और कल रात उषा ने।

सुषमा— मैं समझती हूं, अब तो महेश को विश्वास हो गया होगा।

कुसुम— हमारी बात तो उसने मन का पाप, दिमाग का फितूर, मनगढ़ंत कहानी, और पता नहीं क्या कुछ कह कर टाल दी थी !

सुषमा— देखो न, अब अपने घर में नन्हेराम का भूत प्रकट हुआ, तो खबर अखबार के मुख्य पृष्ठ पर चार कालमी सुर्खी लगा कर छापी है। कल के पर्चे में शायद महेश सम्पादकीय भी लिख डाले।

कुसुम— (एकाएक) भाभी !

सुषमा— क्या बात है, सुषमा ! तुम एकाएक इस तरह सहम क्यों गई हो ?

कुसुम— आज रात मैं अस्पताल के इस क्वार्टर में नहीं सोऊंगी ।

सुषमा— क्यों ?

कुसुम— हो सकता है कि आज रात नन्हेराम का भूत यहां फिर आए !

सुषमा— हां, हो सकता है । उसने आत्म-हत्या तो तुम्हारे इनकार के कारण ही की थी ।

कुसुम— भाभी, तुम भी मुझे ही दोषी ठहरा रही हो ?

सुषमा— दोषी ठहराने की बात नहीं, कुसुम ! तुमने एक दिन में पांच सौ मक्खियां मारने की शर्त रखी । उसने वह शर्त पूरी कर दी । शर्त के अनुसार तुम्हें उससे शादी कर लेनी चाहिए थी । अगर तुम उसे स्वीकार करके शादी का मामला चाहे बरसों टालती रहती, तो वह इस प्रकार अपने प्राण न दे देता । और अब इस बात में तो कोई सन्देह ही नहीं रहा कि उसका प्रेम सच्चा था । सच्चे प्रेम की दुनिया में रंग-रूप और शारीरिक विकृतियां नहीं देखी जाती ।

कुसुम— लेकिन, भाभी·········

सुषमा— कुसुम, मैं सच कहूं, डाक्टरी करते-करते तुम्हारा हृदय भी अपने भैया की ही तरह कठोर हो गया है, पत्थर हो गया है । और नहीं तो नन्हेराम के बूढ़े बाप पर ही तरस खाया होता, जो अपने इस इकलौते लड़के की खातिर अपने पुरखों का गांव, जमीन-जायदाद, खेत-खलिहान सब कुछ छोड़ कर नया नगर चला आया और तुम्हे घर की बहू बनाने के लिए···

कुसुम— ओह, याद आया । ग्यारह बजे मुझे जनरल वार्ड में एक मरीज़ को देखना है । मैं अभी आई । (एकाएक सहम कर) ऐं, मुझे कौन जाने से रोक रहा है ?

सुषमा— मेरे अलावा यहां और तो कोई नहीं ।

कुसुम— (घबराई-सी, डरी-सी) नहीं भाभी ! किसी ने पीछे से मेरी साड़ी का छोर पकड़ रखा है ।

सुषमा— तो क्या दिन में भी नन्हेराम का भूत····

कुसुम— (जैसे अचेत होती-सी) भूत !

मीनाक्षी— (हंसती हुई आती है) कैसा भूत ! डा० साहिबा, आपकी साड़ी का यह छोर कुर्सी की इस कील में फंसा हुआ है ।

कुसुम— ऐं !

सुषमा— मीनाक्षी बहन, तुम ठीक मौके पर आई । भूत की दहशत से पता नहीं अभी-अभी क्या हो जाता । साड़ी फंसी कील में और कुसुम समझी कि···· (हंसती है)

कुसुम— नहीं भाभी, मुझे भूत का धोखा नहीं हुआ । मैं जब कुर्सी से उठने लगी थी, तो मेरी साड़ी के छोर पर मुझे किसी मोटे काले हाथ का झटका महसूस हुआ था । लगता है, मैं इस कमरे से बाहर नहीं निकल सकती ।

मीनाक्षी— तो इसका अभिप्राय यह है कि नन्हेराम का भूत रात में ही नहीं, दिन मे भी इधर-उधर घूमता है । इसका तो कोई इलाज होना चाहिए । मेरा तो सुझाव है कि पुलिस को खबर कर दी जाए ।

सुषमा— लेकिन भूत-प्रेत के मामले में पुलिस क्या कर सकती है ? इसका इलाज हमी चारों में से कोई कर सकती है ।

मीनाक्षी— हम चारों कौन ?

सुषमा— उषा, मैं, तुम और यह कुसुम। हम चारों से ही नन्हेराम ने बारी-बारी से प्रेम किया और विवाह करना चाहा। प्रेम में निराश हो कर मरने के बाद भी नन्हेराम की आत्मा अभी तक भटक रही है, अपने प्रेम का प्रतिदान मांग रही है। इस प्रेम की भूखी आत्मा की तृप्ति होनी चाहिए। है कोई हममें से, जो·····

मीनाक्षी— लेकिन इसके लिए तो उषा को भी यहां होना चाहिए।

कुसुम— भाभी, मुझे तो यहां डर लगता है। आइए, हम सब उषा के घर चलें!

सुषमा— तो आओ, अभी चलें।

[दृश्य परिवर्तन—संगीत और फिर चारों की सिसकियां।]

सुषमा— (सिसकते हुए) बेचारा नन्हेराम!

उषा— सबका प्यारा नन्हेराम!

मीनाक्षी दुलारा नन्हेराम!

कुसुम— आंखों का तारा नन्हेराम!

सुषमा— अब हमें वह भूत बन कर सता रहा है!

उषा— डरा रहा है!

मीनाक्षी— धमका रहा है!

कुसुम— रुला रहा है!

सुषमा— उसे कैसे समझाएं?

उषा— कैसे मनाएं?

मीनाक्षी— कैसे रिझाएं?

कुसुम— कसे प्रेम का विश्वास दिलाएं?

[सिसकियां।]

महेश— (आते हुए) अरे, लंच के समय मेरे घर में यह सिसकी-सम्मेलन कैसा हो रहा है?

उषा— (रुंधे गले से) आप जा कर खाना खाइए। हम नन्हेराम की आत्मा की शान्ति के लिए·····

महेश— इन सिसकियों के बैक-ग्राउण्ड म्यूज़िक के साथ मैं खाना कैसे खा सकता हूं? सुषमा जी के बारे में मैं कुछ नहीं कहूंगा। स्कूल की प्रिंसिपल होते हुए भी इन्होंने छायावादी कवि का हृदय पाया है, जहां आंसुओं से सिंचे अंध-विश्वासों की खाद से ही गीतों के अंकुर फूटते हैं, लेकिन कुसुम जी, आप डाक्टर हो कर, शरीरविज्ञान के ग्रन्थ पढ़ कर भी भूत-प्रेत में विश्वास करती हैं?

कुसुम— जिस तरह आप नन्हेराम के भूत के समाचार अपने अखबार के मुखपृष्ठ पर चार कालमी सुर्खियां दे कर छाप रहे हैं, उससे तो यही प्रकट होता है कि आप भी भूत-प्रेत में विश्वास करते हैं।

महेश— (हंसते हुए) मै और भूत-प्रेत में विश्वास! नन्हेराम के भूत की खबरों के कारण अखबार अधिक बिकता है, इसलिए मैं खूब नमक-मिर्च लगा कर, बढ़ा-चढ़ा कर छापता हूं, वर्ना·····

मीनाक्षी— न मानते हुए भी आप नन्हेराम के भूत से व्यापारिक लाभ उठा रहे हैं, भूत को 'कमर्शलाइज़' कर रहे है?

महेश— मीनाक्षी जी, आप भी पढ़ी-लिखी हो कर·····

उषा— यह बहस का विषय नही । आप जा कर चुपचाप खाना खाइए ।
महेश— हा, खाना तो मैं खाऊंगा ही । और सच कहूं, नन्हेराम की आत्मा की शान्ति का सही तरीका यही है कि सब मिल कर उसकी याद मे चौगुना खाना खाएं । (हंसता है) मदन कहां है ?
उषा— ऊपर छत पर पतंग उड़ा रहा है ।
महेश— और जोड़ू ?
उषा— जोड़ू रसोई में होगा ।
महेश— मुझे तो लगता है कि जोड़ू अब यहा नौकरी नही करेगा ।
उषा— क्यों ?
महेश— नन्हेराम के साथ रहने के लिए ही उसके बापू तुलाराम ने नए नगर मे इन चार क्वार्टरो की यह जायदाद खरीदी थी । नन्हेराम मर कर भूत बना और उसका बापू अनाज की उपज बढाने के लिए वापस गाव चला गया । पीछे सुन्दरिया और जोड़ू ही नए नगर की इस जायदाद की देख-भाल करेंगे ।
उषा— मुझे तो लगता है कि नन्हेराम का बापू जाते समय इन दोनों से ऐसा कुछ कह गया है । जोड़ू रात-दिन नन्हेराम के घर मे ही पड़ा रहता है ।
सुषमा— सुन्दरिया तो घर की मालकिन बन गई है । उस दिन मै आई तो लाख कहने पर भी उसने दरवाजा नही खोला ।
उषा— हा, वह दरवाजा अन्दर से बन्द करके पता नही दिन-भर क्या करती रहती है ?
महेश— कुसुम जी, यदि आपने नन्हेराम से विवाह कर लिया होता तो आज गाव की और नए नगर की सारी जायदाद की आप ही स्वामिनी होती ।
उषा— स्वामिनी तो यह अब भी हो सकती हैं ।
महेश— कैसे ?
उषा— नन्हेराम का बापू जाते समय मुझसे बहुत देर बाते करता रहा । उसका मत है कि डा० कुसुम ने नन्हेराम के साथ बहुत ही घातक मजाक किया ।
महेश— खैर, सो तो है ही ।
उषा— लेकिन इस पर भी नन्हेराम का बापू कुसुम को बहुत मानता है । नदी मे नन्हेराम की लाश को ढुढ़वाने मे कुसुम ने जो भाग-दौड़ की, उसका नन्हेराम के बापू पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा । अब भी यदि ये नन्हेराम के बापू को बता दे कि ये नन्हेराम को सच्चे दिल से चाहती थी, तो ....
कुसुम— तो क्या मैं ढिंढोरा पीट कर दुनिया को बताऊ कि मै नन्हेराम को सच्चे दिल से चाहती थी ?
सुषमा— अरे, तुमने यह बात नन्हेराम को ही चुपके से बता दी होती, तो वह नदी मे कूद कर आत्म-हत्या न करता ।
कुसुम— लेकिन मुझे क्या पता था कि वह मामूली-से मजाक को इतनी गंभीरता से लेगा और ..
महेश— खैर, नन्हेराम की मौत का डा० कुसुम पर कुछ तो असर हुआ ।
सुषमा— कुसुम, तुम नन्हेराम को सच्चे दिल से चाहती थी, इस बात को एक बार फिर कहो ।

सब— क्यों ?

सुषमा— कुछ देर पहले नन्हेराम का भूत अस्पताल में था। अब यहां कहीं आस-पास मंडरा रहा होगा। कुसुम की यह बात सुन कर उसकी निराशा दूर हो जाएगी और वह हमें सताना बंद कर देगा।

कुसुम— भूत-प्रेत यदि लिखी चीज को पढ़ सकते हों तो मैं अदालती दस्तावेज़ के रूप में इस बात की घोषणा कर सकती हूं और·····

मदन— (सीढ़ियों से घबराया हुआ, डरा हुआ आता है) ममी ! ममी !!

उषा— (जल्दी से गोद में ले कर) क्या हुआ, मदन ? अरे, बोलता क्यों नहीं ?

कुसुम— ऐं, इसका तो रंग पीला पड़ गया !

महेश— लगता है, किसी चीज़ से डर गया है। मदन, जल्दी से बता न·····

मदन— डैडी, नन्हेराम का भूत !

सब— भूत !

उषा— कहां देखा ?

मदन— ऊपर छत पर।

सुषमा— मेरी बात सच निकली ! मैंने कहा था न कि नन्हेराम का भूत हमारे आस-पास मंडरा रहा है।

महेश— मदन, पूरी बात बता।

मदन— डैडी, मैं पतंग उड़ा रहा था। तभी एक काला पुतला रेंगता हुआ हमारी छत पर आया। मुझे देखते ही वह तेजी से भाग कर नन्हेराम के क्वार्टर की छत पर चला गया। मैंने ध्यान से देखा तो चेहरा नन्हेराम का था।

सब स्त्रियां— (घबरा कर) नन्हेराम का चेहरा ? नन्हेराम का भूत ?

पिता— (आ कर) अरे, चेहरा ही नहीं, वह स्वयं नन्हेराम ही था। क्या समझीं ? नहीं समझीं ?

उषा-महेश— पिता जी ! आप कब आए गांव से ?

पिता— बस, चला ही आ रहा हूं। तुम्हारे यहां आने से पहले मैं जरा नन्हेराम से मिलने उसके घर चला गया था।

सुषमा— लेकिन नन्हेराम तो.....

पिता— (हंसते हुए) हां, हां, मैंने सब सुन लिया, अखबारों में पढ़ लिया। क्या समझे ? नहीं समझे ?

उषा— आपने यह तो सुना ही होगा कि नन्हेराम ने नदी में डूब कर आत्म-हत्या कर ली थी ?

पिता— (हंसते हुए) हां, और बाकी की कहानी मुझसे सुन लो। नदी में बहते-बहते नन्हेराम को अचानक खयाल आया कि उसे तो तैरना आता है और उसने तैरना शुरू कर दिया।

सब— क्या ?

उषा— तो क्या नन्हेराम डूबा नहीं ?

पिता— नहीं। तैरता हुआ वह मेरे गांव के पास पहुंचा। तब तक वह थक चुका था और मछेरों के जाल में फंस कर किनारे लगा।

सब— तो नन्हेराम जीवित है ?

महेश— मैं तो पहले ही कह रहा था कि भूत वाला किस्सा गलत है।

उषा— हूं, तो इसका मतलब यह है कि गांव से लौट कर नन्हेराम अपने घर में छिपा बैठा है और रात को भूत बन कर हमको डराता फिर रहा है?

महेश— यह सही मानो में वह भूत है जो लातों से मानता है।

कुसुम— इस समय वह अपने घर में ही होगा।

पिता— हां, है तो घर में ही। परन्तु अब उसकी मरम्मत करने की कोई जरूरत नहीं। मैंने काफी डांट-फटकार दिया है।

महेश— ओह, भूत का स्वांग भर कर इस नन्हेराम ने सारे नए नगर में सनसनी पैदा कर दी। जी तो चाहता है कि इसे पुलिस के हवाले कर दूं।

उषा— मैं तो सोचती हूं कि पुलिस की बजाय नन्हेराम को डा० कुसुम के हवाले कर दिया जाए।

(सब हँसते हैं।)

कुसुम— (घृणा से) ऐसे उपद्रवी आदमी का मैं मुंह तक नहीं देखना चाहती।

नन्हेराम— (आ कर) ठीक है, ठीक है। लगता है इन्हें मनाने के लिए मुझे फिर भूत बनना होगा।

पिता— (हंसते हुए) आजकल की पढ़ी-लिखी लड़कियां भूतों पर जल्दी आसक्त होती हैं। क्या समझे? नहीं समझे?

(सब हँसते हैं।)

—दिल्ली से प्रसारित

एक आत्म-स्वीकृति

राजनारायण बिसारिया



नोन के चेहरे बहुत मैंने लगाए
स्वर्ण झीने लबादों में
पाप के तन को छिपाया,
उम्र ने बेदाग मन को
पाठ कुछ ऐसा पढ़ाया
जिस डगर से आंख अपनी मूंद ली थी
घूम-फिर कर उस डगर पर लौट आया।
अनुभवों की पाठशाला में पढ़ा मैं
प्यार के दो बोल जो बोला उसे ही गुरु बनाया
भाग्य कुछ ऐसा रहा
बस गुनाहों को पढ़ा
अच्छे शिष्य जैसा याद रक्खा
उम्र तख्ती पर उन्हें फिर-फिर लिखा
फिर-फिर मिटाया !
प्यार के हाथों मुझे संसार ने ऊपर लिया था
निमिष में ही खूब कस कर धाड़ से पटका
कि नीचे दूर गहरे पंक में जा
कंठ तक मैं डूब आया।
अनगिनत दोषों-कलंकों में नहाया !
देह-मन से था कलंकित
किन्तु दुनियादार बन कर
पाप-कीचड़ से कमल जैसा उठा मैं
जड़ गुनाहों में रही
पर मृदुल दल ने सुरभि ने मुझको बड़ा पावन बनाया
भक्ति से सबने मुझे निज देवताओं पर चढ़ाया।
भृंगदल ने गीत गाए।
स्नेह से कोमल करों ने

श्याम केशों में सजाया ।
पाप में डूबा रहा
पुजता रहा मैं ।
क्योंकि तन पर सुरभि भी थी
सुनहला-सा लबादा था !
मोम चेहरे पर चढ़ा था !
पास से जो भी गया
वह जान तक मुझको न पाया।
मैं कहां तक कहूं
मैंने झूठ मिथ्याचार के बल पर
सगे-सम्बन्धियों को
दोस्तों को भी छकाया ।
पर तुम्हारी नत निगाहों में
छिपी ऐसी तपन है,
मोम के चेहरे पिघल कर बह गए है—
स्वर्ण से निर्मित लबादे
कंटकित हो रह गए हैं ।
जो कि चुभते हैं मुझे अब ।
ढह गई है ठोस प्राचीरें सुरक्षा की
छद्म-गढ़ में अब नहीं मैं छिप सकूंगा ।
हट गए रंगीन पर्दे, सामने तुम हो कि जैसे आईना हो ।
मैं तुम्हारी सादगी में, देखता हूं आज निज विद्रूपता को ।
अब डराने लग गई है,
मुझे अपनी कलुप परछाई !
धर्म से मैंने न भय खाया
आत्मा की बात भी अब तक न सुन पाया
फुसफुसाहट और कानाफूसियां पथ पर न लाई
किन्तु पश्चात्ताप के तट पर खड़ा मैं
आज अपने सब गुनाहों को
सहज स्वीकार करने लग गया हूं
आज जब तुम मौन निःस्वन समर्पण ले
सामने आई ।

—जालन्धर से प्रसारित

न कलात्मक, केवल मूल्य मात्र है, तो इस अमूर्त (एब्स्ट्रैक्ट) मूल्यत्व को हम एक काल्पनिक वस्तु मानते हैं। विचारों के स्पष्टीकरण में यह एक रुकावट है।

यहां तक तो ठीक था। जीवन का मूल्य न सही, जीवन के मूल्य तो हैं। लेकिन अगला कदम ज़रा और तेज़ी से बढ़ाया गया; अब कहा गया : विशेष प्रकार के मूल्यों को भी हम उस अर्थ में नहीं मानते जिस अर्थ में प्राचीन काल में माना जाता था। मूल्य हैं अवश्य, पर उनका कोई आब्जेक्टिव, वस्तुगत अस्तित्व नहीं है। यदि हो तो हमारे पास इसका कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्येक मूल्य, नैतिक, कलात्मक, जैसा भी हो, पूर्णतया निजी होता है। मेरे नैतिक मूल्य अलग हैं, आपके अलग—और दोनों अपनी जगह पर ठीक हैं। यह अतिव्यक्तित्ववाद बहुत शीघ्र जीवन के सभी मूल्यों के ठुकरा दिए जाने का कारण सिद्ध हुआ। यदि मेरे नैतिक मूल्य केवल मेरे ही हैं तो मेरे आज के मूल्य कुछ हैं, कल के कुछ और होंगे। सवेरे मैं जीवन का मूल्य मानता हूं, दोपहर को नहीं मानता; सम्भव है शाम को चाय पीने के बाद फिर मानने लगूं। इसलिए अराजकतावादी का यह कथन ठीक जान पड़ता है कि या तो हम मूल्य को एक सर्वव्यापी सत्ता के रूप में मानें, या फिर खुलेआम यह घोषित कर दें कि मूल्य नाम की कोई चीज़ नहीं है।

और ऐसा किया भी गया है। जिस दर्शन को आजकल अस्तित्ववाद के नाम से पुकारा जाता है, उसके अनुसार जीवन के मूल्य की कल्पना ही निरर्थक है। अस्तित्व ही सब कुछ है। वस्तुएं, घटनाएं, मनुष्य या तो हैं, या नहीं हैं। क्यों हैं, सुन्दर हैं या असुन्दर, उचित या अनुचित—ये बातें असंगत हैं। 'होना' सत्य है, मूल्य काल्पनिक। अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर यह परिस्थिति क्यों उत्पन्न हुई? मूल्यों का वृक्ष जिसके लिए प्लेटो, अरस्तू, बुद्ध, कन्फ्यूशियस और शंकराचार्य ने ज़मीन तैयार की और जिसे हज़ारों वर्ष तक मानववादियों ने सींचा, आज क्यों मुरझा रहा है? स्पष्ट है कि सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में मानव का तर्कशून्य और निष्ठुर व्यवहार इसके लिए किसी हद तक ज़िम्मेदार है। आज राजनीतिज्ञों के हाथ में मनुष्य साधन मात्र रह गया है, और इस साधन का प्रमुख उपयोग है युद्ध की ज्वाला के लिए ईंधन प्रस्तुत करना। जब मानव का ही मूल्य न रहे तो मानव जीवन के मूल्य का प्रश्न ही कहां उठता है?

लेकिन सारा दोष राजनीतिज्ञ को देना भी अन्याय है। विज्ञान और दर्शन का विरोध भी एक वास्तविक समस्या है। विज्ञान को उसकी सफलताओं के लिए पूरा श्रेय देते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि मूल्यों के निर्मूल्यकरण में भौतिक विज्ञान—जो अकसर यांत्रिक विज्ञान हो जाता है—निर्दोष नहीं है। विज्ञान का सच्चा आदर्श मूल्यों की वृद्धि है, परन्तु वैज्ञानिक का प्रत्यक्ष रवैया इस आदर्श से बहुधा मेल नहीं खाता। प्रकृति से होड़ लेने में वैज्ञानिक इतना लीन हो जाता है कि मानवीय मूल्यों का उसे विस्मरण हो जाता है। इस संदर्भ में एक किंवदंती प्रचलित है—एक पाश्चात्य वैज्ञानिक किसी पौर्वात्य दार्शनिक को विज्ञान की सफलताओं की फेहरिस्त बड़े गर्व से सुना रहा था। हवाई जहाज़ और सब-मरीन का ज़िक्र करते हुए उसने कहा, 'महाशय, आपने देखा, आज हम विहंगों की तरह अंतरिक्ष की सैर करते हैं और मछली की तरह महासागर में गोते लगाते हैं।' दार्शनिक ने कहा, 'जी हां, आप पक्षी की तरह हवा में उड़ना भी जानते हैं और मछली की तरह पानी में तैरना भी। लेकिन आदमी की तरह ज़मीन पर चलना-फिरना आप भूल गए।'

वास्तव में जीवन के मूल्य का तभी पुनःप्रस्थापन हो सकता है जब मानव फिर एक बार साधन से साध्य में परिणत हो और उसकी दृष्टि, वातावरण की यात्रा कुछ क्षणों के लिए स्थगित करते हुए, फिर अपने आन्तरिक जगत की ओर मुड़े।

—इलाहाबाद से प्रसारित

लाजवन्ती

द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'



मकान के निचले हिस्से में जो युवक क्लर्क रहता था, उसकी पत्नी यशोदा ने आंगन में खड़े हो कर चिल्ला कर कहा, "किस अंधे ने यह कूड़ा फेंका है ?"

ऊपर से कोई कुछ न बोला। अभी घंटा भर पहले वह आंगन बुहार कर गई थी और अभी चारों ओर तरकारियों के छिलके छितर गए। यशोदा ने ऊपर को मुंह करके देखा, जंगले में जहां-तहां छिलके लटके हुए थे। उसने स्वर को ऊंचा करके फिर कहा, "किसकी आंखें फूट गई थीं ?"

चट् से ऊपर वाली ने जंगले पर धमक कर कहा, "आंखें फूटी होंगी कहने वाले की।"

"चोरी और सीनाज़ोरी ! मै क्या डोम-चमार हूं जो रोज़-रोज़ तुम्हारी जूठन बटोरूंगी ? क्यों तुमने मेरे आंगन में कूड़ा फेंका ? बाहर जाने को तुम्हारे हाथ-पैर टूट गए थे क्या ?"

ऊपर वाली ने आंखें निकाल कर कहा, "ज़रा जुबान संभाल कर बोल, कैंची की तरह कुतर-कुतर कर रही है। कूड़ा क्या हमने हाथ से गिराया है ? बन्दर बिखेर गया। ऐसा कौन सा गज़ब हो गया जो आसमान सर पर उठा रखा है। मुझे ऐंठ मत दिखा, समझी ! मैं बहुत बुरी हूं। बस, अब मुंह मत खोलियो··· "

"तुम कौन खेत की मूली हो, किस घमण्ड में हो ? तुम हो कौन मुझे रोकने वाली ? मुंह मत खोलियो—जैसे मेरी जेठानी हो, जैसे मै भी मनोरमा हूं जो डांट-फटकार सब सह लूगी। मुंहझौंसी !"

ऊपर वाली ने सप्तम स्वर में कहा, "अरे, ओ कलमुंही, अरे ओ डायन, अरे ओ······" कि मनोरमा ने पीछे से जेठानी को बांह पकड़ कर खींच लिया और भीतर को ले जाती कातर स्वर में बोली, "झगड़ा मत बढ़ाओ, दीदी।"

पालने में लेटी जेठानी की बच्ची जाने कब से रो रही थी। मनोरमा दौड़ी, जा कर उसे उठा लाई और जेठानी से पूछने लगी, "किसकी दाल चढ़ाऊं, दीदी ?"

तभी अचानक दरवाज़े पर जगदम्बा के चप्पलों की आवाज़ हुई। मनोरमा से उसकी दृष्टि मिली तो मुसकरा दिया। पर मनोरमा ने तत्काल मुंह फेर लिया और खिड़की पर जा खड़ी हुई। जगदम्बा भाभी के आगे आ बैठा और प्रसन्न भाव से बोला, "मुनिया के लिए ऊनी फ्राक लाया हूं, भाभी। देखना, छोटी तो न होगी।"

भाभी सुन्न रहीं। जगदम्बा ने फ्राक सामने फैला कर कहा, "आज फिर लड़ाई हो गई क्या ? कौन जीता ?"

भाभी ने कहा, "वही चुड़ैल जीती ।"

जगदम्बा ने सिर हिला कर कहा, "तब तो डूब-मरने की बात है । एक चुड़ैल दो चुड़ैलों से जीत गई । तुम्हें धिक्कार है, भाभी ।"

भाभी ने हंसी रोक कर कहा, "जले पर नमक मत छिड़को ।" और तब मानो ऊनी फ्राक देखा, घड़ी भर उसके लाल-लाल फूल देखती रही और उसी स्वर में कहने लगीं, "फिर एक फ्राक ले आए, दस फ्राकें तो आ चुकीं इस रांड की । मैं कहती हूं ऊन लाने की सुधि न हुई तुम्हें ? जाड़े में यह अभागिन मनोरमा सिरसिराती है रोज, स्वेटर बुन लेती उलटा-सीधा । इस गरीब पै दया नहीं आती तुम्हें ?"

जगदम्बा ने उठते-उठते कहा, "मेरे पास रुपये ही नहीं हैं । जिसे जरूरत हो अपने पैसे से खरीद ले ऊन ।"

भाभी ने जोर से कहा, "तुमने बड़ी भारी रोकड़ सौंप दी है न उसे !"

जगदम्बा ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया । वह फिर बाहर चला गया ।

सुबह को मनोरमा सो कर उठी तो उसे सिरहाने ऊन का पैकेट रखा मिला । बहुत खुश हुई ऊन पा कर, और जल्दी-जल्दी उसने बक्स में से बारह नम्बर की सलाइयां ढूंढ़ निकालीं । रोटी-पानी से निबट कर तत्काल बुनने बैठ गई और उसकी सुकुमार अंगुलियां बड़ी तेजी से एक नवजात शिशु के मोजे बनाने लगीं । रात को फिर उसने टोपा बुना । सुन्दर था । और दूसरे दिन जेठानी से छिपा कर बचकाना स्वेटर भी बुन डाला ।

नीचे वाली के पहला भतीजा जन्मा था । वह अपने मायके जा रही थी । मनोरमा ने जेठानी से छिपा कर वे सब मोजे, टोपा और स्वेटर नीचे वाली को भेंट दे दिए और बहुत-बहुत खुश हुई ।

इस प्रकार उसका अपना स्वेटर न बना, और जाड़ा सताता रहा कोमल तनुलता को, और सिरसिराती रही जाड़े से कि नीचे वाली लौट आई अपने मायके से ।

रात की गाड़ी से आई थी । भोर होते ही उसने मनोरमा को इशारे से नीचे बुला लिया और भारी प्रसन्नता से अपना ट्रंक खोल कर एक सुन्दर-सी धोती निकाली और उसे मनोरमा के हाथों में सौंपती बोली, "यह धोती तुम्हें अम्मा ने दी है ।"

मनोरमा ने वह धोती अपने माथे से छुआ कर गद्गद हो कर पूछा, "दीदी, तुमने अम्मा से मेरी नमस्ते कही थी न ? क्या कहा अम्मा ने ? मेरे लिए कुछ कहा ?"

नीचे वाली स्नेह से बोली, "तुम्हें आशीर्वाद कहा है अम्मा ने, तुम्हें देखने को बिलकुल पागल हो रही हैं । जल्दी बुलाएंगी तुम्हें । छोटे भइया का ब्याह ठहर गया न, उसी में जाना पड़ेगा तुम्हें । बड़े भैया आएंगे बुलाने । चलोगी न ?"

"ज़रूर चलूंगी", मनोरमा ने खुशी से उछल कर कहा, "छोटे भइया के ब्याह में खूब काम करूंगी मैं । अम्मा के पास लेटूंगी रात को । दीदी, किसी से मां कह कर पुकारने को मेरा जी कितना तरसता रहता है" । कहते-कहते मनोरमा के नयन सजल हो उठे । पानी में तैरती आंखें लिए बोली, "मेरी अपनी मां नहीं हैं तो तुम्हारी मां भी तो मेरी अपनी मां ही हैं । है न दीदी ?"

नीचे वाली ने विह्वल हो कर कहा, "मैं यहां इस घर में आई थी तो पहले दिन ही तूने मेरा दिल छीन लिया था, मनोरमा ! लगता है, अब मेरी मां को भी तू छीन लेगी, ज़ालिम !"

"दीदी, मैं ज़ालिम हूं ?" मनोरमा सिर तिरछा करके पूछ रही थी कि नीचे वाली का पति आ गया । मनोरमा शरमा कर भागी ।

वह धोती उसने अपने बक्स में छिपा दी, पर दुपहरिया में जब जेठानी मुनिया से खेल रही थीं, मनोरमा ने सामने बैठ कर वही धोती दीदी के आगे पेश करके खुशी से सुनाया कि नीचे वाली की मां ने नाती होने की खुशी में यह धोती दीदी को भेजी है। फिर बगल से एक दूसरी धोती निकाल कर बोली, "यह मेरे लिए भेजी है अम्मा ने।"

जेठानी ने प्रसन्न हो कर कहा, "धोती तो मुझे बहुत बढ़िया भेजी है पर तेरी धोती, यह कुछ घटिया मेल की है।"

मनोरमा ने सिर डाले-डाले धीरे से कहा, "दासी को मालकिन के बराबर कहीं कोई नहीं समझता, दीदी।"

दीदी ने झूठी नाराजगी से कहा, "चुप रह पागल, ...हां री, नीचे वाली ने धोती यह कब भिजवा दी? खुद देने न आई मिज़ाजिन!"

मनोरमा ने हंस कर कहा, "वह उस दिन की लड़ाई से बहुत शर्मिन्दा है। तुम्हीं अपनी ओर से बोल-चाल शुरू करो न दीदी।"

धोती को देख कर दीदी जोश में आ गई थी। लौंडिया को वहीं छोड़ छज्जे पर आ खड़ी हुई और प्यार से पुकार कर बोली, "अजी कहां हो जी, सुनो तो जरा। भतीजा कैसा है तुम्हारा? खूब गोरा-चिट्टा है न? अम्मा तो राजी-खुशी हैं?"

मनोरमा बच्ची को नंगा करके तेल मलती रही और उधर ऐसी बातों की झड़ी लगी कि ठिकाना नहीं।

दूसरे दिन मनोरमा पड़ोसिन के यहां से अपने घर लौटी और जीना पार करके दबे-पांव छत पर आई तो बाहर जेठ जी के जूते उतरे दीखे। मनोरमा चौंकी कि आज तो दावत थी दोनों भाइयों की व बाबू के यहां। क्या दादा जी दावत में नहीं गए?

दबे-पांव वह आगे बढ़ी तो जेठानी को अपना नाम लेते सुना। मनोरमा दीवार से सट कर सुनने लगी।

जेठ जी बोले, "नहीं, नहीं, उससे कुछ चर्चा न करना।"

"चर्चा किस मुंह से करूंगी," जेठानी ने धीरे से कहा, "एक जेवर भी तो कभी उसे बनवा न सकी। उसका अपने बाप का दिया है सब। हमारा अधिकार ही क्या है उन जेवरों पर। कब चाहिए? क्या सोचा है फिर? कहां से दोगे इतना?"

जेठ जी सांस खींच कर बोले, "परसों तक जमा कर देना है। पूरे चार हजार चाहिएं। न कर सका तो सारी इज्जत-आबरू मिट्टी में मिल जाएगी। जमानत न करता, यही अच्छा था। पर उसने सदा मेरा साथ दिया है। मित्रता के लिए मित्र के नाते ही मैंने यह बाजी लगा दी। हामी न भरता तो मित्र के साथ घोर अन्याय करता। हिम्मत की तो अब अपने प्राणों पर आ बनी। कैसे धर्म-संकट में फंसा हूं।"

जेठानी ने दुख में डूब कर कहा, "कल का दिन बीच में है। भाग-दौड़ करके कुछ इन्तजाम कर लो। इतने बड़े-बड़े आदमियों से जान-पहचान है, वह किस दिन काम आएगी?"

बोले, "कुछ न कुछ तो करना ही होगा। रुपये का ऐसा मामला है कि सब आंख बचाना चाहते हैं। पर मेहरा ऐसा नहीं है। उसी से कहूंगा। उसके लिए तो चार हजार खेल समझो।"

जेठानी ने धीरे से कहा, "आज को अगर मेरे पास सोना होता तो काहे को गैरों से मुंह डालते फिरते। कभी एक छल्ला तक बनवा कर न दिया।"

पालने में बच्ची रो उठी। जेठानी को उठता सुन मनोरमा झटपट कोठरी में घुस गई।

दूसरे दिन छुट्टी थी। जगदम्वा अपने कुछ मित्रों के साथ पिकनिक करने चला गया था। और मनोरमा आज भी पड़ोसिन के यहां आ गई थी तथा वच्चों को खिला-पिला कर चौके से जूठे वरतन इकट्ठे कर रही थी। बच्चों का बाप पत्नी की दवा ले कर लौटा, तो वहीं आंगन में ठिठक कर खड़ा रहा। फिर भरे गले से बोला, "यह क्या कर रही हो ? तुम ब्राह्मण हो, हमारे जूठे वरतन न छूओ, बिटिया ! पाप लगेगा हमें। छोड़ दो बेटी, हाथ धो डालो।"

पर मनोरमा ने न सुना। बरतन मांज-धो कर पड़ोसिन के पास आ कर धीरे से बोली, "अव इजाजत दो, दीदी। और कोई काम हो तो मुझे बुला लेना फौरन। ......जाऊं दीदी ?"

रुग्णा पड़ोसिन लेटी-लेटी आर्द्र कंठ से बोली, "इधर आ जरा।" मनोरमा उसके मुरझाए मुख पर झुक आई तो पड़ोसिन ने उसके दोनों हाथ पकड़ कर माथे से लगा लिए तथा फिर उसकी हथेलियां चूम ली सूखे ओंठों से, और हौले से बोली, "जा तू, अपनी जेठानी को भेज देना मेरे पास।"

सो जेठानी पड़ोसिन के पास गई थी और मनोरमा बच्ची का स्वेटर बुनने बैठी कि जेठ जी आते दीखे। मनोरमा ने चटपट मुख पर घूंघट खींच लिया।

जेठ जी ने भीतर घुसते-घुसते सिर डाले कहा, "बिट्टो की मां, नहीं हो सका---कुछ नहीं हो सका इन्तज़ाम। मेहरा कलकत्ते चला गया है। सब जगह मुंह डाल आया। अब बोलो, क्या करूं ? कैसे इज्जत बचेगी कल ?" यों कहते-कहते जो अचानक इधर नज़र गई तो सकुचा कर बोले, "अरे ! बेटी तुम हो ! ......माफ करना, बेटी !" और फौरन अपने कमरे में घुस गए और जूते न उतारे और गिर-से गए कुरसी में और सिर पकड़ लिया दोनों हाथों से और समाधिस्थ-से हो गए। घड़ी पीछे कुछ आहट सुन उन्होंने जो सिर उठाया तो मनोरमा बैठी थी चरणों के पास।

घबरा कर बोले, "क्या है बेटी, क्या बात है ?"

मनोरमा ने जीवन में पहली बार दादा जी के आगे मुंह खोला। कम्पित वाणी मे बोली हौले से, "ये ज़ेवर है, इन्हें ले लीजिए।" और कपड़े की पोटली में बंधे अपने सारे जेवर उसने दादा जी के चरणों में रख दिए और उसी कांपती आवाज में कहा हौले से, "आपको मेरे सिर की सौगन्ध है। अस्वीकार मत कीजिएगा।"

दादा जी ने भरे गले से कहा, "यह तुमने क्या किया, बेटी ?"

मनोरमा उसी कांपते स्वर में कहने लगी, "तीन दिन से इतनी चिन्ता मे डूबे रहे, इतना कष्ट सहते रहे, अपमान सहते रहे और आप मुझसे न कह सके !" कहते-कहते मनोरमा की आंखे भर आई। उन्ही पानी भरी आंखों से दादा जी के चरणों को निहारती कहने लगी, "सारी रात यही सोच कर रोती रही कि आपने मुझे इस योग्य ही न समझा।.....दरिद्र पिता की दरिद्र वेटी हूं, शायद विश्वास नही हुआ मेरा। यह तुच्छ सोना क्या आपकी इज्जत से भी महान है ? बावू जी ने मुझसे उऋण हो कर सन्यास ले लिया। दीन-दुखियों की सेवा का व्रत निभाने के लिए वे संन्यासी हो गए। यह सारा देश उनकी सेवा का क्षेत्र हो गया। अपने बावू जी के वरावर कभी नही हो पाऊंगी---यही सोच कर मुझे वह इस देव-मन्दिर की दासी का पद दे गए हैं। देवदासी का तो सव कुछ देवता का हो जाता है, तन भी और धन भी। कितना रोई यह सोच कर कि मेरे दादा जी ने मेरा धन अपना करके नही माना। मै यह तन भी अपना नही जानती थी। सोचती थी, कभी शायद अवसर पड़े, कभी शायद जरूरत पड़े दादा जी को, तो तन का रक्त दे दूंगी, सव रक्त दे दूगी अपना। सब कुछ उन्ही का तो है, सब कुछ दे दूंगी---इन चरणों को अपनी खाल से मढ़ दूगी।"

कहते-कहते मनोरमा की वाणी रुकने लगी और आंसू की बूंदें चूने लगीं दादा जी के चरणों पर, तो दादा जी ने मनोरमा के सिर पर अपना कांपता हाथ रख कर रो कर कहा, "बस बेटी, अब और कुछ मत कहना। अब और सह नहीं सकूंगा लाड़ली, सह नहीं सकूंगा!"

मनोरमा ने अपने आंसू पोंछ कर कांपती ज़बान से कहा, "एक प्रार्थना और है। अपने भाई से और दीदी से कुछ मत कहिएगा यह सब।"

तो दादा जी ने तत्काल हाथ हिला-हिला कर कहा आंखों से पानी बहा कर, "मैं तुम्हारी यह बात हरगिज़ नहीं मानूंगा, बेटी। मैं तुम्हारी दीदी से कहूंगा, जगदम्बा से कहूंगा, ज़रूर कहूंगा, सबसे कहूंगा, मैं तो सारी दुनिया में कहता फिरूंगा। मैं अपनी बेटी के इतने बड़े बलिदान की बात नहीं छिपा सकूंगा, हरगिज़ नहीं छिपा सकूंगा।"

सहसा पत्नी ने चौखट पर खड़े-खड़े घबरा कर पूछा, "क्या हुआ? रो क्यों रहे हो? हुआ क्या?"

मनोरमा तड़ित वेग से उठ कर भीतर को भागी। भागते हुए उसने अपने कमरे में किवाड़ें दे लीं और खाट पर लुढ़क गई और दिल भर-भर आने लगा भीतर से और आंखें जल बरसाती रहीं, तो उसी समय सुन पाई दादा जी दीदी जी से कह रहे हैं, "अब मैं क्या करूं, बिट्टो की मां, अपनी बेटी से कैसे उऋण हो पाऊंगा? मैं अपना कलेजा उसके चरणों पर रख देना चाहता हूं।"

मनोरमा ने कस कर अपने दोनों कानों में अंगुलिया ठूंस लीं और घायल पंछी-सी तड़फड़ाती रही आंखों से आंसू बहाती। तभी दीदी ने ज़ोर से किवाड़ थपथपा कर रोते-रोते कहा, "कुंडी खोल।"

मनोरमा नहीं उठी।

दीदी ने रोते-रोते चिल्ला कर कहा, "किवाड़ खोल, नासपीटी। एक बार तुझे कलेजे से तो लगा लूं।"

मनोरमा ने भीतर से रोते-रोते कहा, "नहीं खोलूंगी, दीदी, हरगिज़ नहीं खोलूंगी। हाय भगवान, ज़रा-सी बात पर मुझे कितनी लज्जा दे रहे हैं सब। तुम सब मेरी जान ले लोगे क्या? तुम्हारे पैरों पड़ूं, दीदी। दया करो, मां।"

बाहर दीदी बैठी रो रही थीं। भीतर मनोरमा रो रही थी। दादा जी अपने कमरे में रो रहे थे।

तब केवल एक आदमी तटस्थ रहा। वह बरामदे में बैठा था और बड़े मज़े से अमरूद तराश-तराश कर खा रहा था। यह जगदम्बा था।

—इलाहाबाद से प्रसारित

रेडियो नाटक

भगवतीचरण वर्मा



वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप वर्तमान युग में साहित्य के दो नवीन रूप प्रकट हुए हैं। उनमें एक चलचित्र है और दूसरा रेडियो नाटक है।

आज की भयानक रूप में व्यस्त और नित्य नवीन समस्याओं से उलझी हुई दुनिया में जहां यंत्रों के साथ काम करता-करता मानव स्वयं यंत्र बन चुका है, यंत्रों पर आधारित ये चलचित्र और रेडियो नाटक हमारे दैनिक मनोरंजन से घनिष्ट रूप में सम्बद्ध हो चुके हैं, और इसलिए चलचित्रों एवं रेडियो नाटकों को स्वतः साहित्यिक मान्यता प्राप्त हो गई है। विशिष्ट साहित्यकार साहित्य के इन नए रूपों को स्वीकार करने में संकोच कर सकते हैं, पर जो सत्य है उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा।

चलचित्र हमारे प्राचीन रंगमंच के नाटक का वह परिवर्तित रूप है जिसमें यांत्रिक विकास की सहायता से औपन्यासिकता का समावेश हो जाता है। नाटक का सम्बन्ध अधिकतर देखने से है, और हमारे आचार्यों ने नाटक को दृश्य काव्य कहा भी है। क्या दिखाया जा सकता है और क्या नहीं दिखाया जा सकता है, नाटक का शिल्प इन सीमाओं से बंधा है। चलचित्र में नाटक के शिल्प की ये सीमाएं तोड़ दी गई हैं, कुछ भी ऐसा नहीं है जो चलचित्र में न दिखाया जा सके। जो कुछ है—सागर, वन, पर्वत, आकाश—सभी कुछ चलचित्र में दिखाया जा सकता है और जो नहीं है, कल्पना द्वारा उसे रूप देकर तथा कृत्रिम उपायों से उसकी रचना करके उसे भी दिखाया जा सकता है।

लेकिन यहां हमें यह भी समझ लेना पड़ेगा कि चलचित्र का विकास वस्तु जगत के निकट अधिक है, भावना जगत के निकट कम। मनुष्य पर चलचित्र के प्रभाव का यांत्रिक माध्यम आंख है। नाटक को दृश्य काव्य कहा ही गया है। पर जहां नाटक में देखने के साथ सुनने की प्रक्रिया भी उतनी ही महत्वपूर्ण है—क्योंकि अपनी सीमाओं के कारण रंगमंच के दृश्य पूर्ण रूप से प्रभावोत्पादक नहीं हो सकते—वहां चलचित्र में दृश्यों को पूर्ण रूप से प्रभावशाली बनाने के लिए अत्यधिक महत्व देना स्वाभाविक हो जाता है। और इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि चलचित्र का विकास वस्तु जगत के निकट अधिक है, भावना जगत के निकट है ही नहीं। जो भी चीज आंखों के माध्यम स मन पर प्रभाव डालती है, वह भौतिक अधिक होगी, मानसिक कम। चलचित्र में नाटक का शिल्प पक्ष बहुत अधिक उन्नत हो गया है, लेकिन यह शिल्प पक्ष भी यांत्रिक है, कलात्मक नहीं है। उसका भावना पक्ष उपेक्षित पड़ा रहा।

रेडियो नाटक चलचित्र की अपेक्षा साहित्य का अधिक नवीन और मौलिक रूप है, क्योंकि नाटक इसके आने के पहले तक केवल दृश्य ही माना जाता था। रेडियो नाटक के आने के बाद

नाटक में उसके दृश्य होने का अवयव आवश्यक नहीं रहा। रेडियो नाटक में वस्तु जगत से ऊपर उठ कर विशुद्ध भावना जगत में आना पड़ता है। दृश्य के गुण की अनुपस्थिति रेडियो नाटक की सबसे बड़ी कमज़ोरी है, पर यही कमज़ोरी उसके शुद्ध काव्य बन सकने में बहुत बड़ा बल भी है, क्योंकि रेडियो नाटक में भावना पक्ष रंगमंच के नाटक की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है।

रेडियो नाटक का प्रभाव मन पर श्रवण के माध्यम से पड़ता है और श्रवण का गुण है ध्वनि को ग्रहण करना। ध्वनि के दो रूप माने गए हैं: एक शब्द और दूसरा स्वर। नाटक में प्रधानता स्वर की नहीं शब्द की है, इसलिए रेडियो नाटक में शब्द की महत्ता अधिक है। और यह शब्द शुद्ध साहित्य है, क्योंकि शब्द में निहित भावना सर्वव्यापी और सीमा से परे है।

रेडियो नाटक पर अभी तक साहित्यकारों ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। नवीनता को स्वीकार करने में हिचकना, यह मानव का स्वभाव है। लेकिन जो सत्य है वह स्थापित होगा ही, उसे स्वीकार करना पड़ेगा।

रेडियो नाटक केवल श्रव्य है और इसलिए वह शुद्ध काव्य का एक नवीन रूप है जिसका शिल्पकाव्य के शिल्प से कुछ थोड़ा-सा भिन्न है। जहां काव्य में एक विस्तृत औपन्यासिकता है, सुन्दर वर्णन है, कल्पना की व्यापकता है, वहां रेडियो नाटक केवल कथोपकथन में सीमित है। काव्य को कथोपकथन में बद्ध और सीमित कर देना परिश्रम का काम है। इसके लिए कलाकार में एक विशेष प्रकार की मानसिक प्रक्रिया की आवश्यकता है।

प्रश्न यह है कि इस प्रकार काव्य को सीमित करना कहां तक उचित है, और इस प्रकार सीमा में बंधे हुए काव्य का जनता पर कैसा प्रभाव पड़ेगा तथा कैसा स्वागत होगा? मैं यहां इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करूंगा।

मेरा ऐसा मत है कि आज की अत्यधिक वस्तुवादी दुनिया में लोगों के अन्दर काल्पनिक विस्तार और प्रसार के प्रति एक प्रकार की अरुचि-सी उत्पन्न होती जा रही है। महाकाव्यों तथा बहुत बड़े उपन्यासों का युग अब नहीं है। अबाध गति और व्यापक अशांति से प्रेरित मानव के पास इतना समय कहां कि वह अधिक काल तक दत्तचित हो कर साहित्य का मनन करे। अवकाश के कुछ इने-गिने क्षणों में उसे जो मिल गया, वही उसके लिए बहुत है। और इसलिए साहित्य को जन के पास पहुंचने के लिए अपना कलेवर बदलना पड़ेगा। आध घंटे या एक घंटे के रेडियो नाटक में यदि साहित्यकार अपनी बात कह सके तो उसका स्वागत होगा।

कथोपकथन को साहित्य में अनादि काल से शक्तिशाली माध्यम समझा गया है, क्योंकि नाटक हमारे साहित्य का अति प्राचीन रूप है। कालिदास आदि संस्कृत के अनेक अमर साहित्यिकों ने अपना श्रेष्ठतम साहित्य नाटकों के माध्यम से दिया है। यह ठीक है कि उन्होंने नाटकों में दृश्य का अवलम्ब लिया है पर उनके वे नाटक उच्च कोटि के पाठ्य ग्रन्थ हैं।

रेडियो नाटक उतनी ही सुन्दर पाठ्य-सामग्री दे सकता है जितनी सुन्दर पाठ्य-सामग्री संस्कृत के उन अमर कवियों ने अपने नाटकों के माध्यम से दी है, और मेरा मत तो यह है कि सम्भवतः उससे भी अच्छी पाठ्य-सामग्री रेडियो नाटक में आ सकती है, क्योंकि जहां रंगमंच के नाटकों में दृश्य पक्ष होने के कारण शुद्ध शब्दों में निहित भावना पक्ष में कहीं-कहीं अवरोध हो सकता है, वहां रेडियो नाटक में शब्दों वाला भावना पक्ष निर्बाध चलता है।

साहित्य वाली भावना देश और काल की सीमाओं से परे है, लेकिन साहित्य का शिल्प देश और काल की सीमा से बद्ध हुआ करता है। इसलिए आज के युग में रेडियो नाटक के शिल्प में अनावश्यक विस्तार एवं प्रसार का कोई स्थान नहीं। रेडियो नाटक में एक सुगठित और संक्षिप्त कथानक ही प्रभावशाली हो सकता है।

मेरा ऐसा अनुभव है कि रेडियो नाटक में गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक सफल होता है, क्योंकि रेडियो नाटक पूर्णतः ध्वनि पर अवलम्बित है और ध्वनि के एक भाग शब्द को ध्वनि के दूसरे भाग स्वर से अधिक से अधिक सहायता मिल सकती है। विशुद्ध स्वर की कला संगीत है, और संगीत का आधार लय है। पद्य का आधार भी लय ही माना जाता है, और इसलिए वे नाटक जिनमे संगीत का सहयोग अधिक होता है प्रायः सफल होते हुए देखे गए हैं।

शक्तिशाली साहित्यिक नाटकों के अभाव में रेडियो नाटक के नाम पर रेडियो द्वारा अभी तक संगीत-रूपक प्रसारित होते हैं या फिर हास्य रस की लतीफेबाजी का भी सहारा लिया जाता है। मनोरंजन के नाम पर हास्य रस की लतीफेबाजी या संगीत-रूपक कुछ समय के लिए ठीक हो सकते हैं, पर उदात्त भावनाओं से युक्त गम्भीर समस्याओं पर लिखे गए नाटकों का अपना एक विशिष्ट स्थान है और आज के मानसिक विकास मे रत मानव की भूख इन हलके-फुलके लतीफो तथा समय-असमय के संगीत से तो नहीं मिट सकती।

रेडियो पर संगीत का एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम रहता है और इसलिए मेरे मत से संगीत-रूपकों को रेडियो नाटक का भाग नही माना जाना चाहिए, जब तक वह संगीत कवित्वमय न हो। इसलिए मै जिसे रेडियो नाटक कह सकता हूं वह पद्य-रूपक है। पर इन पद्य-रूपकों में संगीत और पद्य का जो आधार लय अथवा छन्द है उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। इन पद्य-रूपकों में जब तक श्रेष्ठ कविता न हो, तब तक वे निःसार होंगे। यही हास्य रस के सम्बन्व में कहा जा सकता है। हास्य के चुटकले नाटक नहीं है। नाटक में हास्य का काम कहानी तत्व को पुष्ट करना होता है।

रेडियो नाटक सफलता तब प्राप्त कर सकते है जब वे उच्चकोटि के कलाकारों द्वारा लिखे जाएं और विशेष रूप से रेडियो की सीमाओं एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर लिखे जाएं। आज रेडियो द्वारा प्रसारित जो नाटक सुनने को मिलते है, उनमें उन नाटकों की संख्या नगण्य-सी है जो केवल रेडियो के लिए ही लिखे गए हों। जो कुछ थोड़े-से इने-गिने नाटक केवल रेडियो के लिए लिखे गए हैं, वे प्रायः नवीन लेखकों द्वारा लिखे गए है। रेडियो नाटक के सम्बन्ध मे प्रचलित भ्रांत धारणा को दूर करके ही रेडियो नाटक द्वारा एक शक्तिशाली साहित्य का सृजन हो सकता है। यह जो बड़े-बड़े साहित्यिकों के उपन्यासों एवं कहानियों के रेडियो रूपान्तर आते है उनका शिल्प बड़ा शिथिल होता है, क्योंकि रूपान्तर करने वाले लोग एक प्रकार के यांत्रिक शिल्प का सहारा लेते है। नुस्खों के आधार पर वे रूपान्तर तैयार करते है। कलाकार के शिल्प के वहा दर्शन नहीं होते। शिल्प की यांत्रिकता का यह दोष अकेले चलचित्रों का ही अभिशाप नही है, यह रेडियो में भी आ गया है। पर इस दोष का उत्तरदायित्व कम से कम रेडियो नाटक के सम्बन्ध मे अच्छे रेडियो नाटकों के अभाव पर है।

इस स्थान पर रेडियो नाटक के शिल्प के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना आवश्यक होगा। रंगमंच के नाटक की भांति रेडियो नाटक में भी एक कहानी होती है, और वह कहानी पात्रों के कथोपकथन द्वारा कही जाती है। पर रेडियो नाटक के पात्र श्रोताओं के सामने नहीं होते। ये पात्र जो कुछ करते हैं वह श्रोताओं को नही दीखता। पात्रों एवं पात्रों के कर्मो का संकेत केवल ध्वनि से ही देना होता है। कितने पात्र किसी दृश्य में उपस्थित हैं, यह केवल ध्वनि अथवा शब्द संकेत से ही प्रकट किया जा सकता है। सारांश यह कि जो कुछ श्रोता पर प्रकट करना है वह सब ध्वनि अथवा शब्द संकेत से ही प्रकट किया जाना चाहिए। इसलिए रेडियो नाटक प्रस्तुत करने में लेखक के साथ निर्देशक का भी बहुत बड़ा दायित्व है। अच्छा रेडियो नाटक वह है जिसमे निर्देशक को अपने मन से कम से कम करना पड़े, अर्थात लेखक लिखते समय रेडियो की आवश्यकताओं एवं सीमाओं का ध्यान रख सके।

अकसर मुझे ऐसे रेडियो नाटक देखने को मिले हैं जिनमें पन्द्रह, बीस या पच्चीस चरित्र आते हैं। ऐसे रेडियो नाटकों की सफलता अनिश्चित है। श्रोता के मस्तिष्क पर नाटक को समझने में कम से कम बोझ पड़े, केवल शब्दों एवं ध्वनि की सहायता से पूरी कहानी और उस कहानी का प्रत्येक कर्म श्रोता की समझ में आ जाए, यही रेडियो नाटक की सफलता है। और इसलिए प्रायः वही रेडियो नाटक अधिक सफल होते हैं जिनमें कुछ इने-गिने चरित्र हों।

जैसा मैं कह चुका हूं, रेडियो नाटक में प्रधानता शब्दों को मिलती है, और वे शब्द स्पष्ट होने चाहिएं। श्रोता के पास इतना समय नहीं और न उसे इतनी सुविधा है कि वह किसी वाक्य का मनन करके उसे समझे। एक के बाद एक वाक्य चले आते हैं, इसलिए श्रोता की समझ में जो कुछ तत्काल आ गया, वही उसके लिए महत्व की चीज है; जो उसकी समझ में नहीं आया, वह उसके लिए बेकार है। लक्षणा अथवा व्यंजना की अपेक्षा साहित्य का प्रसाद गुण रेडियो नाटक में सबसे अधिक महत्व का है। और इसीलिए मैं रेडियो नाटक के शिल्प को इतना अधिक महत्व देता हूं। साहित्य के इस नवीन रूप का शिल्प बड़ा सीधा-सादा है, लेकिन काफी कठिन और कष्टसाध्य है। एक समर्थ कलाकार ही इस शिल्प में प्राण-प्रतिष्ठा कर सकता है।

रेडियो नाटक के विरोध में एक तर्क मुझे कुछ साहित्यकारों द्वारा यदा-कदा सुनने को मिला है और वह तर्क ऊपरी ढंग से ठीक भी दिखता है। इसलिए उस तर्क का उत्तर भी दे देना मैं इस स्थान पर आवश्यक समझता हूं। कुछ दिनों पहले तक रेडियो नाटक की समय अवधि पन्द्रह मिनट तक से आध घंटा तक रहती थी। अब वह समय अवधि बढ़ा कर एक घंटा तक कर दी गई है। पर रेडियो में तीस मिनट का नाटक आदर्श नाटक माना जाता है।

इस प्रथा के पीछे एक मनोवैज्ञानिक सत्य है जिसे प्रत्येक साहित्यकार को समझ लेना चाहिए। रेडियो नाटक में केवल कथोपकथन चलता है। ऐसी हालत में जो कहानी रंगमंच पर ३० मिनट में कही जाती है, वही कहानी रेडियो नाटक में प्रायः १५-२० मिनट में कह दी जाती है। रेडियो नाटक की नवीन परम्परा स्थापित करने के समय इस शिल्प के उच्च कोटि के न होने के कारण कृत्रिम शिल्प वाले नाटकों का सहारा रेडियो वालों को लेना पड़ा और कृत्रिम शिल्प के नाटक, यदि उनकी समय अवधि अधिक हो, तो श्रोता को अखर जाते हैं। पर आज जब रेडियो नाटक स्थापित हो गया है, रेडियो पर एक घंटे और सवा घंटे के रेडियो नाटकों का स्वागत होगा। साहित्यकारों का यह कहना तो ठीक है कि पन्द्रह या तीस मिनट का रेडियो नाटक एकांकी नाटक की कोटि का होगा, पर मेरे मत में यदि साहित्यकार एक घंटे के रेडियो नाटक लिखें तो वे रंगमंच के दो घंटे के नाटकों की बराबरी के होंगे और उनकी आपत्ति निराधार साबित होगी।

अन्त में मैं रेडियो नाटक के भविष्य पर भी कुछ कहना चाहूंगा। रेडियो दुनिया का सब से सस्ता मनोरंजन है और इस मनोरंजन पर नियन्त्रण होने के कारण यह सबसे स्वस्थ मनोरंजन भी है। मुझे तो ऐसा दीखता है कि निकट भविष्य में रेडियो नाटक चलचित्रों एवं साधारण नाटकों को हटा कर मानव जीवन में अपने को पूर्णतः स्थापित कर लेगा। दिन-भर का थका हुआ आदमी अपने परिवार एवं इष्ट मित्रों के साथ घर पर बैठ कर जब एक नाटक सुन सके तो उसे बाहर जाकर और रुपया खर्च करके अन्य चलचित्रों एवं नाटकों से मनोरंजन करने की आवश्यकता ही क्या है? जैसे-जैसे श्रेष्ठ कला से युक्त नाटकों का प्रसार बढ़ता जाएगा, रेडियो नाटकों के प्रति साधारण जनता की रुचि भी बढ़ती जाएगी।

—दिल्ली से प्रसारित

कहो तो मुश्किल, न कहो तो मुश्किल

मोहनलाल गुप्त



आप कहते है, कुछ कहो। क्या कहे ? कहो तो मुश्किल, न कहो तो मुश्किल। अजीब मुसीबत है, अजीब उलझन है। सांप-छछूदर की गति। इधर कुआ, उधर खाई जैसी लोकोक्तिया मेरे ही जैसे किसी मुसीबत के मारे किंकर्तव्यविमूढ की अनुभूति रही होंगी। मेरी परेशानी का किस्सा, मुसीबत की कहानी आप सुनना चाहते है। कहानी क्या, इसे आत्मकहानी समझिए। घरेलू बाते है, केवल आपसे कह रहा हू। किसी से कहिएगा मत !

परिस्थितिया कभी-कभी आदमी को गधा बना देती है। बस, तो आदमी जब तक दिमाग की लादी ढोता है, अपने को श्रेष्ठ जन्तु समझता है, पर जब दिमाग फेल हो जाता है, तो आदमी बेकार हो जाता है। आगे जाए या पीछे हटे, करे या न करे, करे तो क्या करें—इन प्रश्नो को सुलझाने मे आदमी का दिमाग सौ-सौ चक्कर खा जाता है। परिस्थितियां कभी-कभी दिमाग को ऐसे गड्ढे मे ले जा पटकती है कि आपका नाजुक विचार-यन्त्र लुज-पुज हो जाता है। आप उलझन की खाई में पडे-पडे सोचते है—क्या किया जाए, कुछ समझ मे नही आता !

जीवन-नाटक से परिस्थितियों की विवशता के कुछ मनोरंजक दृश्य यहा प्रस्तुत करना चाहता हू। आपका कोरा मनोरंजन मेरा उद्देश्य नही, आपकी सहानुभूति भी पाने का हकदार हूं। मै जिस बंगले मे किराए पर रहता हूं, उसकी मालकिन श्रीमती करमकला मेरी पत्नी से सखी-भाव रखती है। आपके बगले और मित्रता पर गर्द की परत न जमे, इसलिए आपका प्रायः आगमन होता रहता हे। घिसटती हुई साटी से फर्श की गर्द साफ करती हुई, अपने तीन टिकटो के साथ जब वे घर मे प्रवेश करती है तो तुरन्त खतरे की घण्टी बज उठती है—'कहां हो जी, ओ जी ?' प्ले-बैक सिगर की सुरीली-सी आवाज़ मे आकृष्ट, फिल्मी धुन से भ्रमित मै बाहर निकलता हूं। मकान मालकिन को ड्राइंग रूम मे प्रतिष्ठित पाता हू। दो देवियो के मिलते ही इधर अखण्ड वार्ता का सूत्रपात होता है। फिर तो वह धमाचौकड़ी मचती है कि अपने राम ओलम्पिक के दर्शक बन कर रह जाते है। बरामदे मे घुड़दौड, ड्राइग रूम मे बाक्सिग और मेरे अध्ययन-कक्ष मे कबड्डी का दृश्य विशेष आकर्षक होता है। अकारण शान्ति स्थापित होते देख मै घबराया कि आखिर बात क्या है ? देखा तो प्रिस आफ वेल्स मेरा चश्मा पहने टहल रहे है, दूसरे कुंवर मेरी घड़ी हाथ मे लगा कर समय ठीक कर रहे है, तीसरे युवराज मेरी कलम ले कर भूमिपट्ट पर लिखने का प्रयास कर रहे है। मै अभी सोच ही रहा था कि चश्मा, घडी, कलम मे कौन ज्यादा कीमती है और किसकी रक्षा का प्रयास पहले किया जाए कि हमारी अतिथि महादेवी की दृष्टि अपने चिरजीव की कारगुजारी पर पड़ी।

उन्होंने बाल-डाकुओं से माल बरामद कर मेरे सिपुर्द किया। मैंने दिल कड़ा कर मुआइना किया तो देखा—पेन की निब टूटी थी, क्लिप गायब था, चश्मे का एक शीशा फूटा था और एक कमानी टूटी थी, घड़ी की एक सूई गायब थी, और स्प्रिंग टूटा था। मैंने अपना करम ठोक लिया और श्रीमती करमकला अपने लाड़लों को डांट रही थीं। मेरी श्रीमती ने बुद्धिदान यज्ञ में भाग लेते हुए कहा—'जाने दीजिए, बच्चे हैं।' मैं चुप था। कहता भी क्या ?

आजकल दोस्त मित्र के घर को होटल या रेस्तरां समझते हैं। दिन-दोपहर, रात-बिरात, मौके-बेमौके आ टपके और बस वही चाय की फरमाइश। चाय के साथ नाश्ता भी चाहिए। उन्हें क्या गर्ज़ कि आपके घर में चाय-चीनी है या नहीं ? दूध के स्थायी बन्दोबस्त के लिए आपने घर में अवश्य गाय, बकरी, या भैंस पाल ली होगी। भला रात को बारह बजे चाय के लिए दूध कहां से आएगा ? डिब्बे के दूध से भी काम चल सकता है। पर चाय बनाने वाला भी तो होना चाहिए।

सोई हुई श्रीमती जी को जगा कर चाय बनाने के लिए कहना, जान-बूझ कर कौन ऐसी गलती करेगा ? मूर्ख से मूर्ख पति भी मित्रों की चाय के प्रश्न पर रात को बारह बजे गृहदेवी की निद्रा, अर्थात गृहशांति भंग करने की भूल नहीं करेगा। अच्छा तो यह होगा कि रात के इन अप्रिय अतिथियों को चौराहे के रेस्तरां में ले जा कर चाय पिला दूं। पर डर लगता है प्रस्ताव पेश करते हुए। कमबख्त मार बैठेंगे। अगर कहा जाए कि श्रीमती जी को हलका टेम्परेचर है, तो मित्रों में एक डाक्टर भी है, चिकित्सा के लिए तुरन्त तैयार हो जाएगा। झूठ की नाव ज्यादा दूर तक नहीं चलेगी। क्यों न साफ-साफ कह दिया जाए कि शहर का और श्रीमती जी का तापमान चढ़ा हुआ है। इस समय चाय नहीं बन सकती। अजीब मुसीबत है। कुछ कहो तो मुश्किल, न कहो तो मुश्किल !

महीने के आखिरी सप्ताह में अगर मित्र या मेहमान आपकी जेब पर या घर पर हमला कर बैठे, तो आप क्या करेंगे ? आज के समतावादी युग में मित्र का आपकी जेब पर और मेहमान का आपके घर पर उतना ही अधिकार है जितना आपका। आप न तो किसी मित्र को मना कर सकते हैं, न किसी मेहमान को घर के बाहर निकाल सकते हैं। घर का राशन चुक गया हो तो नया मंगाइए, पैसे न हों तो उधार लाइए, पर मेहमान को ज़रूर खिलाइए। अतिथि से आप नहीं कह सकते कि अब आप घर से चले जाइए। अतिथि परमेश्वर से बड़ा होता है—यह तो आप जानते ही हैं। अब इन अतिथि परमेश्वर से कुछ कहो तो मुश्किल, न कहो तो मुश्किल !

मित्रों से पैसे का प्रेम-भाव तो चलता ही है। आर्थिक सहयोग के अन्दर मैं भी मित्रों को लम्बी रकमें उधार दे चुका हूं। नेकी कर कुएं में डाल। उधार दी हुई रकम कभी वापस आती है ? मित्र विगत दान भूल कर नए अनुदान की मांग पेश कर देते हैं—५० रुपये की बड़ी सख्त ज़रूरत है, पचास नहीं तो पच्चीस, पन्द्रह, दस रुपये तो दे ही सकते हैं। अब उनसे लाख कहिए कि महीने का अन्तिम सप्ताह है, चूहे जेब कतर गए हैं, श्रीमती जी सारा पैसा ले कर पीहर चली गई हैं, घाटे का बजट चल रहा है—लेकिन कौन सुनता है ! बस वही राग, वही रोना। आजकल के ज़माने में उधार ले कर कौन देता है ? केवल बेवकूफ मित्र, मूर्ख व्यापारी उधारखाता खोल कर बैठते हैं। बुद्धिमान मित्र इसका लाभ उठाते हैं। अब यदि किसी मित्र को आवश्यकता पड़ने पर पांच रुपये भी नहीं दे सकता तो हमारी मैत्री पर आंच आ सकती है, और इस नीरस स्वार्थपूर्ण संसार में मित्रों का बहुमूल्य स्नेह मैं खोना भी नहीं चाहता। मेरी मुसीबत आप समझ रहे हैं न ? अब, कुछ कहो तो मुश्किल, न कहो तो मुश्किल !

हमारे दफ्तर में कुछ देवियां काम करती हैं। उनकी वेश-भूषा, रूप-शृंगार के बारे में मुझे कुछ शिकायत है। उनसे तो कहने से रहा। किसी महिला के रूप-रंग, साज-सज्जा की समीक्षा

करना अणु-विस्फोट से कम खतरनाक नही । आपसे कह रहा हूं, उचित जंचे तो उन देवियों तक पहुंचा दीजिएगा । अब कुमारी काजलकाली को ही लीजिए । बहुमूल्य पाउडर का सत्यानाश क्यों करती हैं, समझ में नही आता । हिन्दुस्तान कालो का देश है, फिर काला रंग उतना बुरा भी नही होता । सांवला-सलोना प्यारा श्याम रंग, कृष्णरूप किसे नही भाता ! काले गोरे तो हो नहीं सकते । फिर श्यामपट पर यह चूनाकारी क्यों की जाती है ? मनों पाउडर बेकार क्यों खर्च किया जाता है ? यह बात कुमारी काजलकाली से कौन कहे ?

श्रीमती सूर्यमुखी हमेशा खूनी लाल रंग की साड़ी पहनना पसन्द करती है । दफ्तर में बैठती है तो लगता है जैसे ज्वालामुखी फट पड़ा हो, दफ्तर मे आग लगी हो । अनुराग का रंग लाल होता है, सौभाग्य का प्रतीक सिन्दूर का रंग भी लाल होता है । भगवान श्रीमती का सुहाग सिन्दूर और साड़ी का रंग अमर करें । मुझमे इतना साहस कहां कि श्रीमती से साड़ी का रंग बदलने को कहूं !

मिस अरगण्डी की बरमी पोशाक, कुमारी काकातूआ की अंग्रेजी वेश-भूषा, कुमारी कृष्ण-मुखी की कफन-सी सफेद साडी और श्रीमती गोलचा के भारी-भरकम शरीर पर पंजाबी पोशाक मुझे जरा भी पसन्द नही । नापसन्द इसलिए है—पोशाकें जरा भी फबती नहीं । देवियां अपनी पसन्द को ज्यादा पसन्द करती हैं, दूसरों की रुचि का कम ध्यान रखती है । देवियों और विशेष-कर कुमारिकाओं का वदन, रूप-रंग, बनाव-शृंगार के बारे में कुछ कहना, समीक्षा करना, सुझाव देना खतरे से खाली नही । कुछ कहो तो मुश्किल, न कहो तो मुश्किल !

वेतन मिलते ही हर पत्नीपरायण पति का कर्तव्य है कि वह पत्नी को एक बार बाजार ले जाए । हर पत्नी का अधिकार है कि बाज़ार में पहुंचते ही पहले किसी साड़ी की फैशनेबल दूकान में प्रवेश करे, इच्छानुकूल साड़ियां पसन्द करे और बिल पति के हाथों में थमा दे । इससे आपको पता चल गया होगा कि मै नारी-स्वातन्त्र्य का समर्थक हूं और आर्थिक क्षेत्र में भी नारी के समाना-धिकार का अनुमोदक । साड़ियों की खरीद पर किसी समझदार पति को क्या आपत्ति हो सकती है, पर यदि साड़ियों की पसन्द के बारे मे पति भी अपनी राय दे, तो पत्नी को अनावश्यक हस्तक्षेप, अनधिकार प्रवेश नहीं मानना चाहिए । साड़ियों के दूकानदार और पत्नियो की राय साड़ी की पसन्द के बारे मे सदा मिल जाती है । दूकानदार हवा का रुख देख कर बात करते हैं । उन्हें माल बेचने से मतलब । साड़ी की दूकान में श्रीमती जी की पसन्द की आलोचना का अर्थ है—लम्बा मौन, अनशन, कोप-भवन और ठण्डा चूल्हा । इस संकट का सामना करने के बदले बुद्धिमान पति, पत्नी की खरीदारी में तटस्थ दर्शक की भूमिका पसन्द करता है । पर इसका फल यह होता है कि श्रीमती जी की अलमारियां गहरे लाल, नीले, पीले, हरे रंग की साड़ियों से भरती जा रही हैं । एक बात मै आपको और बता दूं । श्रीमती जी का रंग जरा श्याम वर्ण है । वह चुन कर ऐसी साड़ियां पसन्द करेंगी जो कृष्ण वर्ण से अधिक गाढ़ी हों । कोई सुरुचिपूर्ण पति ऐसी रंगीन पत्नी का पति बनना कैसे पसन्द करेगा ! पर श्रीमती जी से कौन कहे कि आप के शरीर के रंग मे साड़ियों के रंग का मेल नहीं । किसी की शामत आई है क्या ? कहो तो मुश्किल, न कहो तो भी !

पत्नी का रूप-रंग, वेश-भूषा, कार्य-शैली, रसोई—किसी को भी पति द्वारा आलोचना-समीक्षा एक महान गृहयुद्ध का सूत्रपात कर सकती है । पंचशील सिद्धान्तों के अनुसार शांतिप्रिय पति को इन संघर्षों से बचना चाहिए । गृहशांति के लिए गृहदेवी की प्रसन्नता आवश्यक है—किसी भी मूल्य पर आवश्यक है । गृहदेवी अपनी आलोचना नहीं सुन सकती, यह एक कटु सत्य है ।

दाल में नमक नहीं है, सब्जी में मिर्च ज्यादा है, खीर में चीनी गायब है—तो आप भरी सभा में अतिथियों के बीच किसी गृहदेवी का अपमान नही कर सकते । शिष्टाचार अनुमति नही देता ।

आपको दावत के विशिष्ट व्यंजनों की केवल प्रशंसा करनी चाहिए, दावत के बाद गृहदेवी को स्वयं अपनी भूल का पता चल जाएगा। फिर गृहदेवी को पाक-शास्त्र की शिक्षा तो देनी नहीं है। आप केवल दावत के लिए बुलाए गए थे। अच्छा यही है कि आप दावत खा कर घर जाएं। ऐसे अवसर पर कुछ कहो तो मुश्किल, न कहो तो मुश्किल !

मेरी छोटी साली साहिबा संगीत सीख रही हैं। आपका सजल जलद-सा गंभीर स्वर संगीत के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है, पर आपका रियाज़ जारी है, अभ्यास चल रहा है। आपको नृत्य का भी शौक है। भगवान ने आपको कवियों और शायरों द्वारा वंदित कटि नहीं दी, पर फिर भी आप कथक के पीछे हाथ धो कर पड़ी हैं। इस जन्म में तो नहीं पर शायद अगले किसी जन्म में आप कुशल गायिका और नर्तकी बनेंगी, ऐसा मेरा विश्वास है। श्रीमती जी की छोटी बहन से उनकी कला के सम्बन्ध में कुछ कहो तो मुश्किल, न कहो तो मुश्किल ! मैं समझता हूं इन दो मुश्किलों से तो अच्छा है कि एक लम्बा मौन धारण कर लिया जाए। कहिए, आपका क्या खयाल है?

—इलाहाबाद से प्रसारित

कोणार्क का सूर्य मंदिर

भवानी शंकर शुक्ल



भारतवर्ष के दक्षिण-पूर्वी तट पर उड़ीसा राज्य में, पुरी से लगभग १९ मील पूर्वोत्तर, वह स्थान है जहां सूर्य की उपासना का सर्वोत्कृष्ट स्मारक एक सुप्रसिद्ध सूर्य मंदिर (जिसे स्थानीय रूप से सूर्यदिउल कहते हैं) अपने अनेक ध्वस्त मंदिरों के साथ खड़ा है। यह स्थान कोणार्क है। सिकता के समुद्र में खड़े कोणार्क के मंदिरों की दीर्घ छायाएं अपराह्न में बंगाल की खाड़ी में शयन करती हैं। इन खण्डहरों को देख कर शरीर में जो रोमांच होता है, उसका वास्तविक कारण इस स्थान के अतीत की कहानी है। एक वह समय रहा होगा जब कुशल कारीगरों ने अनेक मंदिरों से भरी हुई इस सूर्यपुरी की रचना की थी, और दूसरा आज का समय है जब वही नगरी वीरान पड़ी है। परन्तु इसकी गरिमा अब भी वही है······रोब में कोई कमी नहीं। कौन ऐसा व्यक्ति है जो कोणार्क के इन अवशेषों की रूपधारा में सदा डूबता-उतराता न रहे?

कला यदि मनुष्य की संस्कृति की वाहिका है, तो पत्थर, मिट्टी, विभिन्न धातुओं तथा अन्य अनेक वस्तुओं द्वारा बनी कृतियां किसी समाज के सांस्कृतिक इतिहास को जानने के लिए सबसे अच्छे साधन हैं। इस दृष्टि से मध्यकालीन भारत के पाषाण-निर्मित मंदिर विशेष महत्व रखते हैं, जिनको देख कर तत्कालीन समाज का परिचय आप ही आप मिल जाता है। इनका फैलाव भी दूर तक है—समूचा मध्यवर्ती भारत और उड़ीसा। कोणार्क का सूर्य मंदिर एक ऐसी ही कलाकृति है जिसका समय यद्यपि मध्ययुग के अन्तर्गत ईसा की तेरहवीं शताब्दी में है पर जिसने उक्त युग की सभी कलात्मक और सांस्कृतिक विशेषताओं को सुन्दरता से संजो रखा है।

सूर्योपासना भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है। वेदों में सूर्य के प्रति जो मंत्र कहे गए हैं, वे उनको विष्णु और रुद्र इत्यादि देवताओं से बड़ा सिद्ध करते हैं। ऋग्वेद में विष्णु स्वयं एक साधारण सौर देवता हैं। यद्यपि आगे चल कर उनका पद सबसे ऊंचा हो गया, तथापि सूर्य का महत्व कम न हुआ। इसका कारण सम्भवतः उनकी विराट भौतिक शक्ति थी। उन्हीं के माध्यम से शायद ईश्वर की सत्ता का दर्शन किया गया। इसीलिए उनकी पूजा के लिए मंदिर भी बनने लगे। मन्दसौर, उड़ीसा, गुजरात और कश्मीर आदि के मंदिर इसी बात के प्रमाण हैं। इनमें कुछ तो अपनी सजधज और कलात्मक विशेषताओं के कारण अत्यधिक प्रसिद्ध भी हैं।

उड़ीसा में सूर्य की पूजा वैष्णव सम्प्रदाय के पुनरुत्थान के फलस्वरूप शुरू हुई, जब वहां बौद्ध धर्म समाप्त हो रहा था। वहां का राजवंश सूर्योपासक था। कोणार्क का अप्रतिम सूर्य मंदिर इसी वंश के शासक महाराज नरसिंह देव के शासन-काल में लगभग १२३८ ई० से १२६४ ई० के

बीच बनवाया गया। आज जब कि भारत के प्रायः सभी सूर्य मंदिर या तो पूर्णतः उपलब्ध नहीं हैं या ऐसी दशा में हैं कि उनके वास्तविक रूप की कल्पना करना कठिन है, कोणार्क का मंदिर लुप्त नहीं हुआ है। ध्वस्त होते हुए भी अभी उसमें प्राण हैं और उसकी जीर्णता में भी उसके यौवन का सौन्दर्य झांक रहा है। आंधी, पानी, खारे समुद्र की लहरों और तटवर्ती बालुका के द्वारा बहुत कुछ धराशायी होने के बावजूद भी यह अब भी और मंदिरों की अपेक्षा अधिक अच्छी दशा में है। १६वीं शताब्दी में यह अपनी सुन्दरता से दर्शकों को चमत्कृत कर देता था। आइने-अकबरी का लेखक अबुल फ़ज़ल कहता है: 'जगन्नाथ के मंदिर के निकट ही सूर्य का एक मंदिर है जिसके निर्माण में उड़ीसा का बारह वर्ष तक का सारा राजस्व खर्चा गया। बिना चकित हुए कोई व्यक्ति इसको नहीं देख सकता। इसको चारों ओर से घेरने वाली दीवाल १५० हाथ ऊंची और १६ हाथ मोटी है। मुख्य द्वार के सामने काले पत्थर का एक अठकोना स्तम्भ है जिसकी ऊंचाई ५० गज है। यहां ६ सीढ़ियों की चढ़ाई है, जिसको पार कर एक विस्तृत खुले अहाते में आएंगे जहां पाषाण-निर्मित एक विशाल महराब मिलेगी। उसके ऊपर सूर्य और नक्षत्र उत्कीर्ण हैं। चारों तरफ किनारे पर विभिन्न जातियों के अनेक उपासकों का चित्रण है जिनमें कुछ तो सर पर खड़े हैं, कुछ साष्टांग प्रणाम कर रहे हैं, कुछ हंस और कुछ रो रहे हैं, कुछ व्यग्र और कुछ सचेत हैं तथा उनके साथ गायक और अनेक विचित्र पशु हैं जिनका अस्तित्व केवल कल्पना में ही है।"

कोणार्क के सूर्य मंदिर के रूप की कल्पना भी अद्भुत है। यह मंदिर समस्त जगत को आलोकित करने वाले भगवान सूर्यदेव को पृथ्वी पर सशरीर उतारने का एक वृहद प्रयास था। हिन्दू धर्म-कथाओं में सूर्य को सात घोड़ों से जुते हुए रथ पर बैठ कर विश्व का भ्रमण करते हुए कहा गया है। उड़ीसा के कलाकारों को उनका यही रूप भाया और उन्होंने उसको ही मूर्तिमान बनाने की कोशिश की। फलतः यह मंदिर रथ के रूप में निर्मित किया गया। मुख्य मंदिर, सभा मंडप और दो अन्य कक्ष एक ऐसे ऊंचे चबूतरे पर खड़े है जिसके दाहिने और बाएं लगभग दस-दस फुट व्यास वाले बारह विशाल पहिए खुदे हैं। इनकी कारीगरी गजब की है। रथ को खींचने वाले आगे सात घोड़े है, जो लगता है कि अथक चलते रहने के बाद अब भी रुकने का नाम तक नहीं लेते·····रास ढीली की और ये समूचे रथ को ले उड़े।

मंदिर का सारा प्लान दो परस्पर सम्बन्धित भागों में बंटा है—एक विशाल मंडप जिसकी बाहरी छत में ही आप मंदिर की सबसे बड़ी विशेषता पाएंगे, (इसे स्थानीय रूप से जगमोहन कहते हैं) और मंडप के पीछे उससे भी बड़ा दिउल (मुख्य मंदिर) जिसकी ऊंचाई भूमि से लगभग सवा दो सौ फुट होगी। मुख्य सीढ़ियों के ठीक सामने एक वर्गाकार कक्ष है और इसकी भी छत जगमोहन की-सी है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक छोटे-छोटे पूजागृह भी हैं जो लगभग ८५० फुट लम्बे और ५५० फुट चौड़े अहाते की शोभा सम्पन्न करते हैं।

इस अहाते में घुसते ही आप पाषाणों से निर्मित एक ऐसे लोक में पहुंच जाएंगे जहां सजीव और निर्जीव में भेद करना कठिन होगा। रथ को खींचते हुए इन घोड़ों को देखिए जो गति, शक्ति और सौन्दर्य के प्रतीक हैं। कौन कहेगा कि ये पाषाणों के ढले निरे पुतले हैं? कला से आकृष्ट और चलने के लिए तत्पर ये अश्व मूर्तिमान जीवन हैं। इनसे अलग निकट ही दो अन्य अश्व हैं जिनमें भी जीवन उफना रहा है। प्रसिद्ध कला पारखी हैवेल कहते हैं कि ये भारत के अवशिष्ट शिल्प के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। "अपनी कला-चातुरी से भारतीय शिल्पियों ने यह सिद्ध कर दिया कि वे अपनी अभिव्यक्ति में वही आग और वही संवेग भर सकते हैं जो योरोपीय कला के विजय दर्प के चित्रण में है।"

निकट ही इस विशालकाय हाथी को देखिए जो उस पापात्मा को सूंड से चूर्णित कर रहा है। क्या यह वास्तव में केवल पाषाण है ? पशुओं का ऐसा सजीव, सशक्त और अनुभूतिपूर्ण चित्रण संसार-भर की कला में मिलना दुर्लभ है। लोग कहते है कि पाषाण कठोरता का प्रतीक है। परन्तु कोणार्क मे वह कलाकार के भाव व्यक्त करता है। यहा इन्ही पाषाणों के माध्यम से इस क्षेत्र के रहने वाले लोगों ने अपने भावों को मूर्त रूप दिया हैं; अपनी धार्मिक भावनाओं को सूर्य देवता के चरणों पर चढ़ाया है और अपने अन्तस् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों को सारे संसार के सामने उपस्थित किया है।

कोणार्क का सूर्य मदिर स्थापत्य की नागर शैली का एक उत्तम उदाहरण है ,जिसकी समता उड़ीसा में क्या, भारत में कोई मंदिर नही कर सकता। इस शैली का विकास उड़ीसा मे ईसा की लगभग आठवी शताब्दी में प्रारम्भ हुआ था। ११वी-१२वी शताब्दियों तक इस प्रकार के अनेक सुन्दर मंदिर बन गए। जब कोणार्क का सूर्य मंदिर बनने लगा, तब स्थापत्य की इस महान शैली की अंतिम घड़ियां थी। इस समय के दूसरे मंदिर यही सिद्ध करते है। परन्तु कोणार्क इसका अपवाद है। यहां ह्रास को कौन कहे, विकास का ही उत्कर्ष है, क्योंकि कलाकारों को पिछली कई शताब्दियों का अनुभव था। इस मंदिर का डिजाइन समस्त संसार के लोगों को भारतीय कलाकारों की कला के प्रति ईर्ष्यालु बना देता है।

परन्तु कोणार्क का यह स्वप्निल सूर्य मंदिर जो मध्यकालीन सामन्ती संस्कृति के अमित साधनों को ले कर खड़ा किया गया, कभी वास्तव मे अपनी योजना के अनुसार पूरा बन कर तैयार हो सका, इसमें सन्देह है। श्री पर्सी ब्राउन का कथन है कि "इस मंदिर की कल्पना अद्वितीय प्रतिभा की उपज है। लेकिन इसके ज़बरदस्त रोब ने इसे मूर्त रूप देने में बाधा डाली। उस कल्पना को साकार करना निर्माताओं की शक्ति के बाहर था; इसका बड़प्पन कलाकारों के बड़प्पन से भी अधिक था और इसलिए इसके निर्माण मे वे असफल रहे। तथापि यह एक ऐश्वर्यमयी असफलता थी, क्योंकि कल्पना को अकारण कष्ट दिए बिना ही इसके खण्डहरों में भी देखा जा सकता है कि भारतीय भवन-निर्माताओं की यह परमोत्कृष्ट कृति है।" ब्राउन महोदय पुनः कहते हैं कि "अपनी जीर्ण दशा में यह मंदिर विभिन्न अंगो से टूटी हुई किसी ऐसी प्रसिद्ध प्रतिमा के धड़ की याद दिलाता है जिसका आधा भाग बालू मे गड़ा है। परन्तु वह अब भी श्रेष्ठ कलाकृति के रूप में पहचानी जा सकती है।"

सब कुछ प्रायः देखने और समझने के बावजूद भी अभी हम कोणार्क के मंदिर की उन बारीकियों की ओर ध्यान नही दे पाए जो भारत की मध्ययुगीन संस्कृति का ढिंढोरा पीट रही हैं। मंदिर के चारों ओर प्रदक्षिणा कीजिए और देखिए कि किस प्रकार तिल-भर जगह मे भी अलंकरण किए गए है। यह स्मरण रहे कि माध्यम पाषाण है। परन्तु छेनी का काम भी क्या खूब है कि पाषाण मोम की तरह ढला मालूम पड़ता है। एक ओर जगमोहन और दिउल की छतें क्रमशः ऊपर की ओर पिरामिड की तरह होती चली गई है, और दूसरी ओर उनमें जहां भी सम्भव हुआ गाने-बजाने वालों के दल खडे किए गए जो अपने संगीत से वातावरण मे जान डाल रहे है। परन्तु ये चाहे जितने बोलने के लिए उत्सुक दिखलाई पड़ते हों, इनसे बोलिए मत। आखिर तो ये पाषाण है। मंदिर की बाहरी दीवालों पर एक दूसरा ही संसार बसा है जिसमें अनेक प्रकार के प्राणी है, जिनके पार्श्व मे खड़ा हो कर कोई भी सहृदय व्यक्ति भूल जाता है कि वह पाषाणों के बीच खड़ा है।

कोणार्क में हम जितनी मूर्तियां देखते है वे या तो शिलाखण्डों पर 'रिलीफ़' में खुदी हुई है या उनकी 'राउन्ड' में स्वतन्त्र रचना हुई है। स्वतन्त्र खड़ी घोड़े और हाथियों की मूर्तियो को

हम देख चुके हैं। 'रिलीफ' में पशु, काल्पनिक जीव, वनस्पति तथा देवी और मानवी मूर्तियों को उनके नैसर्गिक वातावरण में प्रस्तुत किया गया है। वैसे फूल, पत्ते, लताएं, वृक्ष अथवा अनेक मुद्राओं में पक्षिणियां, सभी सुन्दर एवं आकर्षक हैं, परन्तु सूर्य के इस पवित्र मंदिर के समस्त बाह्य भाग पर सर्वत्र मैथुन और काम-शास्त्र का चित्रण अनायास दर्शक का ध्यान आकर्षित करता है. यद्यपि मैथुन की विविध मुद्राएं केवल कोणार्क में ही नहीं हैं. भुवनेश्वर और खजूराहो के मंदिरों पर भी उनका महत्वपूर्ण स्थान है; यही नहीं, दक्षिण भारत के मंदिरों में भी वे देखी जा सकती हैं, परन्तु कोणार्क में उनकी बहुलता और विविधता असीम है। यह भी एक महत्वपूर्ण बात है कि मंदिर के भीतरी भाग में कोई ऐसा भौतिक दृश्य नहीं है।

साधारणतया यह समझना कठिन है कि इन दृश्यों का क्या अर्थ है। मंदिरों के साथ इनका क्या सम्बन्ध है? इन मैथुन सम्बन्धी दृश्यों की व्याख्या विद्वानों के लिए पहेली है। उन्होंने प्रायः इनको अश्लील, गन्दा, अशिष्ट, अभद्र, और न जाने क्या-क्या कहा है। ये शब्द आज उन दृश्यों की प्रकृति को भले ही बतलाते हों, परन्तु इससे कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता। मध्यकालीन मंदिरों में सभी जगह ऐसे दृश्यों का प्रदर्शन निरुद्देश्य नहीं हो सकता। एक विद्वान का यह विचार कि देवदासियों के शारीरिक सौन्दर्य का विज्ञापन ही इन दृश्यों का सही उत्तर है, उचित नहीं है। इसी प्रकार कुछ लोगों के अनुसार मंदिर के भीतरी भाग की सरलता और देवत्व से पवित्र वहां के वातावरण के विपरीत बाह्य संसार की भौतिकता और काम प्रधानता को दिखलाने के लिए इन दृश्यों को उत्कीर्ण किया गया है। स्टेला क्रमरिश के विचार से इनका प्रदर्शन "यौन रहस्यवाद" (सेक्स मिस्टिसिज्म) की ओर संकेत करता है जो भारतवर्ष की मध्ययुगीन धार्मिक विचारधारा में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान लिये था। उनके इस विचार की पुष्टि पर्सी ब्राउन के द्वारा भी होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बौद्ध धर्म के ह्रास के पश्चात भारत की धार्मिक चिन्तना अनेक धाराओं में विभक्त हो कर बहने लगी थी। एक ओर शैव और वैष्णव धर्मों का पुनरुत्थान हुआ, और दूसरी ओर शाक्ततन्त्रों का भी इस समय उदय हुआ। तान्त्रिकता देश के सभी भागों में फैली और उसमें अनेक स्थानीय विशेषताएं भी सम्मिलित हुईं। मध्यवर्ती और दक्षिण-पूर्वी भारत में तान्त्रिकता उन सभी यौन-विचारों से बोझिल हो गई जिनकी एक झलक इस युग के अनेक मंदिरों में मिलती है। यह असम्भव नहीं है कि कोणार्क का उक्त सूर्य मंदिर तान्त्रिक सम्प्रदाय का एक प्रमुख केन्द्र रहा हो। जो कुछ भी हो, इन प्रश्नों का समुचित उत्तर देना विद्वानों के लिए अभी शेष है।

—लखनऊ से प्रसारित

अल्पना और भित्ति-चित्र

शम्भूनाथ मिश्र



भारतीय चित्रकला के प्राचीन उल्लेखों में धूलि चित्र का वर्णन मिलता है। उसे आज अल्पना, रंगोली, रंगावलि, रंगावल्लिका, सतिया, सांझी तथा चौक आदि नामों की संज्ञा प्राप्त है। अल्पना के प्रत्येक पारिभाषिक नाम एक ही कला की रूपरेखाएं व्यक्त करते हैं। अल्पना से हमें भारतीय चित्रकला की प्राचीन परम्परा, उसके सिद्धान्त और आधारभूत साधनों का ज्ञान होता है।

कालिदास ने मेघदूत के उत्तरार्द्ध में अलकापुरी का वर्णन करते हुए तत्कालीन धूलि चित्र एवं अल्पना की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। मेघदूत का यक्ष मेघ से कहता है — "हे मेघ ! जिस समय अलकापुरी में मेरे गृहद्वार पर तुम पहुंचोगे, उस समय तुम्हारी बूंदों से मेरे द्वार पर अंकित सुन्दर चित्र सहज ही बिखर जाएंगे। यक्ष ने अपने गृह द्वार पर जिन चित्रों का संकेत किया है, वह अल्पना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। कालिदास के युग में अल्पना मेघ के बूंदों से सहज ही बिखर सकती थी—और आज भी वह बिखर सकती है। भारतीय चित्रकला में यही एक ऐसी प्राचीन कला-परम्परा है जो किसी न किसी प्रकार सुरक्षित है।

अजन्ता के भित्तिचित्रों में तथा विशेष रूप से उस गुफा में छतों के अलंकरण अल्पना सम्बन्धी व्यापक विषयों का परिचय देते हैं। छतों के विशाल वृत्ताकार अलंकरणों के अन्तर्गत देव, यक्ष, गन्धर्व, पशु-पक्षी, जलचर तथा अनेक प्रकार के फल-फूल और पत्तियों के प्रतीक चिह्न मिलते हैं।

अल्पना और अल्पना शैली के चित्रों में कल्पना के मूल विषय तथा उनकी रूपरेखाएं एक-दूसरे से भिन्न नहीं रहीं। इसलिए अजन्ता की छतों के सुन्दर अलंकरण गुप्तकालीन अल्पना पर व्यापक प्रकाश डालते हैं। अल्पना के मूल विषय तथा उसकी रूपरेखाएं बड़ी ही मनोरंजक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से अध्ययन और अनुसन्धान के आधार हैं। अजन्ता की छतों के अलंकरण अल्पना के मूल विषय एवं उसके सिद्धांत की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं।

अल्पना का सबसे प्राचीन विषय स्वस्तिक का चित्रण रहा है। प्राचीन काल में मनुष्य की धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के संग अल्पना की प्रतिष्ठा हुई थी। अल्पना में स्वस्तिक की रूपरेखा दो प्रकार की रही है—एक वर्गाकार और दूसरी वृत्ताकार। विभिन्न अवसरों पर दोनों प्रकार के स्वस्तिक अंकित करने की परम्परा रही है। स्वस्तिक की रूपरेखा दो रेखाओं के संयोग से वृत्ताकार गति का संकेतवाचक चिह्न है। इसके उदाहरण मोहनजोदड़ो की कलाओं में भी मिलते हैं। भगवान बुद्ध के पदचिह्नों का यह प्रमुख प्रतीक रहा है। प्राचीन

रोम और ग्रीक कलाओं में भी स्वस्तिक के चिह्न मिलते हैं। स्वस्तिक एक विश्वव्यापी कलात्मक प्रतीक रहा है और इसके चारों ओर अल्पना एवं अल्पना शैली की चित्रकला का विकास हुआ और अल्पना की विविध शैली का निर्माण हुआ था। स्वस्तिक के उपरान्त अल्पना का एक मुख्य विषय कमल का चित्रण रहा है।

प्राचीन कलाओं में कमल का सर्वोत्तम रूप मौर्य एवं शुंगकालीन मूर्तिकला में मिलता है। सांची, अमरावती और भरहुत की वेदिकाएं कमल के दिव्य रूप हैं। अजन्ता और बाघ गुफा के चित्रों में भी कमल के अतीव सुन्दर तथा विविध अलंकरण मिलते हैं। कमल के इन सुन्दर स्वरूपों के आधार पर हम गुप्तकालीन अल्पना की कल्पना मात्र कर सकते हैं।

अल्पना चित्रों की प्रारम्भिक रचना बिन्दुओं के आधार पर की जाती थी। आड़े और खड़े बिन्दुओं के परस्पर संयोग से त्रिभुज, चतुर्भुज, पंचभुज, षटभुज, सप्तभुज और अष्टभुजी आकृतियां सहज ही निर्मित होती हैं। एक इकाई के चित्रण का नियम और उसकी पुनरावृत्ति सम्पूर्ण धरातल का चित्रण कर सकता है।

अल्पना की पृष्ठभूमि केवल दीवार तथा भूमि तक ही सीमित नहीं रही। मिट्टी के घड़े, कलश, आसन, काष्ठ-पट्टिका, पीढ़े भी भली-भांति अलंकृत किए जाते थे। हाथियों के मस्तक पर अल्पना की सुन्दर आकृतियों की सामाजिक परम्पराएं आज भी मिल सकती हैं। समय के अनुसार अल्पना के विविध रूपों का प्रचार अन्य प्रकार के गृह-शिल्प एवं मण्डन-शिल्प के अन्तर्गत भी हुआ जिनमें अनेक प्रकार के धातु-शिल्प, काष्ठ-शिल्प एवं वस्त्रों के सज्जा-शिल्प तथा अलंकरण हैं।

यह ठीक है कि अल्पना की वास्तविक पृष्ठभूमि धर्मध्वजा के संग ही निर्मित हुई, किन्तु उसकी विविध परम्पराएं तथा रूपरेखाएं सामाजिक-औद्योगिक शिल्प-कला पर भी अपना प्रभाव उत्पन्न किए बिना नहीं रह सकी। अनेक प्रकार के ऐतिहासिक कला-शिल्पों के अन्तर्गत इसके ज्वलंत प्रमाण एवं उदाहरण सुरक्षित हैं।

अल्पना के आधारभूत साधनों में मुख्य-मुख्य रंग तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की चर्चा करना भी स्वाभाविक है। सांस्कृतिक कार्यों में विशेषकर आटा, पिसा चावल अथवा पिसी हल्दी और सिन्दूर का प्रयोग अधिक होता रहा है। इसके अतिरिक्त गेरू, पीली मिट्टी तथा बुकनी अथवा पाउडर के समान अन्य आवश्यक रंगों का प्रयोग अल्पना का साधन रहा है। अल्पना का विशुद्ध रूप केवल उंगलियों से निखरता है। उसके लिए ब्रश, तूलिका आदि की आवश्यकता नहीं रही। दक्षिण भारत में अल्पना के लिए आटे या चावल के चूर्ण की अपेक्षा पत्थर का चूर्ण प्रयोग करने की प्रथा है।

इधर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय कला का एक नया आन्दोलन परिचालित हुआ और इस आन्दोलन में अल्पना एक मुख्य विषय रहा है। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय डा० अवनीन्द्र नाथ ठाकुर ने बंगाल की ग्रामीण एवं गृहदेवियों द्वारा अंकित कई सौ अल्पना चित्रों का संग्रह किया था और इंडियन सोसाइटी आफ ओरिएन्टल आर्ट ने उसे प्रकाशित किया था। उसे देखने से यह जान पड़ता है कि अल्पना की एक लोक शैली स्वतंत्र रूप से नारी व्रत के द्वारा प्रचलित थी। आज भी हमें उत्तर भारत एवं राजस्थान आदि राज्यों में स्वाभाविक अल्पना की लोक शैली की परम्पराएं मिल सकती हैं। अल्पना की यह परम्परा मध्यकालीन शास्त्रोक्त पद्धति से सर्वथा भिन्न रही है। अल्पना की इस स्वतंत्र परम्परा में भी स्वस्तिक, कमल, शंख, मछली, हंस, मयूर, उलूक आदि के चित्रों की अंकन परम्पराएं ह। इस परम्परा में प्राकृतिक दृष्टि से चित्रों की रेखाएं तथा अंकित विषय सजीव और भावात्मक जान पड़ते हैं।

दक्षिण प्रदेशों में अल्पना का प्रचार शिक्षा क्षेत्रों में भी हो गया है और विशेष रूप से कन्या पाठशालाओं का एक मुख्य विषय है। उत्तर प्रदेश की कन्या पाठशालाओं में भी अल्पना एक मुख्य एवं अनिवार्य विषय के रूप में प्रचलित हो गया है। इसलिए भविष्य में यथासम्भव सांस्कृतिक भावना के विकास की तथा उद्योग-धंधों में शिल्प कला की उन्नति की विशेष आशाएं हैं।

कन्या पाठशालाओं में अल्पना के द्वारा वस्त्रों में डिज़ाइन निर्मित करने की तथा कढ़ाई कला की प्रेरणा मिलती है। इस दृष्टि से आजकल अल्पना धार्मिक प्रतिबन्धों की अपेक्षा व्यापक क्षेत्र ग्रहण कर रही है।

अल्पना की वर्तमान रूप-रेखाओं में प्राचीन मूर्तिकला, चित्रकला तथा अन्य प्राचीन प्रतीकों से प्रेरणाएं ग्रहण की जा रही हैं। उनका प्रयोग सांस्कृतिक अलंकरण की अपेक्षा उस शैली के चित्र साधारण कुटीर उद्योगों तथा हैण्डलूम के वस्त्रों से ले कर टैक्सटाइल के वस्त्रों तक समान रूप से प्रचलित हो गया है। अल्पना का क्षेत्र केवल पूजा-पाठ तक ही सीमित नहीं रह गया, बल्कि आज उससे सम्पूर्ण जीवन में सांस्कृतिक भावनाएं व्याप्त हो रही हैं। अल्पना के नए प्रयोग में स्टेंसिल का उपयोग एक पृथक विषय रहा है। मुग़ल एवं राजस्थानी चित्रकारों में इसके लिए चरबा शब्द प्रचलित था। इसे तैयार करने के लिए कागज़ पर सम्पूर्ण आकृति की रूपरेखा अंकित कर लेते हैं। इसके पश्चात सुई अथवा आलपीन से प्रत्येक रेखा सूक्ष्म रूप से छिद्रों द्वारा प्रस्तुत की जाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण चित्र छेद कर रख दिया जाता है और जहां आवश्यकता होती है वहां उस कागज़ को रख कर उस पर काले या लाल रंग की पोटली चलाई जाती है और छिद्रों के द्वारा सम्पूर्ण चित्र की मूल आकृति उतर आती है। इसके उपरांत उसके रंग इत्यादि भरते हैं। दक्षिण प्रदेशों में अल्पना के लिए इस प्रकार के स्टेंसिल अधिक प्रचलित हैं और वे अधिकतर टीन के बनते हैं। स्टेंसिल के अल्पना चित्रित करने के लिए कला, कुशलता, अभ्यास तथा कल्पना द्वारा अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं होती।

स्टेंसिल की यह प्रथा केवल अल्पना तक ही सीमित नहीं। भित्ति-चित्रों के निर्माण में इसका विशेष प्रयोग किया जाता है। राजस्थानी एवं मुग़ल चित्रकला में चरबा तथा स्टेंसिल की परम्परा का प्रयोग चित्रकला का मुख्य अंग रहा है।

अजन्ता के चित्रों में छतों के डिज़ाइन तथा अलंकरण में स्टेंसिल की परम्परा का स्पष्ट संकेत मिलता है। मध्य एशिया के भित्ति-चित्रों में भी स्टेंसिल का प्रयोग अत्यधिक किया गया है। भित्ति-चित्रों में स्टेंसिल का प्रयोग प्रारम्भिक रेखाचित्रों के विचार से अत्यन्त आवश्यक रहा है। मध्यकालीन राजस्थानी भित्ति-चित्रों में इसका प्रयोग किया गया है। कुछ विशेष प्रकार के भित्ति-चित्र केवल अभ्यास के द्वारा, कुछ सामाजिक कारीगर तथा कुम्हारों द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं। इस प्रकार के भित्ति-चित्र काशी की गलियों में मिलते हैं। उनके विषयों में हाथी, घोड़े, सिपाही तथा गणेश आदि होते हैं।

प्राचीन काल में भवन-निर्माण के संग भित्ति-चित्रों का निर्माण भी एक आवश्यक अंग था। राजस्थान के प्राचीन मंदिर, दुर्ग तथा प्राचीन महलों में इसके उदाहरण मिलते हैं। जयपुर में भवन निर्माण तथा उसके संग भित्ति-चित्रों की परम्परा आज भी प्रचलित है। वहां के भित्ति-चित्रों के निर्माण की एक विशेष प्रथा रही है, जिसे आरास कहते हैं। आरास एक विशेष प्रकार की दीवार का नाम है। उस दीवार में इतनी चमक उत्पन्न की जाती थी कि उसमें मनुष्य अपनी आकृति देख सकता है। इस प्रकार की दीवार संगमरमर के चूर्ण तथा चूने के प्रयोग से तैयार होती है और गीली दीवार पर ही स्टेंसिल की सहायता से चित्रों की रूपरेखाएं उतार ली जाती थीं और उनमें रंग लगाया जाता था। उन रंगों के धरातल इस प्रकार घोटे जाते थे कि वे दीवार के संग स्थायी

रूप से जम जाते थे। जयपुर की इस भित्ति-चित्र-परम्परा के प्रयोग शान्तिनिकेतन में नन्दलाल बसु ने किए थे। लखनऊ आर्ट स्कूल में असित कुमार हाल्दार ने भी प्रयोग किया था। भित्ति-चित्रों की यह कला जयपुर के गृहशिल्पी एवं राजगीरों की जीविका का मुख्य साधन था। आजकल इसकी प्रथा उठ गई है। वहां के गृहशिल्पी इसे भूल गए हैं। अब केवल कुछ फूल-पत्ती तथा बार्डर एवं कुछ रेखाएं ही शेष रह गई हैं।

अंग्रेजी में आजकल भित्तिचित्र की इस कला को फ्रेस्को कहते हैं। फ्रेस्को और वाल पेंटिंग भित्ति-चित्रों के दो प्रचलित नाम हैं। दोनों में परस्पर अन्तर रहा है। फ्रेस्को केवल गीली दीवार पर संलिप्त रूप से निर्मित किया जाता है। वाल पेंटिंग कागज़ के चित्रपट की भांति अंकित करने की कला है। मध्य एशिया, अजन्ता, बाघ गुफा के भित्ति-चित्र वाल पेंटिंग की कलाएं हैं, किन्तु लोग उन्हें भी फ्रेस्को कहते हैं। वस्तुतः वे फ्रेस्को नहीं हैं। गीली दीवारों पर उन्हें अंकित नहीं किया गया है। अतएव भित्ति-चित्रों का टेकनिकल भेद से सार्वजनिक जीवन में कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। आज का सार्वजनिक जीवन दोनों प्रकार के भित्ति-चित्रों से वंचित है। उसके स्थान पर दीवारों पर छपे चित्र, पोस्टर तथा बड़े-बड़े चित्रमय साइनबोर्ड चल गए हैं।

विज्ञान के आधुनिक साधन इतने सुलभ हो गए हैं कि आज हमें गुप्तकालीन एवं मध्य-कालीन भारत के सदृश्य भित्ति-चित्रों की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। हमारी सामाजिक परिस्थितियां नित्य प्रति परिवर्तनशील हैं। किन्तु इन परिवर्तनों की विषम परिस्थितियों के मध्य भी हमारे देश के कलाकार प्राचीन भित्ति-चित्र परम्परा की नवीन पुनरावृत्ति के लिए उद्योग कर रहे हैं। इस नवीन उद्योग में राष्ट्रीय भावनाएं सन्निहित हैं। भित्ति-चित्रों की नई परम्पराएं ग्रामीण जीवन सम्बन्धी विषयों को महत्व दे रही हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रागैतिहासिक भित्ति-चित्रों के पश्चात आर्य एवं आर्योत्तर जातियों में अल्पना एवं भित्ति-चित्रों की सांस्कृतिक रूपरेखाओं का निर्माण गांवों में ही हुआ था। कच्ची भूमि तथा दीवारों का इतिहास आज हमें अज्ञात है। जीवन में प्रतिदिन नवीन शक्ति-प्रदायिनी अल्पना की परम्परा कितने युगों से परिचालित है, इसकी कल्पना कठिन है। यह एक विशुद्ध ग्रामीण कला की परम्परा रही है। इसके सहारे ग्रामीण शिल्पकला में सदैव श्रीवृद्धि हुई है और इसी दृष्टि से अल्पना एवं भित्ति-चित्रों की नई परम्पराएं अनात ही गांवों की ओर बढ़ रही हैं।

—इलाहाबाद से प्रसारित

ज्योतिकिरण—१. शंकराचार्य

डा० मथुरा लाल शर्मा



स्वामी शंकराचार्य भारतवर्ष के विद्वत् समाज में एक जगमगाते हुए रत्न हैं। पिछले १२०० वर्ष में बुद्धि, प्रतिभा और पांडित्य मे उनकी तुलना करने वाला दूसरा विद्वान उत्पन्न नहीं हुआ। शंकराचार्य ने उत्तर मीमांसा का बड़ा अद्भुत भाष्य करके वेदान्त दर्शन की स्थापना की और संसार में अपना नाम अमर कर दिया। उत्तर भारत में अब भी कोई पंडित तब तक विद्वानों की श्रेणी में नहीं माना जाता, जब तक उसको वेदान्त दर्शन का और विशेषकर शंकर भाष्य का ज्ञान न हो। दार्शनिक लोग शंकराचार्य को संसार के इने-गिने प्रसिद्ध दार्शनिक पंडितों में गिनते हैं। वास्तव में स्वामी शंकराचार्य भारतवर्ष की एक प्रमुख ज्योति-किरण हैं।

स्वामी शंकराचार्य का जन्म दक्षिण भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर स्थित कोंकण प्रदेश में हुआ था। उनका जन्म संवत ८४४ विक्रम, अर्थात ७८८ ईस्वी माना जाता है। उनके माता-पिता नम्बूदरी ब्राह्मण थे। शंकराचार्य के बाल्यकाल में ही उनके पिता का देहान्त हो गया था। इसलिए शंकराचार्य का लालन-पालन उनकी विधवा माता ने किया था। वह बचपन से ही बड़े विचारवान और प्रतिभावान थे। उनके गंभीर विचारों को सुन कर लोग दंग रह जाया करते थे। उनकी मां को आभास हो गया था कि शंकर गृहस्थ धर्म का पालन नहीं करेगा, पर साथ ही उसको इस बात का हर्ष था कि उसका बच्चा संसार में कोई महापुरुष बनने वाला है। शंकर छः-सात वर्ष के थे, तभी उन्होंने अपनी माता से विदा ले ली और संन्यास धारण कर लिया। इससे तत्कालीन हिन्दू समाज चकित हो गया। उनकी प्रतिभा अद्भुत रूप से चमकने लगी। चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु स ही वह अपनी गहन शास्त्र गति से और अलौकिक वक्तृत्व शक्ति से जगत को चकित करने लगे।

जब शंकराचार्य ने जन्म धारण किया, तब भारतवर्ष की राजनीतिक अवस्था बड़ी शोचनीय थी। सारा देश छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। उत्तर भारत में कश्मीर, नेपाल, कन्नौज, बिहार और बंग देश के राज्य प्रसिद्ध थे। नीचे की तरफ राजस्थान में गुहिलौतों का राज्य स्थापित हो चुका था और चौहानों का उदय हो रहा था। मालवा में परमार वंश का राज्य स्थापित हुआ ही था। दक्षिण में राष्ट्रकूट अच्छे शक्तिशाली थे। परन्तु इनमें कोई भी राज्य इतना शक्तिशाली नहीं था कि शेष राज्यों को अपने अधीन कर सके। उत्तर के राज्यों में परस्पर युद्ध और कलह चला करता था। कन्नौज को पश्चिम से कश्मीर ने और पूर्व से पालवंशीय राजाओं ने दबा रखा था। चौहान और गुहिलौत राजपूत अभी शक्तिशाली नहीं हुए थे, लेकिन इनका भी छोटे-छोटे राज्यों से संघर्ष चला करता था। इस प्रकार सम्पूर्ण देश का राजनीतिक

जीवन छिन्न-भिन्न था। कोई ऐसी केन्द्रीय शक्ति नही थी जो समस्त देश का शासन-सूत्र अपने हाथ में ले सके।

जैसी दशा राजनीतिक क्षेत्र में थी, वैसी ही दशा धार्मिक क्षेत्र में भी थी। उस समय प्रमुख धर्म थे—वैष्णव, शैव, बौद्ध और जैन। परन्तु प्रत्येक धर्म में अनेक सम्प्रदाय थे। बौद्ध धर्म महायान और हीनयान दो सम्प्रदायों में विभक्त था। जैन धर्म के मुख्य सम्प्रदाय थे दिगम्बर और श्वेताम्बर। इसी प्रकार शैवों और वैष्णवों में भी कितने ही सम्प्रदाय थे। बौद्ध धर्म जीवित अवश्य था परन्तु सिसकियां ले रहा था। देश में सैकड़ों बौद्ध विहार थे जिनमें हज़ारों बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों का निवास था। दक्षिण भारत में जैन सम्प्रदाय प्रचलित था। साथ ही शैवों का भी बड़ा जोर था। तक्षशिला का विश्वविद्यालय हूणों के आक्रमणों के कारण नष्ट हो चुका था। परन्तु नालन्दा का विश्वविद्यालय अभी जीवित और सशक्त था। इसमें हज़ारों विद्यार्थी विविध विषयों का अध्ययन करते थे और भारत के कितने ही प्रसिद्ध अग्रगण्य विद्वान यहां अध्यापक थे। इस विश्वविद्यालय में मुख्यत: बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन और अध्यापन होता था, परन्तु व्याकरण, ज्योतिष, साहित्य आदि विषयों की उपेक्षा नहीं की जाती थी।

ऐसी परिस्थिति में स्वामी शंकराचार्य संन्यास धारण करके अपनी प्रखर बुद्धि और अद्भुत प्रतिभा के साथ कर्तव्य-क्षेत्र में उतरे। शंकर ने सबसे पहले उत्तर मीमांसा, अर्थात वेदान्त सूत्रों का भाष्य किया। इस ग्रन्थ में शंकराचार्य ने जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया और यह वतलाया कि ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य तत्व का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जो कुछ हमको नानत्व दिखाई देता है, इसका कारण है हमारे जन्म-जन्मान्तर का अज्ञान। इस अज्ञान को शंकर माया कहते थे। इस अर्थ में स्वामी शंकराचार्य ने ही इस शब्द का उपयोग किया है। स्वामी शंकराचार्य के मत ने, अर्थात ब्रह्म और आत्मा के एकत्व ने, देश में हलचल मचा दी। बौद्ध जगत क्षुब्ध हो गया और पौराणिक पंडित भी उनके पांडित्य का लोहा मानने लगे। फिर शंकर ने श्रीमद्भागवत गीता का भाष्य किया। इस भाष्य में भी उन्होंने ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन किया। तदन्तर शंकराचार्य ने ११ प्रसिद्ध और प्रमुख उपनिषदों का भाष्य लिखा। इसमें भी उन्होंने अपने मत की पुष्टि की। शंकराचार्य के समय से ही ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद तीनों प्रस्थानत्रयी कहलाने लगे। शंकराचार्य का संस्कृत अध्ययन परिमार्जित है। उनकी शैली में अद्भुत ओज है और उनका प्रतिपादन पांडित्यपूर्ण है। शंकराचार्य के जीवन-काल में उनकी तुलना करने वाला भारतवर्ष में कोई दूसरा पंडित नही था। देश के समस्त विद्वान-मंडल पर उनकी धाक थी। उनके गहन ज्ञान के कारण पंडित लोग उनको शंकर का अवतार मानने लगे थे। शंकर के समकालीन कुमारिल भट्ट थे। वह भी वेदों के अद्भुत पंडित थे। उनका मुख्य ग्रन्थ श्लोकवार्तिक है। इस में उन्होंने वैदिक धर्म का प्रतिपादन किया है। कुमारिल भट्ट के साले पंडित मडन मिश्र भी बड़े उद्भट पंडित माने जाते थे। उनकी स्त्री भी उस समय की बड़ी विदुषी थी। परन्तु इन सबमें अग्रगण्य स्थान स्वामी शंकराचार्य का था।

उस समय उत्तर भारत में महायान धर्म के शून्यवाद दर्शन का बड़ा प्रचार था। उसके अनुयायी कहते थे कि शून्य के अतिरिक्त कोई वस्तु नही है। यह जगत शून्य है, जीवन शून्य है, मनुष्य जाति शून्य है—यहां तक कि इस दर्शन का प्रतिपादक और लेखक अपने आपको भी शून्य मानता है और कहता है कि मैं लिख रहा हूं, इसकी भी मुझे प्रतीति नहीं होती। मैं भी तो शून्य हूं। इस सिद्धांत को अर्जुनायन, आसंग, दिग्नाग आदि बौद्ध विद्वानों ने ऐसे प्रबल तर्क और युक्तियों के साथ उपस्थित किया था कि पौराणिक धर्म उनके सामने नही टिक सकता था। अत: बौद्ध दर्शन का ही उत्तर भारत में आधिपत्य था। दक्षिण भारत में भी शून्यवाद का बहुत प्रचार था। शून्यवाद

के प्रतिपादक और प्रचारक महापंडित अर्जुनायन ने दक्षिण में ही जन्म धारण किया था। साख्य दर्शन के अतिरिक्त शेष पांच वैदिक दर्शन शून्यवाद के सामने फीके पडते जाते थे। वेदों और पुराणों का धर्म प्रचलित अवश्य था परन्तु उसकी पुष्टि पांडित्य से नही, परम्परा से हो रही थी। पांडित्य और विद्वत्व बौद्ध धर्म मे ही माना जाता था और नालन्दा विश्वविद्यालय तथा अन्य कई विहार उन लोगों के गढ़ थे। वे ही विद्या और ज्ञान के केन्द्र समझे जाते थे। महायान धर्म इस समय केवल भारतवर्ष मे ही नही किन्तु अफगानिस्तान, पश्चिमी तुर्किस्तान, मलय अन्तरीप, ब्रह्मा, कम्बोडिया, यव द्वीप, बोर्नियो और फिलिपाइन द्वीपों का भी धर्म बन गया था। तिब्बत, चीन और जापान मे वह पहले ही पहुंच चुका था। ऐसा मालूम होता है कि उत्तर अमेरिका के उत्तरी भाग मे भी शायद इसका प्रवेश हो गया हो। इस सार्वदेशिकता के कारण महायान धर्म की दृष्टि अब भारतीय दृष्टि नहीं थी। उसका दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय बनता जाता था। उसमे विदेशी देव-देवियां, विचारधाराएं, वेश-भूषा और कला दाखिल हो रहे थे। यह प्रवृत्ति भारतवर्ष की राजनीति और संस्कृति के लिए बड़ी घातक थी। भारतवर्ष का तत्कालीन छिन्न-भिन्न राजनीतिक जीवन इतना भयप्रद नही था जितना उस समय का धार्मिक वातावरण। प्राचीन संस्कृत भाषा और धर्म के उपासको को यह चिन्ता थी कि भारतीय संस्कृति को कही यह सार्वदेशिकता निगल न जाए। परन्तु इस स्थिति को सुधारने के लिए कोई आगे नही बढ़ता था। इस काम के लिए न किसी नरेश में साहस था और न किसी पंडित में हौसला। यह काम सबसे पहले शंकराचार्य ने अपने हाथ में लिया। वह इसके लिए अत्यन्त उपयुक्त और योग्य थे। उनके प्रखर पाडित्य के सामने कोई नही टिक सकता था। उनका त्याग अनुपम और अपूर्व था। उनके वक्तव्य में आश्चर्य-जनक आकर्षण था। उनका तर्क तलवार के समान तीक्ष्ण था।

शंकराचार्य ने अपने वेदान्त भाष्य मे बौद्ध के चार सम्प्रदायों का खंडन किया है। इनमें दो सम्प्रदाय अर्थात स्वैतांत्रिक और वैभाषिक हीनयान की शाखाएं हैं और दो—विज्ञानवाद और शून्यवाद—महायान के उप-सम्प्रदाय है। ये चारों ही दार्शनिक मत है और चारों के सिद्धान्त तर्क पर खड़े किए गए हैं। शंकराचार्य ने इन सबका खंडन किया परन्तु विशेप जोर दिया विज्ञानवाद और शून्यवाद पर। शून्यवाद पर तो उन्होंने अपनी सम्पूर्ण विद्वत्ता केन्द्रीभूत कर दी। शून्यवाद का खंडन करके उसके स्थान पर शंकराचार्य ने ब्रह्मवाद को स्थापित किया। शून्यवादी कहते है कि सब शून्य ही शून्य है और शंकराचार्य कहते थे कि सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। शून्यवादी शून्य के अतिरिक्त और कुछ नही मानते थे। शंकराचार्य ने सिद्ध किया कि ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी तत्व या पदार्थ का अस्तित्व नही मानना चाहिए। शंकराचार्य का तर्क और युक्तियां भारत की प्राचीन पर-म्परा के अनुकूल थी और वह अपने प्रबल तर्क के द्वारा वेदों और शास्त्रों के मत का मंडन और पोषण करते थे। इसलिए भारतीय जनता ने उनके ब्रह्मवाद का बड़े साहस और उल्लास के साथ स्वागत किया और शून्यवाद का पक्ष शिथिल होने लगा।

शंकर दिग्विजय नामक ग्रंथ में यह बतलाया गया है कि शंकर ने बौद्ध धर्म का खंडन किया और वेद शास्त्र प्रतिपादक धर्म की स्थापना की। ग्रंथकर्ता तो यहां तक कहता है कि उनके प्रयास से बौद्ध धर्म शिथिल हो गया। परन्तु यह केवल काव्य है। बारहवी शताब्दी के अन्त मे जब मोहम्मद बख्तियार खिलजी ने बिहार पर आक्रमण किया, तो नालन्दा विश्वविद्यालय सजीव और सबल था और हजारों बौद्ध भिक्षु वहा पर शिक्षा प्राप्त करते थे।

शंकर से पहले वेदान्त सूत्रों का और उपनिषद व गीता का ऐसा भाष्य कभी नही हुआ था जिसमे ब्रह्म और आत्मा की एकता का प्रतिपादन किया गया हो। ब्रह्म और आत्मा का एकत्व वास्तव मे स्वामी शंकराचार्य की ही देन है। उन्होंने उत्तर मीमासा और उपनिषद का

आश्रय लेकर अपने सिद्धांत की पुष्टि की है, परन्तु इस सिद्धांत पर उनके व्यक्तिगत विचारों की इतनी गहरी छाप है कि यह सिद्धांत शंकर वेदान्त कहलाने लगा। स्वामी रामानुजाचार्य ने शंकर का खंडन किया है और ब्रह्म और आत्मा को एक नहीं माना है। तीव्र आलोचना करते हुए उन्होंने शंकर के लिए यहां तक कह डाला है कि वह प्रच्छन्न, अर्थात छिपे हुए, बुद्ध थे। शंकर के लिए यह कहना तो युक्तिसंगत नहीं है कि वह छिपे हुए बुद्ध थे, परन्तु यह बात अवश्य है कि उनके ब्रह्म में और बौद्धों के शून्यवाद में बहुत अधिक अन्तर नहीं है। शून्यवादी कहते थे कि जो कुछ है वह शून्य है और शंकर ने कहा है कि जो कुछ है वह ब्रह्म है। शून्यवादी मानते थे कि शून्य की कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। वह अनिर्वचनीय है। उसका वर्णन नेति नेति कह कर किया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि शून्य की व्याख्या और ब्रह्म की व्याख्या में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि शंकर का वेदान्त बौद्ध के शून्यवाद के बहुत निकट है। यह स्वाभाविक भी है। शंकर ने ऐसी बात ही कही थी जो महायान से बहुत मिलती-जुलती थी। भेद इतना रहा कि शंकर ने अपने सिद्धान्तों का सम्बन्ध उत्तर मीमांसा, गीता, उपनिषद और वेदों से मिला दिया और उनका सिद्धांत आस्तिकवाद प्रतीत हुआ। परन्तु नागार्जुन और दूसरे शून्यवादी बौद्ध विद्वानों के शून्यवाद में यह आकर्षण नहीं था। इसलिए वह शुष्क प्रतीत होने लगा। इतना ही नहीं, लोग शून्यवाद को निराशावाद मानने लगे परन्तु वेदान्त मानो एक नई आशा का सन्देश ले कर आया।

शंकराचार्य वेदान्त की दृष्टि से तो शून्यवाद के समीप बैठे हुए जान पड़ते हैं, परन्तु व्यवहार में उन्होंने लोक धर्म का उपदेश दिया। उनके द्वारा या उनके प्रभाव से बद्रीनारायण, द्वारिका, जगदीशपुरी और रामेश्वरम की यात्राएं स्थापित हुईं, जिनके कारण भारत में सांस्कृतिक एकता की स्थापना में बड़ी सहायता मिली। इसी प्रकार शंकराचार्य ने अपने चार मठ स्थापित किए। इससे उनके सम्प्रदाय को बड़ा बल प्राप्त हुआ और भारतवर्ष में उनके वेदान्त ने स्थायी संस्था का रूप धारण कर लिया। सन् ८०० से अब तक दर्शन के क्षेत्र में शंकराचार्य के वेदान्त का आधिपत्य बना हुआ है और स्वामी शंकराचार्य का इस क्षेत्र में इस समय भी उतना ही ऊंचा आसन है जितना १२०० वर्ष पहले था। उनके तीनों भाष्य प्रस्थानत्रयी के प्रमुख भाष्य माने जाते हैं। इसी का पठन-पाठन सबसे अधिक प्रचलित है। इनके भाष्य के बिना वेदान्त या उपनिषद के तत्वों में गति नहीं होती। शंकराचार्य के वेदान्त ने भारतीय संस्कृति की परम्परा पुनः स्थापित की और शून्यवाद की धारा को कुंठित करके उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार मन्द कर दिया। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इतना नहीं माना जा सकता कि शंकराचार्य के कारण ही बौद्ध धर्म भारत से विलीन हुआ। केवल इतना माना जा सकता है कि उनका वेदान्त भी इसकी विलीनता के अनेक कारणों में से एक मुख्य कारण था। शंकराचार्य ने उपरोक्त तीन भाष्यों के अतिरिक्त अन्य कई ग्रन्थों की रचना की है। उनमें विवेक चूड़ामणि, सिद्धान्त विन्दु स्तोत्र, और सप्त श्लोक आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। इन ग्रंथों में भी बड़ी ललित भाषा में उन्होंने अपने वेदान्त का प्रतिपादन किया है।

शंकराचार्य को अपने वेदान्त के प्रचार में तो नहीं, परन्तु वैदिक धर्म की पुनःस्थापना में और उसको संगठित करने में कुमारिल भट्ट से बड़ी सहायता मिली। मंडन मिश्र के साथ शंकर का बहुत बड़ा शास्त्रार्थ हुआ था। इसका उल्लेख शंकर दिग्विजय में किया गया है। नवीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय संस्कृति को जीवित और जागृत करने के लिए शंकराचार्य जैसे विद्वान की बड़ी आवश्यकता थी। अपने प्रकाण्ड पांडित्य, तीव्र त्याग और अखण्ड ब्रह्मचर्य के द्वारा उन्होंने ऋषियों और मुनियों द्वारा प्रतिपादित धर्म की बड़ी रक्षा की और ज्ञान की ऐसी ज्योति

जागृत की जो गत बारह सदियों से ज्यों की त्यों चमक रही है। समय-समय पर इसने अपना रंग और स्वरूप अवश्य बदला है, परन्तु इसका प्रकाश इस समय भी उतना ही प्रबल है जितना शंकर के समय मे था। इसलिए स्वामी शंकराचार्य भारतवर्ष के ज्ञान-क्षेत्र मे महाज्योति की किरण है। स्वामी शंकराचार्य का देहान्त ३२ वर्ष की अवस्था मे ही हो गया। यह उसकी लीला है कि वह इस धरणी-तल पर किसी व्यक्ति को सम्पूर्ण गुणों से अलकृत करके चमकाता है और फिर एकाएक उसको मिटा भी देता है।

—जयपुर से प्रसारित

ज्योतिकिरण—२. रामानुजाचार्य

डा० श्रीकृष्ण सक्सेना



वदान्त की विविध व्याख्याओ मे से शकर के बाद वेदान्त सूत्रो की सबसे प्रसिद्ध व्याख्या रामानुजाचार्य की विशिष्टाद्वैत व्याख्या है। आप पूछ सकते है कि अपने दर्शन-साहित्य मे आखिर यह व्याख्याओ की प्रथा क्यों है? विदेशी दर्शन-साहित्य मे भिन्न-भिन्न दार्शनिको की अपनी-अपनी अलग फिलासफी होती है जिनकी अलग-अलग व्याख्या करने की आवश्यकता नही होती। फिर अपने दर्शन-साहित्य मे ऐसा क्यो है? इसका उत्तर यह है कि हमारा दर्शन-साहित्य बहुत पुराना है और सैकडो, बल्कि हजारों वर्ष की गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा यह जबानी याददाश्त मे चल रहा था। इसीलिए यह साहित्य छोटे-छोटे सूत्रो के रूप मे है जो याद रखने के लिए बनाए गए थे। और यही कारण है कि आज हमे उनके ठीक अर्थ समझने के लिए उनकी व्याख्याओ की आवश्यकता पडती है।

इन सूत्र-साहित्यों मे हमारा एक बहुत दार्शनिक हिस्सा ब्रह्म सूत्र, शारीरिक सूत्र अथवा बादरायण सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है, जिसकी व्याख्याएं शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, तथा वल्लभाचार्य इत्यादि अन्य आचार्यो ने अपने-अपने मत के अनुसार की। अब इनमें से कौन सी व्याख्या इस अर्थ मे ठीक है कि वही अर्थ सूत्रकार का अर्थ है—कहना मुश्किल है। शायद यह फैसला तो केवल दार्शनिक या व्याख्याकार के अपने स्वभाव और रुचि के ऊपर ही निर्भर है, क्योकि हमारे मूल साहित्य के अन्दर ही भिन्न-भिन्न व्याख्याओ के लिए गुंजाइश मौजूद है, और इस विषय मे एक और बात याद रखने की यह है कि हमारे दर्शनो का आधार श्रुति है, यानी वेद

और उपनिषद् जिनमें अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा द्वैतवाद के भिन्न-भिन्न मतानुसार हर तरह के वाक्य काफी मिलते है। इसलिए यह मतान्तर हमारे दार्शनिक साहित्य में श्रुति के आधार पर ही चल सकते हैं, यद्यपि स्वच्छन्द रूप से तो इन्हें चलना ही चाहिए।

वेदान्त की रामानुजाचार्य की व्याख्या पर कुछ कहने के पहले संक्षिप्त रूप से शंकर की व्याख्या का उल्लेख करना अनिवार्य हो जाता है। शंकर के वेदान्त की व्याख्या अद्वैतवादी है, जिसका सारांश यह है कि पारमार्थिक सत्ता केवल एक ही है जिसकी कल्पना हम निर्गुण ब्रह्म अथवा शुद्ध, बुद्ध चैतन्य स्वरूप के अर्थ में कल्पना कर सकते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य नाना जीव अथवा प्राणी तथा इस ठोस और वृहत् जगत की पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वास्तव में हमें ब्रह्म ज्ञान से विमुख होने के कारण ही इन ब्रह्म से इतर पदार्थों की सत्ता प्रतीत होती है जो चूंकि अज्ञानजन्य है इसीलिए भ्रमात्मक भी है। ज्ञान की दृष्टि से (और वेदान्त अथवा उत्तर मीमांसा कर्म की न हो कर केवल ज्ञान की मीमांसा ही है) और शंकराचार्य के मतानुसार अद्वैत ही सूत्रकार का अथवा श्रुतियों का मत है। परन्तु रामानुजाचार्य के अनुसार शंकर की अद्वैत व्याख्या न तो तार्किक दृष्टि से ही प्रामाणिक कही जा सकती है, और न श्रुतियों की कसौटी पर ही पूरी उतरती है। इसीलिए उन्होंने ब्रह्म सूत्रों की अपनी अलग व्याख्या की, जिसका हम आगे चल कर विशिष्टाद्वैत के नाम से उल्लेख करेंगे। कारण यह कि इस मत में केवल एक ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता मानते हुए भी जीव और जगत को भी भ्रमात्मक न मान कर उनको भी ब्रह्म का विशेषण मान कर सत्य ही माना गया है। ब्रह्म का चिन्तन निर्गुण रूप में न करके श्रीरामानुज ने सगुण रूप में किया है, जिस ब्रह्म की जीव द्वारा भक्ति और उपासना भी की जा सकती है। रामानुज के इस विशिष्टाद्वैतवाद को वैष्णव मत भी कहते हैं। यहां ब्रह्म की भगवान विष्णु के रूप में कल्पना की है जिसकी उपासना और भक्ति से ही मनुष्य भव-सागर तर सकता है। शुद्ध ज्ञान अथवा कर्मकाण्ड मनुष्य के लिए शायद इतना मुश्किल काम करने में असमर्थ हों।

रामानुजाचार्य के व्यक्तिगत जीवन के बारे में बहुत कुछ तो हिन्दी अथवा अंग्रेजी भाषाओं में पाया नहीं जाता, पर उनके जीवन की मुख्य घटनाएं भली प्रकार विदित हैं। वह दक्षिण भारत में सन् १०१७ ईस्वी, अर्थात ग्यारहवीं शताब्दी के शुरू में पैदा हुए थे, वैष्णव धर्मानुयायी प्रसिद्ध आचार्य यमुनाचार्य के शिष्यों में एक प्रमुख शिष्य के शिष्य थे। छोटी आयु में ही समस्त विद्याओं में पारंगत हो कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके वह करीब ३०—३२ वर्ष की आयु मे ही संन्यासी हो गए थे। उन्होंने सैकड़ों शिष्यों को वेदाध्ययन कराया। समस्त दक्षिण भारत तथा उत्तर भारत मे तीर्थ-पर्यटन किया। रामानुजाचार्य का सबसे महत्वपूर्ण कार्य उनकी ब्रह्मसूत्र की व्याख्या है जो श्री भाष्य के नाम से प्रख्यात है। उनकी ३-४ कृतियां और भी प्रसिद्ध है—वेदान्त दीपिका, वेदान्त संग्रह इत्यादि। शंकराचार्य के अद्वैत मत का अपने जीवन में ही भली प्रकार खण्डन करके तथा अपने विशिष्टाद्वैत मत का पूर्ण रूप से प्रतिपादन करके और वैष्णव धर्म को समस्त भारत में स्थापित करके रामानुजाचार्य की सन् ११०७ ईस्वी में मृत्यु हो गई। परन्तु जब तक संसार में वैष्णव धर्म, भगवद्भक्ति और उपासना की प्रथा रहेगी, तब तक उनको याद किया जाएगा।

अब प्रश्न यह होता है कि वेदान्त सूत्रों की शंकर व्याख्या तथा रामानुज व्याख्या में आखिर अन्तर क्या है? सबसे पहले तो यह समझना है कि शंकर और रामानुज दोनों ही वेद और उपनिषदों के वाक्यों के अनुसार अद्वैतवादी है, द्वैत अथवा अनेक सत्तावादी नहीं है। यह निश्चित है कि ब्रह्मसूत्र में भी उसी 'एको देवः सर्वभूतेषू गूढः" का प्रतिपादन है जिसकी कि वेद, उपनिषद और श्रुतियों में वन्दना और स्तुति की गई है। केवल ब्रह्म की ही एक निराधार और स्वयं-

सिद्ध सत्ता है और ब्रह्म से इतर जो कुछ भी है—जगत तथा जीवादि उसकी सत्ता भी ब्रह्म में ही अपेक्षित है। पर अब प्रश्न यह होता है कि यदि ब्रह्म ही मूल सत्ता है तो फिर उसका जगत और जीवादि से किस प्रकार का सम्बन्ध है ? उपनिषदों में भी 'सर्व खलु इदं ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'तत्वमसि' अथवा 'नेहि नानास्ति किंचन' इत्यादि व्याहृतियां प्रमुख है जिनके आधार पर जगत और जीवादि मिथ्या या असत् या भ्रममात्र कहा जा सकता है। श्री शंकराचार्य ने इस केवल ब्रह्म सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए जिस सतर्कता और प्रामाणिकता से काम लिया है, उसकी संसार के दर्शन-साहित्य में मिसाल मिलना मुश्किल है। यदि 'एकं सत्' या 'द्वितीयोनास्ति' इत्यादि वाक्य प्रामाणिक हैं, तो जगत अथवा जीव का नानात्व और इनकी सत्ता ब्रह्म के समान प्रामाणिक तो हो नही सकती। इसीलिए शंकराचार्य ने विशेष महत्व इस सिद्धान्त को दिया था कि वास्तव में जगत और जीव इत्यादि का भास अज्ञान के ही कारण होता है जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने पर नष्ट हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त की इतनी पुष्टि के बाद श्री रामानुजाचार्य ने जो कार्य किया वह सराहनीय है, क्योंकि उन्होंने इन्हीं अद्वैतवादी वाक्यों से यह सिद्ध किया कि इनका वह अर्थ नही है जो अद्वैत-वादी लगाते हैं, और फिर श्रुतियों के अन्य वाक्यों के आधार पर अपने विशिष्टाद्वैत सिद्धांत को पुष्ट किया है। श्रुतियों में जैसे अद्वैतवादी वाक्य भरे पड़े हैं, उसी प्रकार अन्य वाक्य भी है जिनसे कि ब्रह्म और जीव में भेद और जगत की वास्तविकता कर्मकाण्ड तथा भक्ति-मार्ग के सिद्धांत की भी भली प्रकार पुष्टि हो सकती है।

रामानुज के मतानुसार यह जगत प्रपंच अथवा नाना जीवादि भी सत्य ही है। हमारा अपना अस्तित्व तथा जगत का अस्तित्व अथवा हमारा सांसारिक या सामाजिक आचरण अन्ततोगत्वा मिथ्या या भ्रमात्मक नहीं हो सकता, पर यदि केवल ब्रह्म ही एक अनपेक्ष सत्ता है, तो यह सब भी कैसे सत्य हो सकता है। रामानुज का कहना है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ब्रह्म का ही विराट शरीर या रूप है और इसीलिए सत्य ही है। रामानुज के अनुसार निर्गुण ब्रह्म की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती है, क्योंकि कल्पना या चिन्तन करना तो सदैव गुण रूप में ही होता है। यदि हम ब्रह्म की कल्पना से सारे गुणों को निर्वासित कर दें, तो जो कुछ बचता होगा (यदि कुछ बचता होगा तो) वह शून्य या शून्य के समान ही हो जाता है। यह तो परम ब्रह्म की कोई अच्छी कल्पना न हुई। अतः रामानुजाचार्य की सगुण ब्रह्म की कल्पना में सारा ब्रह्माण्ड और यह चराचर जगत, इसके नाना प्रकार के प्राणी और जीव, ये सब सगुण ब्रह्म के विशेषण ही हो गए और इसी कल्पना से न केवल सारा जगत अब भी ब्रह्ममय ही रहा, बल्कि जगत और जीव उसी प्रकार सत्य हो गए जैसे ब्रह्म—बिल्कुल उसी प्रकार तो नही, क्योंकि ब्रह्म की सत्ता तो निरपेक्ष है. जबकि जगत और जीव की सत्ता ब्रह्म की सत्ता पर ही अवलम्बित है। दूसरे शब्दों मे जगत और जीव सत्य तो अवश्य है पर ब्रह्म में ही, अपने आप में नही, जैसा कि द्वैतवादी अथवा अनेक सत्ता-वादी मान सकते हैं।

रामानुज न केवल जगत और जीव की सत्ता ही प्रमाणित करते है, किन्तु ब्रह्म और जगत या ब्रह्म और जीव में भेद भी स्थापित करते है। शंकराचार्य ने जीव की अहं चेतना को असत्य माना था, पर रामानुज अहं चेतना को ही जीव का गुण और स्वरूप मानते है। जीवात्मा किसी भी अवस्था में, अहं चेतना से मुक्त नही होती है। ब्रह्मानन्द-प्राप्ति की अवस्था में भी ब्रह्म और जीव में यह भेद बना रहता है। ब्रह्मानन्द में लीन होने का मतलब विशिष्टाद्वैत में स्वास्तित्व नष्ट करने का नहीं होता—जैसे कि एक चीटे की मुक्ति गुण बन जाने में या गुण में नष्ट होने में नही है किन्तु सदैव गुण के नितान्त आस्वादन में है। इसी तरह जीव की मुक्ति

ब्रह्म हो जाने में नहीं, अपितु ब्रह्मानन्द को अनितान्त और अमर रूप से भोगने में है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जब रामानुजाचार्य ने जगत और जीव को सत्य ही माना है तो वह अद्वैत वेदान्त के मायावाद को नहीं मान सकते। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म और जगत में कारण और कार्य का सम्बन्ध नहीं है। संसार प्रपंच या सृष्टि की उत्पत्ति और लय का कारण अथवा मूल ब्रह्म नहीं। वास्तव में इस सबका कारण हमारा ही अज्ञान या अविद्या है। माया से ही संसार की उत्पत्ति और उसी के नाश से संसार का भी नाश है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त के अनुसार केवल ब्रह्म के और कुछ वास्तव में है ही नहीं।

रामानुजाचार्य ने इस मायावाद का कठोर खण्डन किया और उनके मायावाद के खण्डन को ही प्रामाणिक माना जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि मायावाद में कठिनाइयां हैं और मायावाद शुद्धाद्वैतवाद के विरुद्ध जाता है। पर रामानुजाचार्य ने तो मायावाद की जैसे धज्जियां ही उड़ा दीं। हां, माया, अज्ञान और अविद्या, यह शब्द श्रुतियों, उपनिषदों और वेदान्त सूत्रों में भी आया है। पर इसका अर्थ अद्वैत वेदान्त की तरह और ब्रह्म से पृथक न करके, ब्रह्म शक्ति अथवा ब्रह्म लीला भी किया जा सकता है, जैसा कि रामानुजाचार्य ने किया। असल बात तो यह है कि मूल दार्शनिक प्रश्न तो स्पष्ट है और वह यह है कि पारमार्थिक सत्ता एक है या अनेक? अगर एक ही है तो उसका स्वरूप क्या है? और यदि उसका स्वरूप शुद्ध-बुद्ध-स्वरूप अनन्त चैतन्य है तो फिर जड़ जगत और सांसारिक जीवात्मा की उत्पत्ति या सत्ता कहां से आई? अद्वैत वेदान्त ने इसी प्रश्न को शुद्धाद्वैत दृष्टि से और माया का आश्रय ले कर सुलझाया और रामानुजाचार्य ने उसी अद्वैत ब्रह्म के सगुण स्वरूप से उनकी शक्ति और लीला के आधार पर इस जीव और जगत के प्रपंच को हल किया। शायद अन्तिम निर्णय तो व्याख्या और तर्क के क्षेत्र से परे—ब्रह्म साक्षात्कार अथवा अनुभव में ही है। तर्क और व्याख्या तो हमारी अपनी शिक्षा और स्वभाव के अनुकूल ही हम से काम लेती है। मनुष्य का स्वभाव कर्मप्रधान, ज्ञानप्रधान अथवा भक्तिप्रधान होता है। और इसी कारण न केवल श्रुति ग्रन्थों की ही भिन्न-भिन्न व्याख्या होती है, बल्कि स्वतन्त्र दार्शनिक भी इसीलिए भिन्न-भिन्न मत प्रदान करते हैं।

यह हो सकता है कि अद्वैत वेदान्त केवल ज्ञान की दृष्टि से ज्ञान की पराकाष्ठा हो, पर सभी दार्शनिक ज्ञानप्रधान स्वभाव के नहीं होते। बहुतों में कर्म और भक्ति की भावना भी अधिक होती है। इसी कारण कर्म, योग और भक्ति मार्ग की भी महानता है। रामानुजाचार्य से भक्त को निर्गुण ब्रह्म ज्ञान द्वारा अपने अस्तित्व को नष्ट करना कुछ नीरस और शुष्क-सा अवश्य लगा होगा, इसीलिए उनकी आत्मा के लिए सगुण ब्रह्म की उपासना अनन्य प्रणिधान और आत्म-समर्पण, साथ ही साथ भगवान और भक्त में जो एकता और दूरी दोनों होते हैं, उसका उल्लेख करना अनिवार्य था। अद्वैतवाद तो यह भी है पर अपनी एक विशेषता के साथ इसीलिए उनकी वेदान्त व्याख्या को हम विशिष्टाद्वैत व्याख्या कहते हैं जो कि भक्ति-मार्ग अथवा वैष्णव धर्म के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस वैष्णव मार्ग के समस्त भारत में सैकड़ों आचार्य और सन्त आज तक होते आए हैं। हमारा सारा सन्त-साहित्य भगवद्भक्ति से भरा है। इतिहास, पुराण भी विविध नामों से इसी मार्ग का हमें दिग्दर्शन कराते है। पर इसे एक तार्किक और दार्शनिक रूप से प्रतिपादित करना रामानुजाचार्य का ही महान कार्य था।

—भोपाल से प्रसारित

बड़े मियां

आचार्य चतुरसेन



असल मुग़ल खून, मोती के समान रंग, उम्र अस्सी के पार, लम्बे पट्टे—बगुले के पर जैसे सफेद। बड़ी-बड़ी आंखें, जिन में लाल डोरे, भारी-भारी पपोटों के बीच से झांक कर प्यार और मान को निमन्त्रण देती हुई। कद लम्बा, किसी कदर दुबले-पतले—मगर कमजोर नहीं। कमर जरा झुकी हुई, दाढ़ी खसखासी, बहुत सावधानी से तराशी हुई—जो उनके रुआबदार चेहरे पर बहुत भली लगती थी। आंखों पर अभी चश्मा नहीं लगा। सुर्मा लगाते थे। सिर पर मखमली ऊनी कानदार टोपी, पैरों में अलीगढ़ी पायजामा, और वसली के असली कलाबत्तू काम के जूते। बदन पर खानदानी का अंगरखा, उस पर कमख्वाब की नीमास्तीन। हाथ में जमर्रुद की कीमती तस्बीह। प्रतिक्षण खटकती हुई। पान की लकीरों से आरास्ता ओंठ, निरन्तर हिलते हुए। दांतों की बत्तीसी असली कायम, जिन पर पान की लाल झलक ठीक अनार के दानों की शोभा को मात करती हुई। यही थे मियां खुरशैद मुहम्मद खां। घुड़सवारी के शौकीन थे। सुबह की नमाज अदा करके घोड़ी पर सवार हो, खेतों पर चक्कर लगाने जाते, यह उनका दस्तूर था।

सर्दी के दिन, सुबह का वक्त—अभी धूप पूरी नहीं खिली थी, कोहरा छाया था। खेतों से वापस लौट रहे थे। कल्लू भंगी अपनी झोंपड़ी के आगे आग ताप रहा था। मियां ने घोड़ी रोक दी। बोले—

"कल्यान मिया, सर्दी बहुत है।"

कल्लू हुक्का छोड़ घबरा कर उठ खड़ा हुआ। उसने जमीन तक झुक कर मियां को सलाम किया और हाथ बांध कर कहा—"हां सरकार।"

"अमां! तुम्हारे पास तो कुछ ओढ़ने को भी नहीं है। लो यह लो।"

उन्होंने अपनी कमर से लिपटा हुआ दुशाला उतार कर भंगी के ऊपर डाल दिया। भंगी ने घबरा कर कहा—"सरकार यह क्या कर रहे हैं! इतना कीमती दुशाला यह गुलाम क्या करेगा! न होगा तो मैं गढ़ी में हाजिर हो जाऊंगा। कोई फटा-पुराना कपड़ा बख्श दीजिएगा।" लेकिन मियां ने भंगी की बात सुनी ही नहीं। उन्होंने कहा—"अमां कल्यान! तुम्हारी लड़की की शादी कब की रखी?"

"इसी चौथे चांद की है सरकार।"

"अच्छी याद दिलाई। मैं तो दिल्ली जाने वाला था। जहांपनाह का पैग़ाम आया था। अब शादी के बाद ही जाऊंगा। मगर देखना, बारात की तवाज़ह जरा ठीक-ठीक करना, ऐसा न हो भई गांव की तौहीन हो। तुम जरा लापरवाह आदमी हो, समझे।"

"समझ गया, सरकार ।"

"जिस चीज़ की ज़रूरत हो छुट्टन मियां से कहना ।"

"जो हुक्म, सरकार ।"

मियां ने घोड़ी बढ़ाई, और कल्लू भंगी शाल को सिर से लपेटता हुआ दूर तक मियां की रकाब के साथ गया ।

मियां के इकलौते साहबज़ादे थे मियां मोहम्मद अहमद । उम्र इक्कीस साल । दिल्ली में पढ़ते थे । अंग्रेजी का शौक था । अंग्रेजी लिबास पहनते थे । इस समय गाज़ी बादशाह अकबर शाह का अदल महज़ लाल किले तक ही सीमित था । बादशाह बड़े मियां को दोस्त की तरह मानते और छोटे मियां को बेटे की तरह । मोहम्मद अहमद अंग्रेज़ों के मिशन कालेज में पढ़ते थे—पर बीच-बीच में बादशाह को मुजरा करने लाल किले में जाते रहते थे । इससे उनके हौसले ज़रा बढ़े हुए थे । अंग्रेज़ी पढ़ने और अंग्रेज़ों के सम्पर्क में रहने से उनके विचारों में भी बहुत क्रांति हुई थी । उम्र का भी तकाजा था । वे हर चीज़ को और हर बात को नई नज़र से देखते थे, धर्म-ईमान पर भी उनके विचार नएपन को लिए हुए थे ।

परन्तु इसके विपरीत बड़े मियां बिलकुल पुराने ढंग के, न केवल रईस थे, वे पुराने ढंग के मुसलमान भी थे—रोज़े-नमाज़ के पाबन्द और सच्चे खुदापरस्त, नेक और रहीम । बड़े आदमियों के सभी गुण उनमें थे । लेकिन वे सब गुण बहुधा छोटे मियां को अखरते रहते थे । वे पिता की भारी इज़्ज़त करते थे—पर कभी-कभी बाप-बेटों में हुज्जत भी हो जाती थी ।

मियां ने घोड़ी साईस के हवाले की और दीवानखाने में आ, मसनद पर बैठ गए । मियां के दीवानखाने का अन्दाज़ा शायद आप न लगा सकें । आपके ड्राइंग रूम से वह बिलकुल ही जुदा चीज थी । मियां के मसनद पर बैठते ही मुहम्मद अहमद ने आ कर कहा—"अब्बा हुज़ूर, मियां अमजद और वासुदेव पंडत बड़ी देर से बैठे हैं ।"

"किस लिए ?"

"वही, कर्ज़ा मांग रहे हैं । मियां अमजद को तो कम्पनी बहादुर की मालगुज़ारी भरनी है । उसका वारंट ले कर कम्पनी का अमीन दरवाज़े पर डटा बैठा है । अमजद पिछवाड़े की दीवार फांद कर आया है । वह कहता है—"घर में रोना-पीटना मचा है । कम्पनी के प्यादे बरकन्दाज एक ही बदज़ात होते हैं । बहू-बेटियों की बेहुर्मती करना तो उनके बाएं हाथ का खेल है ।"

"बहुत खराब बात है । कितने रुपे चाहिएं उसे ?"

"चार सौ मांगता है ।"

"और वासुदेव महाराज ?"

"उनकी लड़की की शादी है । कहते हैं, ज़हर खाने को भी पैसा नहीं है । बिरादरी में नाक कट गई तो जान दे देगा ।"

"म्यां, गैरतमन्द आदमी है ।···उसे कितना रुपया चाहिए ?"

"वह छ सौ मांगता है ।"

"इस वक्त तुम्हारे पास कितना रुपया है ।"

"वही एक हज़ार है, जो चौधरियों के यहां से कर्ज़ आया है ।"

"तब तो दोनों का काम हो जाएगा । दे दो ।"

"मगर, अब्बा हुज़ूर, वह तो हमने सरकारी लगान अदा करने के लिए कर्ज लिया है ।"

"उस पाक परवरदिगार की इनायत से हमें कर्ज़ा अभी मिलता है । दे दो, य गर्ज़मन्द है । पीछे देखा जाएगा ।" लेकिन छोटे मियां को बड़े मियां की यह उदारता अच्छी नहीं लगी । वे

चुपचाप खड़े रहे। बड़े मियां ने नर्मी से कहा—"कोई सख्त कलाम न कहना बेटे, ये गरीब गर्ज़मन्द हैं. हमारी परजा है, सुख-दुख मे हमारा ही तो आसरा तकते है। यह भी तो देखो।"

"लेकिन, हुजूर, हम मालगुजारी कहा से अदा करेगे। ये फिरंगी प्यादे और अमीन तो बादशाह तक की छीछालेदर करने में दरेग नही करते हैं। कल ही वे आ धमकेगे ड्योढ़ियो पर, और हुज़ूर की शान मे बेअदवी करेगे, तो मै उन्हे गोली से उड़ा दूंगा। पीछे चाहे जो कुछ हो।"

"लेकिन ऐसा होगा क्यों, मालगुजारी दे दी जाएगी।"

"कहां से दे दी जाएगी ?"

"चौधरी तो हमारे दोस्त है। वे क्या कभी नाहीं कर सकते है। वे भी खानदानी जमींदार है। इज्जतदार की इज्जत बचाना वे जानते है।"

"तो यह भी खूब रही। कर्जा लिए जाइए और दूसरों को बांटे जाइए। ये ही क्यों नही जाते चौधरी के पास ?"

"बेटा, वे गरीब आदमी है, मगर इज्जतदार तो है। फिर, यह तो गांव की इज्जत का सवाल है। हमारे गांव का असामी—गैर के सामने हाथ पसारेगा तो हमारी भी इज्ज़त कहां रही!

"लेकिन, हुजूर, सारी रियासत तो रेहन हो गई। जब कर्जा भी न मिलेगा, तब क्या होगा ?"

"जो खुदा को मंजूर होगा। जाओ, दे दो बेटा, बहुत देर से बैठे है वे, न जाने उनके घर पर क्या बीत रही होगी। पाजी बरकन्दाज बडे बेतमीज़ होते है।"

छोटे मिया आहिस्ता से चले गए। मिया ने आराम से मसनद का सहारा ले कर पूरी तस्बीह पर उंगलियां फेरी। कल्यान मेहतर की लड़की के ब्याह में चालीस गांव के भगियों को न्यौता दिया गया था। बारात आई लखनऊ से। बेटे का बाप नवाब साहब का मेहतर। भारी दबदबा था। शहनाई, रंडिया, आतिशबाजी, भाड और कव्वाल और चार सौ भंगी बाराती। सब एक से बढ कर एक वजादार। बड़े-बड़े कड़े हाथो मे पहने, भारी-भारी कंठे गले मे, बाली कानों मे पहने, बगुले के पर जैसे अंगरखे और मिरजई डांटे आए थे। बहलियो, रथों, घोड़ो और मझोलियों का जमघट, गाव की अमराई मे जनवासा दिया गया। दर्जनों हुक्के और नहचे गुड़गुडा रहे थे। बड़े-बडे चौधरी हुक्का गुडगुड़ाते हुए जोर-जोर से विरादरी के कजिए चुका रहे थे। शहनाई बज रही थी। रोशन चौकी की बहार थी। एक ओर लखनऊ की तवायफे अपनी ठुमरियो की ठमक से गाव वालो के कलेजे निकाल रही थी—दूसरी ओर बनारस के भांड़ हंसाते-हंसाते लोगों को लहा-लोट कर रहे थे। इधर कल्यान ने भी डेरेदार नटनिया बुलाई थी। वे जब पंचम सुर मे बिरहा अलापती तो गाव वालो के कलेजे उछल कर रह जाते थे। इधर यह धूमधाम, उधर घोड़ो की हिनहिनाहट, ऊंटों की बलबलाहट, घसियारो और कोचवानों की चखचख, सब मिला कर खासी धूम मची थी। विवाह के मण्डप के पास जाजम पर बड़े मिया कमर मे शाल लपेटे, रुपयों से भरे दो तोड़े आगे रखे बैठे, सब नेग स्वयं भुगता रहे थे। प्रत्येक मेहतर से वे भाई, चौधरी, सरदार कह कर बोल रहे थे।

कल्यान दौड़ता हुआ आया और आते ही बड़े मियां के आगे पैर फैला कर बैठ गया, उसने कहा—"सरकार, चाहे मारें, चाहे बख्शो, मगर मै इस लखनऊ के नकटे को बेटी नही देने का।"

"क्यों, क्या हुआ, इस कदर क्यों बिगड रहे हो ?"

"बस हुज़ूर, मर्द का कौल है, बस हुक्म दीजिए, बदजातो को गाव से निकाल बाहर करूं।"

"आखिर बात क्या है, कुछ कहोगे भी ?"

"हुज़ूर, छोटे मुह बड़ी बात, कहता है—समधी की मिलनी सरकार से करूंगा। सरकार जब यहा बैठे है, वे ही लडकी के बाप है।"

"तो झूठ क्या कहता है, लड़की का बाप मैं ही तो हूं। तुम्हारी ही क्या ? गांव भर की लड़कियों का बाप मैं ही हूं।"

"आप तो सरकार हमारे भी माई-बाप हैं, सरकार तो परमेसुर के रूप हैं। मेहतर की जाजम पर आ कर बैठ गए। पर उस भंगी के बच्चे की यह जुर्रत कि सरकार से समधी की मिलनी करेगा?"

"बस, या और भी कुछ ?"

"साला चोट्टा, लखनऊ में जा कर सारी बिरादरी में शेखी बघारेगा कि बड़े गांव की बेटी ब्याह लाया हूं। सरकार ने खुद समधी की मिलनी दी है।"

"वह कहां है ?"

"वह क्या गुड़गुड़ी मुंह से लगाए मुंह फुलाए बैठा है चोट्टा !"

"तो उसे यहां बुलाओ, कल्यान मियां।"

"हुजूर, वह आप के सामने बेअदबी कर बैठेगा तो नाहक खून हो जाएगा।"

"बस हुक्म दीजिए, झाड़ू मार कर गांव के बाहर करूं।"

"उसे यहां बुलाओ।"

कल्यान जा कर समधी को बुला लाया। उसके आते ही बड़े मियां दुशाला छोड़ कर उठ खड़े हुए। दोनों हाथ फैला कर कहने लगे—"आओ चौधरी, मिलनी कर लो। यह मैं अपनी बेटी तुम्हें दे रहा हूं भूलना नहीं।"

लखनऊ का मेहतर मूंछों में हंसता हुआ आगे बढ़ा। सारे भंगी दंग रह गए। चारों ओर भीड़ आ जुटी। कल्यान मोटा लट्ठ ले कर मियां और समधी के बीच आ खड़ा हुआ। वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला कर कह रहा था—"नहीं हो सकता। जान से मार ही डालूंगा चौधरी, जो आगे कदम बढ़ाया। अबे भंगी के बच्चे ! तेरी यह मजाल कि तू हमारे बादशाह से मिलनी लेगा जो शहंशाहे हिन्द के साथ दस्तरखान पर खाना खाते हैं।" लेकिन लखनऊ का चौधरी खड़ा रहा—चुप, अडिग, अचल; ओंठों में मुसकान भरे हुए। तमाशाइयों की भीड़ जमा होती जा रही थी। जिसने सुना दौड़ आया। न कभी देखा न सुना, वह दृश्य सामने था। जाजम पर चौरासी बरस के बड़े मियां—जिनकी रियासत और बड़प्पन की धूम दिल्ली के लाल किले तक थी, जो बाईस गांव का राजा था, शान्त मुद्रा में दोनों बांह पसारे खड़ा था, मेहतर से बगलगीर होने के लिए। उन्होंने प्रसन्न मुद्रा से कहा—"आओ चौधरी, आगे बढ़ो। और तुम कल्यान, मेरे पास आओ, लाठी फेंक दो।"

कल्यान ने सिर झुका लिया। लखनऊ का भंगी सहमते-सहमते आगे बढ़ा। और बड़े मियां ने दोनों बांहों में उसे बांध लिया। अपने हाथों से उसके कंधे पर दुशाला डालते हुए कहा—"कल्यान, ये दोनों तोड़े मिलनी में अपने हाथ से समधी को दे दो।"

"दुहाई सरकार, ऐसा तो न देखा न सुना !"

लखनऊ वाला भंगी भी दुशाला कंधे से उतार कर बड़े मियां के कदमों में लोट गया। उसने कहा—"बेशक, कल्यान, ऐसा न कभी किसी से सुना न देखा—न किसी ने किया। मगर याद रखना, यह गरीबपरवरी मैं चौहद्दी में मशहूर कर दूंगा और यह दुशाला मेरे खानदान में हमेशा पूजा जाएगा। आने वाली पीढ़ियां इसका साखा गाएंगी।"

"अबे निहाल हो गया नकटे, ले ये तोड़े संभाल।"

"इन्हें लुटा दे गरीबों को, मेरे सरकार के कदमों पर निछावर करके। मैं रुपयों का भूखा नहीं। मुझे मिलनी दे कर मेरी सात पुश्तों को सरकार ने तार दिया। लूट लो भाग्यो, ये रुपये और यह भी लो।" उसने फेंट से अशर्फियों का तोड़ा निकाल कर बखेर दिया। गले का सोने का

चुपचाप खड़े रहे। बड़े मियां ने नर्मी से कहा—"कोई सख्त कलाम न कहना बेटे, ये गरीब ग़र्ज़मन्द हैं, हमारी परजा हैं, सुख-दुख में हमारा ही तो आसरा तकते हैं। यह भी तो देखो।"

"लेकिन, हुजूर, हम मालगुज़ारी कहां से अदा करेंगे। ये फिरंगी प्यादे और अमीन तो बादशाह तक की छीछालेदर करने में दरेग नहीं करते हैं। कल ही वे आ धमकेंगे ड्योढ़ियों पर, और हुजूर की शान में बेअदबी करेंगे, तो मैं उन्हें गोली से उड़ा दूंगा। पीछे चाहे जो कुछ हो।"

"लेकिन ऐसा होगा क्यों, मालगुज़ारी दे दी जाएगी।"

"कहां से दे दी जाएगी ?"

"चौधरी तो हमारे दोस्त हैं। वे क्या कभी नाहीं कर सकते हैं। वे भी खानदानी ज़मींदार हैं। इज्ज़तदार की इज्ज़त बचाना वे जानते हैं।"

"तो यह भी खूब रही। कर्ज़ लिए जाइए और दूसरों को बांटे जाइए। ये ही क्यों नहीं जाते चौधरी के पास ?"

"बेटा, वे गरीब आदमी हैं, मगर इज्ज़तदार तो हैं। फिर, यह तो गांव की इज्ज़त का सवाल है। हमारे गांव का असामी—ग़ैर के सामने हाथ पसारेगा तो हमारी भी इज्ज़त कहां रही !

"लेकिन, हुजूर, सारी रियासत तो रेहन हो गई। जब कर्ज़ भी न मिलेगा, तब क्या होगा ?"

"जो खुदा को मंजूर होगा। जाओ, दे दो बेटा, बहुत देर से बैठे हैं वे, न जाने उनके घर पर क्या बीत रही होगी। पाजी बरकन्दाज़ बड़े बेतमीज़ होते हैं।"

छोटे मियां आहिस्ता से चले गए। मियां ने आराम से मसनद का सहारा ले कर पूरी तस्बीह पर उंगलियां फेरीं। कल्यान मेहतर की लड़की के ब्याह में चालीस गांव के भंगियों को न्यौता दिया गया था। बारात आई लखनऊ से। बेटे का बाप नवाब साहब का मेहतर। भारी दबदबा था। शहनाई, रंडियां, आतिशबाज़ी, भांड़ और कव्वाल और चार सौ भंगी बाराती। सब एक से बढ़ कर एक वज़ादार। बड़े-बड़े कड़े हाथों में पहने, भारी-भारी कंठे गले में, बाली कानों में पहने, बगुले के पर जैसे अंगरखे और मिरज़ई डांटे आए थे। बहलियों, रथों, घोड़ों और मझोलियों का जमघट, गांव की अमराई में जनवासा दिया गया। दर्जनों हुक्के और नहचे गुड़गुड़ा रहे थे। बड़े-बड़े चौधरी हुक्का गुड़गुड़ाते हुए ज़ोर-ज़ोर से बिरादरी के कज़िए चुका रहे थे। शहनाई बज रही थी। रोशन चौकी की बहार थी। एक ओर लखनऊ की तवायफें अपनी ठुमरियों की ठमक से गांव वालों के कलेजे निकाल रही थीं—दूसरी ओर बनारस के भांड़ हंसाते-हंसाते लोगों को लहा-लोट कर रहे थे। इधर कल्यान ने भी डेरेदार नटनियां बुलाई थीं। वे जब पंचम सुर में बिरहा अलापतीं तो गांव वालों के कलेजे उछल कर रह जाते थे। इधर यह धूमधाम, उधर घोड़ों की हिनहिनाहट, ऊंटों की बलबलाहट, घसियारों और कोचवानों की चखचख, सब मिला कर खासी धूम मची थी। विवाह के मण्डप के पास जाजम पर बड़े मियां कमर में शाल लपेटे, रुपयों से भरे दो तोड़े आगे रखे बैठे, सब नेग स्वयं भुगता रहे थे। प्रत्येक मेहतर से वे भाई, चौधरी, सरदार कह कर बोल रहे थे।

कल्यान दौड़ता हुआ आया और आते ही बड़े मियां के आगे पैर फैला कर बैठ गया, उसने कहा—"सरकार, चाहे मारें, चाहे बख्शें, मगर मैं इस लखनऊ के नकटे को बेटी नहीं देने का।"

"क्यों, क्या हुआ, इस कदर क्यों बिगड़ रहे हो ?"

"बस हुज़ूर, मर्द का कौल है, बस हुक्म दीजिए, बदज़ातों को गांव से निकाल बाहर करूं।"

"आखिर बात क्या है, कुछ कहोगे भी ?"

"हुजूर, छोटे मुंह बड़ी बात, कहता है—समधी की मिलनी सरकार से करूंगा। सरकार जब यहां बैठे हैं, वे ही लड़की के बाप हैं।"

"तो झूठ क्या कहता है, लड़की का बाप मैं ही तो हूं। तुम्हारी ही क्या ? गांव भर की लड़कियों का बाप मैं ही हूं।"

"आप तो सरकार हमारे भी माई-बाप हैं, सरकार तो परमेसुर के रूप हैं। मेहतर की जाजम पर आ कर बैठ गए। पर उस भंगी के बच्चे की यह जुर्रत कि सरकार से समधी की मिलनी करेगा ?"

"बस, या और भी कुछ ?"

"साला चोट्टा, नखलऊ में जा कर सारी बिरादरी में शेखी बघारेगा कि बड़े गांव की बेटी ब्याह लाया हूं। सरकार ने खुद समधी की मिलनी दी है।"

"वह कहां है ?"

"वह क्या गुड़गुड़ी मुंह से लगाए मुंह फुलाए बैठा है चोट्टा !"

"तो उसे यहां बुलाओ, कल्यान मियां।"

"हुज़ूर, वह आप के सामने बेअदबी कर बैठेगा तो नाहक खून हो जाएगा।"

"बस हुक्म दीजिए, झाड़ू मार कर गांव के बाहर करूं।"

"उसे यहां बुलाओ।"

कल्यान जा कर समधी को बुला लाया। उसके आते ही बड़े मियां दुशाला छोड़ कर उठ खड़े हुए। दोनों हाथ फैला कर कहने लगे—"आओ चौधरी, मिलनी कर लो। यह मैं अपनी बेटी तुम्हें दे रहा हूं भूलना नहीं।"

लखनऊ का मेहतर मूंछों में हंसता हुआ आगे बढ़ा। सारे भंगी दंग रह गए। चारों ओर भीड़ आ जुटी। कल्यान मोटा लट्ठ ले कर मियां और समधी के बीच आ खड़ा हुआ। वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला कर कह रहा था—"नहीं हो सकता। जान से मार ही डालूंगा चौधरी, जो आगे कदम बढ़ाया। अबे भंगी के बच्चे ! तेरी यह मज़ाल कि तू हमारे बादशाह से मिलनी लेगा जो शहंशाहे हिन्द के साथ दस्तरखान पर खाना खाते हैं।" लेकिन लखनऊ का चौधरी खड़ा रहा—चुप, अडिग, अचल; ओंठों में मुसकान भरे हुए। तमाशाइयों की भीड़ जमा होती जा रही थी। जिसने सुना दौड़ आया। न कभी देखा न सुना, वह दृश्य सामने था। जाजम पर चौरासी बरस के बड़े मियां—जिनकी रियासत और बड़प्पन की धूम दिल्ली के लाल किले तक थी, जो बाईस गांव का राजा था, शान्त मुद्रा में दोनों बांह पसारे खड़ा था, मेहतर से बगलगीर होने के लिए। उन्होंने प्रसन्न मुद्रा से कहा—"आओ चौधरी, आगे बढ़ो। और तुम कल्यान, मेरे पास आओ, लाठी फेंक दो।"

कल्यान ने सिर झुका लिया। लखनऊ का भंगी सहमते-सहमते आगे बढ़ा। और बड़े मियां ने दोनों बांहों में उसे बांध लिया। अपने हाथों से उसके कंधे पर दुशाला डालते हुए कहा—"कल्यान, ये दोनों तोड़े मिलनी में अपने हाथ से समधी को दे दो।"

"दुहाई सरकार, ऐसा तो न देखा न सुना !"

लखनऊ वाला भंगी भी दुशाला कंधे से उतार कर बड़े मियां के कदमों में लोट गया। उसने कहा—"बेशक, कल्यान, ऐसा न कभी किसी से सुना न देखा—न किसी ने किया। मगर याद रखना, यह गरीब-परवरी मैं चौहद्दी में मशहूर कर दूंगा और यह दुशाला मेरे खानदान में हमेशा पूजा जाएगा। आने वाली पीढ़ियां इसका साखा गाएंगी।"

"अबे निहाल हो गया नकटे, ले ये तोड़े संभाल।"

"इन्हें लुटा दे गरीबों को, मेरे सरकार के कदमों पर निछावर करके। मैं रुपयों का भूखा नहीं। मुझे मिलनी दे कर मेरी सात पुश्तों को सरकार ने तार दिया। लूट लो यारो, ये रुपये और यह भी, लो।" उसने फेंट से अशर्फियों का तोड़ा निकाल कर बखेर दिया। गले का सोने का

कंठा तोड़ कर उसने उसके दाने हवा में उछाल दिए। फिर वह उन्मत्त की भांति ही ही करके हंसने और नाचने लगा। देखते देखते, रुपये, अशर्फियों और सोने की लूट मच गई। बड़े मियां की सखावत, बड़प्पन और दरियादिली की धूम मच गई—तवायफों ने उसी वक्त कसीदे कहे, भांडों ने नई नकलें कीं और शायरों ने नए बंधेज गाए।

—दिल्ली से प्रसारित

चिर गोपन छंद खुले जा रहे

देवप्रकाश गुप्त



आती है सांझ चम्पई मघों के बंध खुले जा रहे,
चिर गोपन छंद खुले जा रहे!
गीत की तराई में वंशी-सा मन, शब्दों के फूल समर्पित नीराजन,
परवत के पार बजी सुधि की मादल, लाल-लाल चंदन के उड़ते परिमल,
पीर शकुन्तल गाती है, मृगी हवा लहराती है,
लहरों की वेला पर दर्द मुसकरा रहे!
चिर गोपन छंद खुले जा रहे!
धूप ढली, गुलमोहर की करुणा तुम, परसहीन कोमलता के तुम कुंकम,
गंध मोगरे-सी हर सांस लग रही, मेंहदी वन में कोई प्यास जग रही,
आती परिणीता जूही पीर बढ़ी जाती यूं ही,
तन के आंगन मन के पाहुन शरमा रहे!
चिर गोपन छंद खुले जा रहे!
पाल नील, धड़कन की नाव गेरुई, आंचल अनचीन्हा पुतलियां टेसुई
घोला गया मानसरोवर में कोई महावर रंजित करतल, ममता रोई
गुमसुम लगती समुद्र-जा, चांवर के गीत को सजा
बिंधे कूल से ये स्वर अम्बर को भा रहे!
चिर गोपन छंद खुले जा रहे!

—पटना से प्रसारित

हमारी संस्कृति और अधिकतर दूसरी संस्कृतियों में भी व्यक्ति को यह सिखाया जाता है कि वह अपने से अधिक बुद्धिमान, अधिक शिक्षित और अधिक विकसित व्यक्ति से आगे बढ़ने की स्पर्धा करे। हमारी कुछ लोक-गाथाएं भी इस स्पर्धा का समर्थन करती हैं। इस शब्द के अर्थ से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति-व्यक्ति में एक-दूसरे का मुकाबला करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। बहुधा हम एक आदर्श सामने रख कर उस तक पहुंचने अथवा उससे भी आगे बढ़ने की कोशिश करते हैं।

स्पर्धा सामाजिक जीवन का ही एक पहलू है। वह उस इच्छा का सूचक है जो हर किसी में दूसरों से आगे बढ़ने के लिए पाई जाती है। उसको दूसरे से बढ़ावा मिलता है।

जीवन के प्रारम्भ में ही दूसरे बालकों अथवा प्रौढ़ों के साथ जो सामाजिक सम्बन्ध होता है उसका नतीजा यह होता है कि बालक तरह-तरह के सामाजिक व्यवहार सीखता रहता है और ये व्यवहार उसके जीवन में बड़े मूल्यवान सिद्ध होते हैं। दूसरों के साथ खेलने से उसमें एक सामूहिक जीवन की भावना पैदा होती है। वह आदान-प्रदान करना और अपनी चीज़ों में दूसरों को हिस्सेदार बनाना सीखता है। वह अपने को समूहविशेष के रंग-ढंग में ढालना शुरू कर देता है। बालक सामाजिक प्रशंसा और निन्दा के प्रति बड़ा भावुक होता है, चाहे वह प्रशंसा अथवा निन्दा बड़ों की ओर से होती हो या उसके बालक साथियों की ओर से। वह अपने जीवन को विस्तृत करता है और निन्दा से बचने की कोशिश करता है।

किन्डरगार्टन के बालकों का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनकी स्पर्धा की भावना जो दूसरे बालकों के प्रति उनमें ईर्ष्या पैदा कर देती है, उस ढंग पर निर्भर है जो बालकों के खेल की सामग्री में पाया जाता है। ईर्ष्या के रूप में स्पर्धा जो विशेषकर बालकों के आपस के खेल में पाई जाती है प्राय: दो वर्ष की आयु में प्रकट होती है। बालक खेल में दूसरे के खिलौनों को छीनने की कोशिश केवल इसलिए नहीं करता कि वे उसे अच्छे लगते हैं, बल्कि इसलिए छीनता है कि इस प्रकार उनको अपना बड़प्पन दिखाने में आनन्द मिलता है। बालक बड़ों का ध्यान अपनी ओर खींचने अथवा उनका स्नेह प्राप्त करने के लिए जो स्पर्धा करते हैं वह यदि पूरी नहीं होती तो बच्चे में ईर्ष्या की भावना पैदा कर देती है। माता-पिता विशेषकर माता को इस पर ध्यान देना चाहिए कि परिवार में कोई भी बालक यह अनुभव न करे कि एक बालक को दूसरे के मुकाबले में अधिक प्यार किया जाता है। यदि घर के बड़े बालक को छोटे भाई-बहनों की देख-रेख के लिए कोई ज़िम्मेदारी सौंप दी जाए तो अनेक बार ईर्ष्या की बुराई को भलाई में बदला जा सकता है।

चार वर्ष की आयु में बालक में स्वाभिमान के लिए स्पर्धा पैदा होती है। यह देखा जाता है कि वह अनेक कामों में पहला होने और अपने साधन-सामग्री की दृष्टि से बड़ा होने की शेखी बघारता है। किसी तीसरे व्यक्ति विशेषकर किसी प्रौढ़ की उपस्थिति में ईर्ष्या और लड़ाई-झगड़ा बहुधा देखने में आता है। कारण इसका यह है कि उसमें उस व्यक्ति का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए स्पर्धा होती है।

बालक जब तक स्कूल का जीवन शुरू करता है तब तक उसमें स्पर्धा की भावना विकसित हो चुकी होती है। इस सम्बन्ध में जो अध्ययन किया गया है, उससे पता चलता है कि स्पर्धा की यह भावना आयु के साथ-साथ बढ़ती है। दो और सात वर्ष के बालकों को दो-दो की जोड़ी में एक मेज़ के पास लाया गया, जिस पर रंग-बिरंगे लकड़ी के टुकड़े रखे गए थे। प्रत्येक बालक को दूसरे की अपेक्षा 'अधिक सुन्दर' और 'अधिक बड़ी' वस्तु बनाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। परिणामस्वरूप यह देखा गया कि दो से तीन वर्ष के बालक में कोई स्पर्धा नहीं थी। तीन से चार

वर्ष के बालकों में ४२·६ प्रतिशत, चार से पांच वर्ष के बालकों में ६९·२ प्रतिशत, पांच से छः वर्ष के बालकों में ७५·४ प्रतिशत और छः से सात वर्ष के बालकों में ८६·५ प्रतिशत स्पर्धा पाई गई।

स्पर्धा की भावना का विकास एक नियमित तरीके से होता है। दो से तीन वर्ष के बालक में स्पर्धा की कोई भावना नहीं पाई जाती। वह खेल में मस्त रहता है। तीन और चार वर्ष के बालकों में स्पर्धा की कुछ भावना पाई जाती है, परन्तु अधिकतर वह आपसी दोस्ती और अपने खेल के सामान में ही मगन रहता है। चार और छः वर्ष की आयु में यह आपसी दोस्ती स्पष्ट रूप में स्पर्धा का रुख अपना लेती है और बालक एक-दूसरे से आगे बढ़ना चाहते हैं। छः और सात वर्ष की आयु में स्पर्धा की प्रवृत्ति बढ़नी शुरू हो जाती है, यद्यपि उसका रूप बालक की आलोचनात्मक दृष्टि के अनुसार बदलता रहता है।

बालकों के सामने जब सहयोग और स्पर्धा का मौका आता है तब उनमें उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है, इसके बारे में भी अध्ययन किया गया है। सात-आठ वर्ष के बालकों में यह देखा जाता है कि वे समूह की अपेक्षा जब अपने लिए काम करते हैं तब उसमें पूरी मेहनत लगा देते हैं। स्कूली जीवन में स्पर्धा होने पर भी अधिकतर विद्यार्थी अपने से सम्बन्धित समूह की अपेक्षा अपने लिए ही काम करना अधिक पसन्द करते हैं। ऐसी स्थिति में अपनी कक्षा के इनाम को अपने लिए प्राप्त करना ही विद्यार्थियों का लक्ष्य होता है। जब एक कक्षा का दूसरी कक्षा के साथ मुकाबला होता है तब वे जरूर एक-दूसरे के साथ सहयोग करते हैं। घर के व्यवहार में भाइयों-बहनों का सम्बन्ध भी सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से स्पर्धा का ही एक रूप धारण कर लेता है।

छः से बारह वर्ष की आयु में स्पर्धा की भावना मूर्त रूप धारण कर लेती है और खेलों में जो दिलचस्पी ली जाती है उसमें भी उसको देखा जा सकता है। दूसरों के साथ स्पर्धा अथवा विभिन्न गुटों में मुकाबला भी बालकों के लिए प्रेरक हो सकता है, और उसका उपयोग उन कामों में दिलचस्पी पैदा करने के लिए भी किया जा सकता है जो मामूली तौर पर स्कूल के जीवन में दिलचस्पी नहीं रखते। चाहे कैसा भी काम क्यों न हो इस आयु में स्पर्धा उसके लिए दिलचस्पी पैदा करने में बड़ी सहायक होती है।

कुछ मामलों में व्यक्तिगत मुकाबले की अपेक्षा सामूहिक मुकाबला, जिसमें अपने-अपने समूह के भीतर आपस में सहयोग की आवश्यकता होती है, अधिक शक्तिशाली होता है और कुछ मामलों में इससे बिलकुल उलटा पाया जाता है। साधारण व्यवहार के तरीके अपने खालिस रूप में प्रगट नही होते। ऐसे मामलों में जिनमें किसी आदर्श की पूर्ति के लिए काम किया जाता है और जिनमें आपसी आदान-प्रदान ज़रूरी होता है उनमें आपसी सहयोग और स्पर्धा मिली-जुली रहती है। उदाहरण के लिए—गोपाल यदि किसी खेल के दल का सदस्य है, वह विरोधी दल को हराने की पूरी कोशिश करता है। और साथ ही साथ वह अपने दल के अन्य खिलाड़ियों से अच्छा खिलाड़ी बनने का भी प्रयत्न करता है। इस तरह के कितने ही उदाहरण दिए जा सकते हैं।

बालकों में सहयोग की प्रवृत्ति स्पर्धा की प्रवृत्ति की अपेक्षा देर में पैदा होती है। सहयोग की प्रवृत्ति के लिए स्पर्धा की अपेक्षा सूझ-बूझ और आपस में आदान-प्रदान करने और सामाजिक व्यवहार की चतुराई कुछ अधिक होनी चाहिए। नर्सरी और किन्डरगार्टन स्कूल जाने वाले बालकों के सम्बन्ध में जो अनुभव प्राप्त किया गया है, उसमें हमें ऐसी बहुत-सी हालतों का सामना करना पड़ता है। जिनमें बालकों का सामूहिक सहयोग आपसी स्पर्धा में बदलता जाता है, जिसको बहुत अच्छा नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार आपसी सहयोग का आपसी स्पर्धा में बदल जाना सूझ-बूझ में जो कमी है, उसका परिणाम है।

घरेलू वातावरण ऐसा होना चाहिए जिससे बालकों में आपसी स्पर्धा की भावना का विकास इस दृष्टि से हो कि उनमें किसी प्रकार की चतुराई पैदा की जा सके। उसे यूं ही पैदा करना ठीक नहीं है। जिन घरों में बालक इस प्रकार पाले-पोसे जाते हैं कि उनमें स्पर्धा को अनावश्यक महत्व दिया जाता है, वहां अकसर वे उसको अपनी ओर दूसरों का ध्यान खींचने के लिए एक साधन बना लेते हैं।

खेल के मैदान में प्राय: यह देखने में आता है कि जो बालक ऐसे घरों के होते हैं जिनमें स्पर्धा को आवश्यक महत्व दिया जाता है, सहज में हार स्वीकार नहीं करते। वे या तो दूसरों पर उसका दोष मढ़ देते हैं या आवेश में आ जाते हैं। कई बार यह भी देखने में आता है कि वे अपने आपको खेल से अलग कर देते हैं और तब तक इसमें शामिल नहीं होना चाहते जब तक कि उनको अपने दल का कप्तान नहीं बनाया जाता अथवा उन्हें उस में कोई प्रमुख स्थान नहीं दिया जाता।

वह बालक जो घर या स्कूल में हर हालत में सफल होने का प्रयत्न करता है, अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी अनुचित उपाय को भी काम में लाने में संकोच नहीं करता। वह अपनी योग्यता दिखाने के लिए दूसरों को हानि पहुंचाने अथवा उनके साथ गाली-गलौज करने में पीछे नहीं रहता। वह दूसरों का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए कोई मूर्खता करने में भी पीछे नहीं रहता। ऐसे बालकों का इस प्रकार का व्यवहार कक्षा में दूसरे बालकों और अध्यापकों के लिए भी एक समस्या बन जाता है। इस प्रकार बहुत अधिक स्पर्धा में पड़ा हुआ बालक कक्षा के साधारण काम-काज, आपसी दोस्ती और खेल-कूद के लिए भी विघ्न पैदा करने वाला बन जाता है। उसके ऐसे व्यवहार का दूसरे बालकों के व्यवहार और चाल-चलन पर भी कुछ अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता।

आपसी स्पर्धा की भावना को बिना किसी मतलब के बढ़ावा देना निरर्थक है। उसको बढ़ावा इसलिए दिया जाना चाहिए कि उससे बालक में शारीरिक, सामाजिक और शिक्षा व कला सम्बन्धी विकास करने के लिए उत्साह पैदा हो। हमें इस बात का हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि कमलेश को बढ़ावा देने अथवा उत्साहित करने का जो तरीका ठीक हो सकता है वही रीता के लिए नहीं ठीक हो सकता। हरेक बालक के विकास का क्रम और तरीका अलग-अलग होता है। बालक की उन्नति, प्रगति और विकास के सभी पहलुओं पर ध्यान दिए बिना समाज को मनोवैज्ञानिक ढंग से ऊपर नहीं उठाया जा सकता।

—दिल्ली से प्रसारित

कैन्सर निरोध

डा० सी० रंगम



कैन्सर का निरोध तभी हो सकता है जब हम यह समझ लें कि कैन्सर कैसा रोग है और किन कारणों से होता है। हमारे शरीर के छोटे-छोटे कोषाणुओं के अकारण और अनियंत्रित विभाजन की वजह से एक गठान उत्पन्न होती है जो कि तेज़ी से बढ़ती है, और रक्त वाहिनियों के द्वारा विभिन्न अवयवों मे फैलती है। इस प्रकार, कुछ माह से ले कर एक या डेढ़ वर्ष के अन्दर मनुष्य का जीवन समाप्त हो जाता है।

कैन्सर स्त्री और पुरुष दोनों को होता है और सकल जातियों और धर्मों में समान रूप से होता है। यह रोग अधिकतर ४० वर्ष की उम्र के पश्चात होता है, फिर भी हमें यह अनुभव हुआ है कि यह रोग कुछ कम उम्र वालों में भी हो सकता ह और शरीर के किसी भी अंग में उत्पन्न हो सकता है।

समाचार पत्रों में और जनता के द्वारा भी यह प्रश्न उठाया जाता है कि कैन्सर किस कारण से होता है ? लेकिन हमें यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रश्न का उत्तर कठिन है, क्योंकि कैन्सर एक अलग रोग नहीं है, रोगों का समूह है। लेकिन फिर भी आज हम यह तो जानते ही है कि कैन्सर ऐसा रोग नहीं है जो नाटकीय आकस्मिकता से हो। यह भी हम जानते है कि शरीर के स्वस्थ कोषाणुओं को कैन्सर कोषाणुओं का रूप धारण करने में पर्याप्त समय लगता है, अर्थात कैन्सर में परिवर्तित होने से पहले कोषाणुओं की एक तैयारी की अवस्था आती है। इस तैयारी की प्रक्रिया में भाग लेने वाले कारणों का पर्याप्त ज्ञान हमें है। इसलिए इन कारणों को अच्छी तरह से समझना बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं कारणों को दूर कर के हम कैन्सर को भी रोक सकते है।

निरन्तर पीड़न जैसी एक साधारण चीज़ से भी कैन्सर हो सकता है, फिर चाहे यह पीड़न भौतिक तत्वों से हो या रासायनिक पदार्थो से। मान लीजिए कि आप के कालर के नीचे या कमर में एक तिल या मस्सा है। अब आप जब भी अपनी कमीज या धोती पहनत है, उसे पीड़ित करते है इस क्रिया के निरन्तर होने से यह तिल या मस्सा कैन्सर में परिवर्तित हो सकता है। इस उदाहरण से आपको विदित होता होगा कि इसी तिल या मस्से को उचित समय पर यदि हम निकाल दे तो कैन्सर नहीं हो सकता।' इसी प्रकार तमाखू और चूने के साथ पान खाने की आदत गाल के भीतरी भाग को निरन्तर पीड़ित करती है, जिससे कई बार कैन्सर उत्पन्न हो जाता है। कम पान खा कर और तमाखू का निषेध कर के हम इस गाल के कैन्सर का भी निरोध कर सकते हैं।

पिछली तीन दशाब्दियों में हमारे कैन्सर विशेषज्ञों ने कैन्सर उत्पन्न करने वाले रासायनिक पदार्थों के बारे में महत्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है जिससे हम आज समझते हैं कि विभिन्न प्रकार के रंग, तथा टांबर पदार्थ, इन सब में कैन्सर पैदा करने की शक्ति रहती है। इसलिए इन चीज़ों को खाना या सूंघना नहीं चाहिए और न इनके सम्पर्क में आना चाहिए। यह कैन्सर के निरोध की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

समाचार पत्रों के वर्णनों से आप को ज्ञात हुआ होगा कि फेफड़े का कैन्सर आजकल चिन्ताजनक रूप से व्यापक होता जा रहा है। एकत्रित आंकड़ों से मालूम होता है कि फेफड़ों का कैन्सर अधिकतर सिगरेट पीने वालों को होता है और सिगार या पाईप पीने वालों में बहुत कम पाया जाता है। इससे हमें जागरूक हो कर संभव हो तो सिगरेट पीने की आदत बिलकुल छोड़ देनी चाहिए या अगर पीना हो तो सिगार या पाईप पीना चाहिए।

अभी तक हम बाहरी कैन्सर उत्पन्न करने वाले पदार्थों के विषय में विचार कर रहे थे जिनसे हम सावधान रह कर बच सकते हैं, परन्तु हमारे विशेषज्ञों ने पता लगाया है कि हमारे अपने हारमोन्स (Hormones) जो हमारी यौन प्रक्रियाओं को नियंत्रित करते हैं अगर अधिक मात्रा में उत्पन्न हों तो गर्भाशय या स्तनों में कैन्सर को जन्म दे सकते हैं। सौभाग्यवश हारमोन्स की अधिकता कुछ विशेष लक्षणों द्वारा जानी जा सकती है, जैसे ऋतु काल में अत्यधिक रक्त स्राव, या स्तनों में गठानों का बनना। इन लक्षणों का लाभ उठा कर यदि समय पर शल्य क्रिया द्वारा गर्भाशय अथवा स्तनों की गठानों को निकाल दिया जाए, तो कैन्सर की रोकथाम की जा सकती है।

यद्यपि कैन्सर एक अत्यन्त भयानक रोग है, फिर भी हमारे विशेषज्ञों के सतत प्रयासों और सक्रियता के कारण अब हम यह नहीं अनुभव करते कि हम असहाय हैं। अब हमें कैन्सर जैसे भयानक रोग के आगे भी निरुपाय रहने की आवश्यकता नहीं रह गई है। कैन्सर का निरोध और उन्मूलन अब कई प्रकार से हो सकता है। लन्दन में हुई अन्तर्राष्ट्रीय कैन्सर कांग्रेस ने विचार-विमर्श के बाद इन्हीं तथ्यों को प्रधानता दी है। वास्तव में मुख्य बात कैन्सर की प्रारम्भिक अवस्था में ही उसका निदान करने की है, क्योंकि व्यावहारिक रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक अवस्था में निदान और उन्मूलन कैन्सर के निरोध के समान ही है।

अब प्रश्न यह है कि हम किस आधार से कैन्सर की प्रारम्भिक पहचान प्राप्त कर सकेंगे। इसके लिए सात प्रारम्भिक लक्षणों को सदैव ध्यान में रखना हमारे लिए बहुत ही आवश्यक है :—

(१) कोई भी घाव जो भरता न हो।
(२) छाती में या शरीर के अन्य किसी भाग में गठान हो।
(३) अनियमित खून का बहना या स्राव।
(४) मस्से या तिल में परिवर्तन।
(५) निरन्तर अपच या निगलने में कष्ट होना।
(६) गले की आवाज में परिवर्तन, या न मिटने वाली खांसी।
(७) साधारण दैनिक प्राकृतिक क्रियाओं में परिवर्तन होना।

इन सात लक्षणों में से यदि किसी को भी आप देखें तो डाक्टर से योग्य सलाह प्राप्त कीजिए।

रोग के निदान में विलम्ब न करने से लाखों मनुष्यों के प्राण बचाए गए हैं।

आप सत्य को जानिए, इससे आप अपनी एवं अपने प्रिय जनों की रक्षा कर सकेंगे। आप अपने परिवार की कैन्सर से रक्षा कीजिए।

—इन्दौर से प्रसारित

मेल रनर

एस० के० पोटेकाट्ट



नई ग्राम सुधार योजनाएं अमल में आई तो उत्तर वयनाट के कुन्नूजर गांव का बाच पोस्ट आफिस सब-पोस्ट आफिस बनाया गया। और उस गंवई गांव की तरफ एक लारी रेंगती-कराहती आई, जिस पर अंग्रेजी में 'मेल' लिखा हुआ एक लाल तख्ता लटका दिया गया था।

रोज की तरह उस दिन सवेरे डाक थैली ले जाने के लिए जब मेल रनर ओणक्कन हाजिर हुआ तो डाक बाबू ने उस से कहा—तुम्हें नौकरी से बरखास्त किया गया है। तुम एक महीने का वेतन ले कर आज ही घर जा सकते हो। हैड आफिस से सूचना आई है।

ओणक्कन एक आदिवासी हरिजन था। डाक बाबू ने जो कुछ कहा उसका अर्थ वह समझ नहीं सका। वह मुंह बाए डाक बाबू की ओर ताकता रह गया, मानो गले में कोई जोंक चिपक गई हो।

अब मेल रनर की जरूरत नहीं, डाक बाबू मुहर की तारीख बदलते हुए बोला—डाक थैली ले जाने के लिए मेल बस आई है।

हूं—ओणक्कन के मुंह से स्वीकृति-सूचक शब्द निकला, जैसे कोई बिल्ली का बच्चा रो रहा हो। कमरे के एक कोने में मंगल सूत्र पहने दुलहिन जैसी गुमसुम पड़ी डाक थैली की ओर प्यार से उसने देखा और वहीं खड़ा रहा।

डाक बाबू ने उसे एक पीला कागज पकड़ा दिया, केन्द्रीय दफ्तर का परवाना! फिर एक बडी बही खोल कर सामने रखी, ओणक्कन के बाएं हाथ का अंगूठा पकड़ कर बही के एक कोने मे निशान लगवाया। इस के बाद दस रुपये वाले दो नए नोट सामने रख कर डाक बाबू अपने काम में जुट गए। ओणक्कन अब भी नहीं गया। उसे और कुछ करना-धरना नहीं था। उसने अपने अंगूठे की ओर घूर कर देखा। फिर स्याही लगी उस अंगुली को माथे पर रख कर एक तिलक लगाया, पीला कागज अपने कपड़ों में छिपाया और उन नए नोटों को उठा कर सूंघा, उन में से खुशबू निकल रही थी, नए बांस के दानों की सी खुशबू। उन नए नोटों को भी आंचल मे बांध कर वह खराब नहीं करना चाहता था। उसने चाहा कि उन्हें हवा मे उड़ा दे। लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। खाकी रंग वाली कमीज़ की जेब मे रख लिया।

ओणक्कन! अभी गया नहीं—डाक बाबू की रूखी आवाज़ गूंजी। वह चौंक पड़ा, जैसे किसी बाघ की चिघाड़ सुनी हो। उसने बाबू की ओर कातर दृष्टि से देखा। फिर कोने में पडी दुलहिन की ओर अंतिम बार देख कर धीरे-धीरे बाहर चला गया।

वह जाए कहां ? कोई स्थान नहीं जहां वह जा सके। एक प्रेत की भांति वह बरामदे में चक्कर काटता रहा फिर रास्ते में आया और वहां 'सूर्यकान्ति' के पेड़ की बाहर निकली हुई मोटी-मोटी जड़ों पर उसने धरना देने की तैयारी की। अपने बचपन और डाक विभाग से चिपटी हुई अपनी लम्बी ज़िन्दगी की स्वप्निल तसवीरें उस की आंखों के सामने घूमने लगीं।

चौदह साल की उम्र में अपने बाप के साथ मैसूर खेद्दे पर जाना, छ: महीने तक वहां भीलों के साथ 'काक्कन कोटु' के जंगलों में हाथी पकड़ने की तैयारी में रहना और खेद्दा शुरू होने पर हाथी के शिकारियों के साथ हो-हल्ला मचाते हुए जंगल भर घूमना आदि बातें उसने याद कीं। वाह! कैसे रंगीन और मनभावन थे वे दिन।

फिर उसका बाप पेट के दर्द के कारण चल बसा। वह अपने गांव वापस आया। कुछ साल जंगल में पेड़ काटने आने वालों और हाथी का शिकार करने वालों की मदद करते हुए किसी तरह बिताए। इस बीच में शादी भी की। अभी शादी हुए दो ही साल बीते थे कि उसकी औरत किसी दूसरे भील के साथ मैसूर भाग गई। फिर से शादी करने की बात उसे नहीं सूझी। उसका सब से बड़ा अरमान था एक महावत बनना, जो कभी पूरा नहीं हुआ।

इसी बीच 'कुन्तूजर' के चाय बागान के पास एक डाकघर खुला। डाक विभाग वालों को वहां एक 'मेल रनर' की ज़रूरत थी। लेकिन एक भी आवेदन पत्र न आया। कारण यह था कि ब्रांच आफिस से सब-आफिस पांच मील दूर था और भयानक जंगल से हो कर रास्ता तय करना पड़ता था, वहां खूंख्वार हाथी पाए जाते हैं; और वेतन सिर्फ दस रुपये।

किसी ने ओणक्कन को उकसाया और नौकरी उसी को मिली। ओणक्कन को नियुक्त करने में पहले डाक बाबू हिचकिचा रहा था। जंगलों में भटकने वाले भील को कोई जिम्मेदाराना काम सौंपना कहां तक ठीक है ? डाक थैली में चाय बागान के गोरों के नाम आने वाले पत्रों के अलावा तरह-तरह की कीमती चीजें भी रहती हैं। लेकिन थोड़े ही दिनों में डाक बाबू का सन्देह दूर हो गया। उसे यकीन आ गया कि इस काम के लिए सौभाग्य से ही ओणक्कन जैसा आदमी मिला है। डाक थैली कंधे पर रखे हाथी की ताजी लीद पर, जिस में से भाप निकल रही हो, पैर रख कर बांस के जंगलों से भागने में उसे बड़ा मजा आता था।

सरकार की तरफ से आत्मरक्षा एवं अधिकार चिह्न के तौर पर ओणक्कन को एक भाला दिया गया था। बांस का भाला जिस के सिर पर एक नूपुर लगा हुआ था। वह जंगली जानवरों को डराने एवं अपने आगमन की सूचना दूसरों को देने के इरादे से नूपुर को ज़ोर से हिलाते हुए भागता। हमेशा दौड़ते रहने की ज़रूरत न होने पर भी ओणक्कन ने समझ रखा था कि सरकार का हुक्म है कि दौड़ते ही रहना चाहिए। उसने लोगों से यह भी कह दिया था कि अगर नूपुर की आवाज़ सुनने पर भी कोई रास्ते से हट नहीं जाता तो उसे भाले से मार डालने का अधिकार भी सरकार की तरफ से उसे मिला है। लेकिन किसी पर यह अधिकार चलाने की नौबत नहीं आई।

वह रोज़ दस मील चलता। जंगली जानवरों के लीला-क्षेत्र बांस के वनों के पास पहुंच कर वह उत्साह से भर जाता। हफ्ते में दो-चार बार वह वहां हाथियों से मुलाकात अवश्य करता। उस वक्त भाग जाने के बदले उनके पास जा कर तरह-तरह के शब्द करते हुए नाचता-कूदता और उनको तंग करता। हाथी की सब तरह की आदतों और रंग-ढंगों से वह आगाह था। उन की पकड़ से छूट जाने और पीछा करने पर निकल भागने की सारी पैंतरेबाज़ियां उसे आती थीं। हाथियों को तंग कर के उन्हें भड़का देना उस का बड़ा खतरनाक शुगल था। वह डींग मारता— अब तक कोई हाथी उसे छू तक नहीं पाया है।

उस सूर्यकान्ति के पेड़ की जड़ पर बैठ कर उस ने कई हाथियों की कहानियां सोचीं। उस जंगल का एक हाथी एक बार बैल गाड़ी को चकनाचूर कर के उस की लालटेन सूंड़ से उठा कर चला था। सौदागर मौयूत हाजी को नंगा कर के एक हाथी ने उसे जंगल भर भगाया था। उन सभी हाथियों से ओणक्कन खेला था और कोई उसे सूंघ तक न सका। तरह-तरह की घटनाओं से रंगीन २२ साल उस ने उन जंगलों में इधर-उधर दौड़ कर बिताए हैं। आज वही सरस एवं साहसपूर्ण जीवन उससे छीना जा चुका है, वह इस पर विश्वास नही कर सका। उसकी आंखों के सामने अंधेरा छा गया।

भों............भों............भों !

बस का हार्न, सुन वह जाग पड़ा। बस सरकती-सिसकती डाक घर के सामने आ खड़ी हुई। उसका रंग काला था जो उस नारियल की पेटी की तरह थी जिस पर चक्के लगे हों। अन्दर कुछ मुसाफिर बैठे थे।

डाक बाबू ने उस मेल बैग को, मंगल सूत्र धारिणी उस दुलहिन की बारात को, बाहर ला कर कंडक्टर को पकड़ा दिया। भों......भों......भों आवाज़ के साथ गाड़ी चली और चंद ही मिनटों में ओझल हो गई, जैसे ओणक्कन के प्राण भी अपने साथ ले कर।

ओणक्कन सोचने लगा—थोड़ी ही देर में बस हाथी वाले जंगलों में घुस जाएगी। वंशवनों, चट्टानों और साल वृक्षों से भरे उस विशाल वन मार्ग से हो कर जब बस रेंगने लगेगी तो क्या हाथी चुपचाप देखते रहेंगे? जब हाथी चिघाड़ते हुए हमला कर देंगे तो वंशवनों से वह नारियल की पेटी अपने को छिपा सकेगी? उसे याद आया कुछ दिनों से एक आवारा हाथी को जिस के दाएं कान पर एक सफेद दाग है एक महीने से वह रोज देखता आ रहा है। मालूम होता है मेल रनर के आगमन का समय ठीक-ठीक वह गजराज जानता है। ठीक समय पर उसके आगमन के इन्तजार में वह हाथी वहां कही छिपा खड़ा रहता है। मगर ओणक्कन होशियार था। वह सूंघ कर हाथी का पता लगा लेता और पीछे से तंग करने का रास्ता निकाल लेता। दो-तीन बार उस कमबख्त हाथी के पीछे से उस की झाड़ूनुमा पूंछ पकड़ कर उसने खींच ली थी और भाग गया था। कई बार दोनों के बीच दौड़ की स्पर्द्धा भी चली। लेकिन कल मामला कुछ संगीन होते-होते रह गया था। बात यह हुई कि ओणक्कन हाथी के इतने नजदीक पहुंच गया कि ऐसा लगा कि अभी पकड़ा, अभी पकड़ा। किसी तरह जान ले कर वह बांसों के बीच छिप गया। वंशवनों के टेढ़े-तिरछे रास्तों से हाथी आसानी से पीछा नहीं कर सकता। दोनों की यह आंख-मिचौनी एक घंटे तक चली। आखिर डाकघर पहुंचने का समय हो गया तो खेल बन्द कर लुक-छिप कर भाग गया। उस ने दूर से देख लिया था कि यह समझ कर कि वह कहीं छिप कर बैठा है, हाथी सूंड उठा कर हवा में सूंघते हुए उसका पता लगाने की चेष्टा कर रहा था।

हाथी आज भी उसकी प्रतीक्षा में वहां अवश्य आया होगा।

वह वहां से उठा और चलने लगा। कंधे पर थैली नहीं, हाथ में भाला नही। इसलिए चाल ठीक तरह से नहीं होती। तो भी अनजान में लम्बे डग भर कर ताल के साथ चलने की पुरानी रीति अपने आप आ ही गई। वह भागने लगा।

वह वंशवनों के पास पहुंचा। अत्यन्त नीरवता छाई हुई थी। वंशवन हवा में हिल रहा था। एक बांस के पेड़ पर बैठी एक मैना झूला झूल रही थी, नीचे ज़मीन के पहियों के निशान साफ नजर आते थे।

अचानक उसे लगा कि वंशवनों के पीछे एक चट्टान हिल रही है। अर्द्ध चन्द्राकार दागवाला कान हौले-हौले झूल रहा है।

फ़िरदौसी का शाहनामा

हीरालाल चोपड़ा



शाहनामा ईरान की राजतरंगिणी है, जिसे वहां के सर्वश्रेष्ठ कवि फ़िरदौसी ने रचा था। फ़िरदौसी तूस का रहने वाला था और सुलतान महमूद गज़नवी के युग का सर्वमान्य कवि था। फ़िरदौसी ६३५–६३६ में तूस में पैदा हुआ। तूस ईरान के बहुत पुराने नगर खुरासान के निकट है और आजकल मशहद के नाम से याद किया जाता है। इस गांव में जन्म लेने के पश्चात फ़िरदौसी ने ईरान की पौराणिक कथाओं को पद्य में लिखा और गांव के लोगों को इकट्ठा करके सुनाया करता। मन में आया कि किसी राजा-महाराजा की यदि छत्रछाया प्राप्त हो जाए तो जीवन आराम से कट जाए। इसी विचार को ले कर फ़िरदौसी गज़नी में पहुंचा, तो नगरी के बाहर ही एक वाटिका में तीन कवि अपनी कविता की परीक्षा कर रहे थे। वे थे—उनसरी, फ़र्रुखी और असजदी, और तीनों दरबारी कवि थे। उन्होंने इस नव-आगत को सिर से टालने के लिए यह बहाना बनाया कि उनकी सभा में केवल वही सम्मिलित हो सकता है, जो उनकी तरह कवि हो। फ़िरदौसी ने इस शर्त को स्वीकार किया और उनकी सभा में बैठ गया। उनसरी ने एक पंक्ति कही "चूं आरज़े तो माह नवाशद रौशन" यानी तुम्हारे गाल की तरह तो चांद भी नहीं चमकता। फ़र्रुखी ने कहा—"मानिन्दे रुखत गुल नववद दर गुलशन"—यानी वाटिका में तुम्हारी छवि जैसा पुष्प भी नहीं होता। असजदी ने कहा—"मिजगांत हमी गुज़र कुनद अज़ जोशन"—यानी तेरी आंखों की पलकें ढाल को चीर कर पार निकल जाती हैं। इन तीनों पंक्तियों पर फ़िरदौसी ने चौथी पंक्ति लगाई—"मानिन्दे सिनाने गेव दर जंगे पशन" अर्थात पशन के युद्ध में गेव के भाले की नाई। अन्य कवियों ने पशन के युद्ध का वृत्तान्त पूछा, जिसका फ़िरदौसी ने पूरा वर्णन किया। इससे यह सिद्ध हुआ कि फ़िरदौसी को ईरान की पौराणिक कथा पर भी पूरा अधिकार था। इसी प्रकार इन कवियों के ज़रिए फ़िरदौसी राज-दरबार में पहुंचा और सुलतान महमूद ने प्रसन्न हो कर उसको यह कार्यभार सौंपा कि वह ईरान का इतिहास पदों में लिखे और उसके पश्चात जब पूरा करके लाए, तो उसे राज-दरबार से हर पद के लिए सोने की एक मुहर मिलेगी।

फ़िरदौसी इस कार्य में जुट गया और कई बरसों तक इसी में लगा रहा। जिस मंत्री ने उसे यह काम सुपुर्द करवाया था, वह मंत्रिपद से हट गया और दूसरा मंत्री हो गया। जब फ़िरदौसी शाहनामा पूरा करके राज-दरबार में पहुंचा, तो वज़ीर ने महमूद से कहा कि इस कविता पर इतना पारितोषिक देने की क्या आवश्यकता है? केवल चांदी के रुपये ही बहुत होंगे। फ़िरदौसी ने चांदी के रुपये लेने से इनकार कर दिया और महमूद के विरोध में एक कविता लिख कर गज़नी से भाग गया। उस कविता के पद अमर हो गए और महमूद उनको जीते जी न धो सका।

वे यों थे—यके वन्दगी करदम ऐ शहरयार कि मानद जे, तो दर जहां यादगार—ऐ राजा मैंने तेरी नौकरी की, ताकि संसार में तेरी स्मृति स्थापित हो जाए ।

—पै अफ़गंदम अज नज्म काखे वलंद । कि अज़वादोवारां न यावद गज़ंद

कविता से मैंने एक ऐसे ऊंचे महल का निर्माण किया, जिसको हवा और वर्षा से कोई हानि नहीं पहुंच सकती है ।

—वसे रंज वुर्दम दरी सालसी । अजम ज़िन्दा करदम वदीं पारसी

तीस वर्षों तक मैंने वहुत दुख उठाए और ईरान के इतिहास को इस कविता से अमर कर दिया ।

—चो वरवाद दादंद गंजे मरा, न वुद् हासिले सीओपंजे मरा

मेरी सम्पत्ति को हवा में उड़ा दिया और मेरे पैंतीस वर्षों के परिश्रम को निरर्थक कर दिया गया ।

—अगर शाहराशाह बूदे पिदर, वसर वर निहादे मरा ताजे ज़र

यदि राजा किसी राजा का पुत्र होता तो मुझे सिर पर सोने का ताज देता ।

—वगर मादरेशाह बानू बुदे, मरा सीमोज़र ता वज़ानू वुदे

और यदि राजा की माता कोई राजकन्या होती, तो मुझे घुटनों तक सोना-चांदी देता ।

—परस्तार जादा नियायद वकार, अगर्चे वुवद जादये शहरयार

परन्तु लौंडी का वच्चा किसी काम नहीं आता चाहे वह वादशाह का बेटा क्यों न हो । और लिखा कि यदि एक वृक्ष को जिसका कि बीज कड़वाहट पैदा करने वाला है, उसे स्वर्ग में भी क्यों न लगा दिया जाए, और स्वर्ग के अमृत-विन्दुओं से उसे सींचा जाए और शहद से उसे पाला जाए, फिर भी वह कड़वा ही फल देगा ।

यह कविता लिख कर फ़िरदौसी गज़नी से भाग गया । महमूद ने १७ बार भारतवर्ष पर आक्रमण किया और कई राज्यों के चिह्न तक मिटा दिए, परन्तु फ़िरदौसी के इन थोड़े से पदों को न मिटा सका और वे शाहनामे से भी अधिक ख्याति प्राप्त कर गए ।

शाहनामे में फ़िरदौसी ने इतिहास-पूर्व के राजाओं के वर्णन से ले कर इस्लाम के आक्रमण तक का ज़िक्र किया है । इसमें जमशेद, फरेदूं, कैकाऊस, कैखुसरो, गुश्तास्प, अफ़रासियाव, सियाऊश जैसे राजाओं का वर्णन है । और योद्धाओं में रुस्तम और उसके वेटे सुहराव और दोनों वाप-बेटों के अज्ञात युद्ध की विशेष कथा । इसफ़न्दियार जैसे शूरवीर का भी वर्णन है और रुस्तम के घोड़े रख्श की भी वह वीरता दिखाई है कि कई वीर उस पर न्योछावर किए जा सकते हैं ।

इन सब कथाओं के साथ यह एक सचाई है कि फ़िरदौसी अपने देशवासियों में देश के पुराने इतिहास के लिए भक्ति प्रेरित करना चाहता था । यद्यपि वह मुसलमान था, परन्तु पहले ईरानी था और वाद में मुसलमान । जब अरव के लोगों ने ईरान पर आक्रमण किया, तो मुसलमान होने के कारण फ़िरदौसी को उनका स्वागत शोभा दे सकता था, परन्तु वह अरवों के लिए हमेशा घृणाजनक शब्द ही प्रयोग करता है और अरवों के ईरान पर आक्रमण को इस प्रकार लिखता है :—

—ज़ि शीरे शुतुर खुरदुनो सूसमार,
अरवरा वजाए रसीदस्त कार !

ऊंटनी का दूध पीने वाले और गोह खाने वाले अरवों को इतना साहस हो गया है

—कि तख़्ते कियां रा कुनन्द आरज़ू,
तुफ़ बर तो ऐ चर्खे गरदां तुफ़ू ।।

कि ईरानियों के राज्य की आकांक्षा करने लगे हैं, धिक्कार है ऐ आसमान ! तुझ पर धिक्कार है ।

फ़िरदौसी की इतिहास परायणता, कविता में प्रतियोगिता, ईरान के प्रति देशानुराग, योद्धाओं के लिए भक्ति, भीरुओं और कायरों के लिए घृणा और देश के लिए जागृति उसके विशेष उद्देश्य हैं। इतिहास में फ़िरदौसी ने ईरान की बहुत पुरानी इतिहास-पुस्तकों से संग्रह किया है। कविता में वह स्वयं फ़ारसी भाषा में युद्ध-ताण्डव का जन्मदाता है। रुस्तम उसका प्रिय योद्धा है। एक हज़ार वर्ष बीत जाने पर भी आज कई हस्तियां ईरान और भारत में पाई जाती हैं, जिनको शाहनामा के साठ हज़ार पद स्मरण हैं और जो इसको धार्मिक पुस्तक का स्थान देते हैं। उस समय के ईरान का शाहनामा विश्वकोष है, जिसमें ईरान का धर्म, ज्ञान, दर्शन और सब कुछ पाया जाता है।

कहते हैं कि महमूद एक बार हिन्दुस्तान से लौट रहा था और एक ग्राम के बाहर डेरे डाले हुए था कि उसके वज़ीर ने विरोधी राजा को पत्र लिखा और उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा था कि फ़िरदौसी का यह पद पढ़ा—

—अगर जुज़ बकामे मन आमद जवाब,
मनो गुर्ज़ मैदानों आफ़रासियाब।

यदि मेरी कामना के प्रतिकूल उत्तर आया, तो मैं हूंगा, मेरा गुर्ज होगा और रण-क्षेत्र में अफ़रासियाब होगा ।

इस उत्तर को सुन कर महमूद फड़क उठा और पूछा कि यह पद किस कवि का है ? तो उस मंत्री ने कहा कि यह पद उस अभागे फ़िरदौसी का है, जो जीवन भर आपके यश और कीर्ति गान के लिए ईरान का इतिहास पदों में लिखता रहा और अंत में अपने उद्देश्य में असफल हुआ। महमूद ने गजनी पहुंच कर आदेश दिया कि तुरन्त साठ हज़ार सोने की मुहरें फ़िरदौसी को पहुंचाई जाएं। जब मुहरें ले जाने वाले अफ़सर तूस पहुंचे, तो देखा कि फ़िरदौसी का जनाजा जा रहा था। उसकी लड़की ने यह इनाम लेने से इनकार कर दिया और कह दिया कि दरिया का बांध बांध दिया जाय, सो उस रुपये से बांध बना दिया गया।

शाहनामे में कई जगह भारतवर्ष का भी वर्णन आता है। नौशेरवां के युग में शतरंज का खेल यहां से गया। बरजूई अमर-वृक्ष की खोज में आया, तो यहां से पंचतंत्र ले कर गया और वहां उसका नाम कलेलह व दमनाह रखा। यही वह पुस्तक थी, जिससे ज्ञान में वृद्धि हो कर अमर पद प्राप्त होता है।

बहरामगोर भारतवर्ष आया और यहां की एक राजकन्या सपीनूद से ब्याह किया और इसी बहरामगोर ने हिन्दुस्तान के राजा शंगल से कई हजार गायक मंगवाए थे। अन्य मुसलमान कवि जब भारतवर्ष का वर्णन करते हैं, तो घृणा के शब्दों का प्रयोग करते हैं। परन्तु फ़िरदौसी हर स्थान पर हिन्दुस्तान को गौरव से स्मरण करता है, क्योंकि वह जानता है कि दोनों देश आर्य संतान में थे और दोनों की जड़ एक है।

शाहनामा की अन्य विशेषताएं ये हैं कि इसमें अरबी के शब्द बहुत कम हैं। यह पहली पुस्तक है, जो एक मुसलमान ने लिखी और अरबी के शब्दों का कम प्रयोग किया है। दूसरी विशेषता यह है कि यह केवल रणक्षेत्रों का ही वर्णन नहीं करता, बल्कि उस समय का सारा विवरण दिया है। उस युग की संस्कृति और सभ्यता, दरबार के ढंग, लिबास, विवाह,

वाद-विवाद आदि के बारे में सब कुछ बताया है कि यह सब किस प्रकार किया जाता था। तीसरी विशेपता यह है कि आमोद-प्रमोद को लिखते हुए फ़िरदौसी शाहनामा में अश्लील और असभ्य नहीं होता, बल्कि उन दृश्यों का नीची दृष्टि करके सभ्यता की सीमा तक ही वर्णन करता है। फ़िरदौसी की लेखनी की चौथी विशेपता यह है कि वह जहां रणक्षेत्र के बारे में मौलिक विचार प्रकट करता है, वहां सभा और दरबार को भी उसी ज़ोर से वर्णित करता है, जहां सुगन्धि की वाटिका में नए-नए पुष्प दिखाई देते हैं। पांचवीं विशेपता हर अवसर की छोटी-छोटी बातों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। छठी विशेषता इस काव्य को यह है कि युद्धस्थल में रोने-पीटने का कम मौका होता है, परन्तु जहां ऐसा दृश्य दर्शाना आवश्यक है, वहां उसको बड़े ठाठ से कविता में बांधा है। सातवीं विशेपता यह है कि थोड़े शब्दों में विस्तृत वर्णन आ जाता है। आठवीं विशेपता शब्दों का सौन्दर्य और सदुपयोग है।

शाहनामा में ईरान की पूरी संस्कृति विद्यमान है। नीच वर्णों में शिक्षा कम थी। महिलाओं को गाने की शिक्षा दी जाती थी। उनकी धर्मपरायणता की बहुत चर्चा है। दोभाषी लोग भी बहुत थे। शिक्षा को प्रधान माना जाता था। "तवाना बुवद हर कि दाना बुवद" अर्थात जो सुशिक्षित है, वही बलवान है। और आज भी ईरान की हर पुस्तक पर शाहनामे की यह पंक्ति उस महान काव्य की स्मृति को अमर रख है।

ईरान में शाहनामे को वही पद प्राप्त है, जो भारतवर्ष में रामायण और महाभारत को। शाहनामे के योद्धाओं और राजाओं को आज भी पूजा जाता है। जमशद ने नववर्ष-उत्सव को मनाना आरम्भ किया और आज भी इस्लाम के तेरह सौ साल के पश्चात ईरान उसी दिवस को बड़ी धूमधाम से मनाता है। शाहनामे से ईरान का वैभव स्थापित होता है और जब तक शाहनामा जीवित है, ईरान अपनी पुरानी परम्परा को कभी नहीं भूल सकता।

—कलकत्ता से प्रसारित

गोभी का फूल

केशवचन्द्र वर्मा



आप बाबू हनुमानप्रसाद को नही पहचानते होंगे, पर बाजार के सभी कुंजड़े उन्हे अच्छी तरह से जानते-बूझते है। सारी साग-सब्जी वे बाजार से रोज खरीद कर ले जाते है। हरी धनिया की गड्डी पैसे-पैसे या दो पैसे की तीन लेना, हरी प्याज के साथ-साथ हरी मिर्चे भी अपनी टोकरी मे डलवा लेना, शलजम को पत्ते तुड़वा कर तुलवाने का आग्रह, आलू छांट-छाट कर चढ़वाना और सड़ा-कुम्हड़ा दूसरे दिन कटा हुआ वापस करना, अरबी धुलवा कर मिट्टी हटा कर लेना, आदि अनेक ऐसी बाते है जिनके कारण तरकारी मण्डी का हर कुंजड़ा उन्हें पहचानता है। ऊपर से सब कुंजड़े उन्हे देख कर 'आइए बाबू जी' का नारा लगाते है, पर भीतर से कोई नही चाहता कि वे उस की दूकान पर ही उस दिन के बाजार का व्रत तोड़े, क्योंकि बहुत देर तक उसे यह हिसाब लगाना पड़ता है कि घाटे मे आखिर कौन रहा ?

हनुमानप्रसाद जी को हरी सब्जी का मर्ज है। सारे ससार मे यदि किसी वस्तु को वे आदि कारण मानते है तो वह है —— हरी सब्जी। किसी बात पर आप उनसे बात चलाएं, पर अन्त मे इसी विश्वास के साथ उठेंगे कि संयुक्त राष्ट्र संघ मे कोरिया या चीन का मसला सिर्फ हरी साग-सब्जी की कमी के कारण अटका पड़ा है, किस सब्जी में कितने विटामिन होते हैं, कितना लोहा, कितना चूना, कितना कत्था, कितनी लकड़ी, कितना ईटा-गारा वगैरह होता है—इस का जैसा विशद ज्ञान उनको है, वैसा किसी पोस्ट-मास्टर को अब तक निकली हुई टिकटों के बारे मे भी न होगा। हनुमानप्रसाद जी को ताजमहल का 'रिप्लिका' भेट कीजिए तो वे बुरा मान सकते है, पर इसकी बजाए यदि आप उन्हे एक झाबा सोवा-मेथी का साग भेट कर दे तो आप उनके सहृदय मित्र माने जा सकते है। सुनते है कि शादी के अवसर पर तो उन्हे इतनी साग-सब्जी भेट मे मिली थी कि सरकारी मण्डी वाले महीने भर उनकी सूरत देखने को तरस गए। किसी को कही बाहर आते-जाते देखते तो मौसमी तरकारी की फ़रमाइश वे जरूर कर देते थे।

शामत के मारे मेरे मुह से उस दिन निकल पड़ा कि मै लखनऊ जा रहा हूं। छूटते ही बाबू हनुमानप्रसाद बोले— "अरे भई वर्मा साहब, आप लखनऊ जा रहे है तो हमारे लिए चार फूल गोभी लेते आइएगा। अभी यहां गोभी का अच्छा फूल मिलता नही। सुना है कि लखनऊ मे दो-दो आने मे अच्छे फूल मिल जाते है।"

मैने "हां" या "ना" कहा हो, इस के पहले ही उन्होंने अठन्नी मेरे हाथ मे रख दी और मुझे अकेले मे ले जा कर बोले—

"देखिए, वर्मा जी, पता नहीं आपने कभी तरकारी-सब्ज़ी ख़रीदी है कि नहीं ? फूल ज़रा गंठा हुआ लीजिएगा। बिखरा हुआ फूल ज़रा जल्दी ख़राब हो जाता है। और देखिए, उस पर झाँई पड़ जाती है, वह न रहे। बहुत-से गोभी वाले पत्ता निकाल लेते हैं, सो पत्ता न निकालने पावें। पूरी गोभी लीजिएगा। पत्ते में जो कैलोरीज़ होती हैं, वह फूल में तो होती ही नहीं। पत्तों के डंठल का अचार बड़ा अच्छा होता है। उसकी सब्ज़ी तो आपने खाई ही न होगी। लौट आइए, तो खिलाऊं। ज़रा-सा मद्धिम आँच पर पाव भर पानी में उबाल कर नमक मिर्च डाल कर खाइए, तो देखिए लाल-लाल कल्ले निकल आएंगे।"

वे हर सब्ज़ी के बारे में इतना कुछ कह सकते थे। मैं इसलिए चुप था। वे साँस ले कर फिर बोले—"अच्छा सुनिए, फूल में कभी-कभी छोटे-छोटे कीड़े लग जाते हैं। उसे झाड़ कर लीजिएगा। पानी में भीगा हुआ फूल न लीजिएगा, बड़ी जल्दी ख़राब हो जाता है। अच्छे गोभी के फूल में कच्चा हो तो भी विटामिन डी०, ए०, बी० काफ़ी अच्छा रहता है।"

मैंने उन्हें याद दिलाया कि यदि मैं गोभी के फूल का पूरा महात्म्य सुन कर गया, तो गाड़ी छूटेगी, नौकरी छूटेगी और गोभी का फूल भी छूट जाएगा। सब पर संकट की बात सुन कर हनुमानप्रसाद ने मुझे छोड़ दिया।

लखनऊ में हज़रतगंज, सिनेमा, नाटक, नुमाइश, काफ़ी-हाउस सब कुछ छोड़ कर मैं तरकारी मंडी में घुसा। वे तीन आने से नीचे देने को तैयार न थे, पर मुझे तो दो आने वाला ही फूल चाहिए था—हरे पत्ते वाला, जिस के डंठल का अचार बन सके, जिस के खाने से लाल-लाल कल्ले निकल आवें। लौटने का वक़्त होने आया। पर मंडी वालों ने दो आने पर उतरने के लिए हामी न भरी। हार कर तीन-तीन आने गोभी के फूल ख़रीदे। चार फूल उनके लिए और सोचा अगर ये इतने नायाब हैं, तो दो-चार अपने लिए भी ले लूं।

प्लेटफ़ार्म पर हाथ में एक अदद ख़ूबसूरत अटैची के साथ एक झाबा गोभी के फूल ले कर सफ़र करने वाला मैं अपने ढंग का अकेला ही मुसाफ़िर दिखाई पड़ रहा था। टी० टी० आई० दो बार पास से गुज़रा। मुझ से नहीं, पर कुली से पूछ गया कि सामान बुक करवा लिया है या नहीं ? दो एक परिचित चेहरे दिखे, बोले — "कहिए बग़त कब है ?" संजीदगी से जवाब देता हुआ मैं प्लेटफ़ार्म पर बढ़ती हुई भीड़ और अपने गोभी के झाबे को देख रहा था। कुली से बार-बार दिलासा माँग रहा था। कुली चढ़ाने का आश्वासन दे रहा था पर एक रुपया इनाम चाहता था। मैं चाहता था कि गाड़ी आने पर "हाँ" "ना" करूं।

गाड़ी आई. ठसाठस भरी हुई. मेल। मारामारी का सीन ! गाड़ी वालों और बेगाड़ी वालों में वर्ग संघर्ष। अंततः दृश्य में कुछ शान्ति आई। धीरे-धीरे लोग पानी लेने के लिए डिब्बे से बाहर निकले। मेरे कुली ने 'अब न चूक चौहान' की तरह मुझे ललकारा। मैं भीतर घुसने लगा। भीतर वाले मुझे दूसरे डिब्बे में ख़ाली जगह के बारे में अतिरिक्त जानकारी के साथ रेलवे के सारे क़ानून एक-साथ समझाने को तुल गए। पर 'हया' नामक वस्तु मैं प्लेटफ़ार्म पर छोड़ कर ही डिब्बे के भीतर घुसा था। भीतर घुसते ही गोभी के फूलों की चिन्ता हुई। झाबा, पूरा भीतर नहीं आ सकता था। गोभी के फूल धीरे-धीरे करके भीतर आ रहे थे। आख़िरी इंस्टालमेंट में दो फूल प्लेटफ़ार्म से खिसक कर डिब्बे के नीचे पटरी पर पहुंच गए। झाबा भीतर कर लेने के बाद मैं कुली पर बिगड़ने लगा। कुली इनाम माँगने पर अटका हुआ था और मैं गिरी हुई गोभी का दाम। तू-तू, मैं-मैं बढ़ने लगी। दोनों अपनी-अपनी भाषा में एक-दूसरे को ऊंच-नीच कह रहे थे। अन्त में समस्या का शान्तिपूर्ण हल निकला अर्थात मैंने चार की जगह छः आने में छुट्टी पाई।

दूसरे के सामान को लोष्ठवत् देखने के लिए अपनी परम्परा से बहुत दिनों से आग्रह है। गाड़ी के भीतर, जब तक उठा ले जाने की सुविधा न हो, हर आदमी दूसरे का सामान ठीक इसी तरह देखता है। एक स्वर कहता था—"साहब उधर ले जाइए न"। दूसरा बोलता—"बेंच के नीचे कर दीजिए, बेंच के"। तीसरा ऊपर ले जाने का सुझाव देता। अगर जगह होती तो डिब्बे के सभी लोगों का सुझाव एक के बाद दीगरे पूरा कर देता। सुझाव बहुतेरे आए, पर कोई भी अपनी जगह से तिल भर हिलने के लिए तैयार न था, इसलिए निःशस्त्रीकरण की तरह गोभी के फूलों की भी समस्या ज्यों की त्यों थी। गोभी के फूलों का झावा वहीं नीचे पड़ा रहा। स्टेशनों पर गाड़ी रुकती रही और लोग उस में सब के मना करने पर भी उसी तरह घुसते रहे जिस तरह मैं घुसा था। मेरा अकेला कंठ डिब्बा खुलते ही मुझे सुनाई पड़ता था—"बचाइएगा देखिएगा, हां हां··उधर नहीं। इधर गोभी है, गोभी! अरे साहब, यह बंडल उधर डालिए, इधर गोभी है···अरे ट्रंक उधर ले जाओ जी···"

पर जब आदमी जनता हो जाता है, तो कौन किस की सुनता है। सो मेरी भी किसी ने न सुनी।

जब तक इलाहाबाद स्टेशन न आ गया, मैं अपने गोभी के झावे को जी भर देख भी नहीं पाया। भीड़ उसे छापे रही। इलाहाबाद आने पर ही मैंने उसे किसी कदर देखा। गठे हुए पत्तेदार गोभी के फूल जनता की इतनी लातें खा चुके थे कि उन्हें हारे हुए उम्मीदवार की तरह पहचानना कठिन लग रहा था।

इतने हमलों के बाद भी कितने विटामिन उनमें शेष बचे है, यह मै उन्हें बाबू हनुमानप्रसाद तक पहुंचा कर मालूम करना चाहता था, पर हिम्मत नहीं पड़ी। यहीं के बाजार से पांच-पांच आने के फूल खरीद कर, लखनऊ के कह कर, उन्हें दे आया हूं और उसके बदले में लखनऊ में मिलने वाली सस्ती तरकारी पर उनका एक सारगर्भित भाषण सुन कर अभी लौटा हूं।

—लखनऊ से प्रसारित

तेलुगु

राममूर्ति रेणु



भारतीय संस्कृति एक भव्य शतपत्रकमल है जो कि अपने अनेकानेक रंगीन दलों से एक ही प्रकार का भाव-सौरभ फेंकता है। शान्ति और सहजीवन का मधु संसार के सारे राष्ट्र मधुपों को युग युगों से वितरित करता आ रहा है। उस मधु से अनुप्राणित जन संस्कृतियों के संगीत आज भी विश्व प्रांगण को मुखर-मंगल बना रहे हैं।

सम्पन्न साहित्य से समृद्ध विविध भाषाओं के भाव मकरंद को एक सुन्दर चषक में संजो कर उसका आस्वादन करने तथा औरों को कराने की आवश्यकता सम्प्रति सर्वोपरि है। यह तो नव-युग की एक जबरदस्त मांग है। पिछली दो दशाब्दियों में यह कार्य अनुवाद साहित्य के रूप में हुआ है। राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रादेशिक भाषाओं की अनेक उत्तम कृतियों के अनुवाद एवं अनुकरण होने लगे है। इस नवीन साहित्यिक प्रयास में तेलुगु के लेखक कहां तक आगे बढ़ रहे है, इसका थोड़ा सा उल्लेख यहां किया जाता है।

सन् १९२० में महात्मा जी के राष्ट्रभाषा प्रचार आन्दोलन के साथ राष्ट्र को एक ऐसा सबल माध्यम मिला, जिसके सहारे वह अपने भाषा विषयक वैविध्य के बावजूद भी विभिन्न प्रान्तवासियों के बीच विचार-विनिमय का कार्य चला सकता था। हिन्दी ने दक्षिणापथ में राष्ट्रीयता तथा नव जागरण के जयनाद के रूप में प्रवेश किया। सभी प्रान्तों ने उसका स्वागत दिल खोल कर किया। उस के पठन-पाठन में आत्मीयता पूर्ण आसक्ति प्रदर्शित की। फिर स्वतन्त्रता के आन्दोलन के साथ उसका महत्व सुदृढ़ रूप से प्रतिष्ठित हो चला। राष्ट्रभाषा के साथ-साथ राष्ट्रकवि और लेखक सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, प्रेमचन्द आदि की रचनाओं के अनुवाद अथवा अनुकरण तेलुगु में किए जाने लगे। बाबू मैथिलीशरण गुप्त और श्री त्रिपाठी, आदि के खंड काव्यों के तथा प्रेमचन्द, कौशिक आदि की कहानियों व उपन्यासों के अनुवाद होने गए। हिन्दी की लहर के जरिए बंग साहित्य तथा महाराष्ट्र व गुजराती साहित्य का जीवन भी आन्ध्र में प्रवाहित होने लगा।

हिन्दी द्वारा साहित्य के इस आदान के साथ ही अपनी साहित्य वाटिका के कृति सुमनों का सौरभ प्रदान भी अन्य प्रान्तवासियों को कराना कितना आवश्यक है, यह बात आन्ध्र के हिन्दी लेखक तथा हिन्दी प्रचारक संस्थाएं दोनों ही समझ गए। उनके सम्मिलित प्रयत्नों से कुछ ऐसा साहित्य प्रस्तुत हुआ, जिससे कि राष्ट्र साहित्य की थोड़ी-बहुत उन्नति हुई है।

राष्ट्रीय आन्दोलन को अपनी रचनाओं के द्वारा बहुत शक्ति पहुंचाने वालों में स्वर्गीय प्रेम-चन्द का नाम आदर से लिया जाना चाहिए। उनका सारा जीवन राष्ट्रीयता की वेदी पर चढ़

चुका था। उन्होंने ही सम्भवतः पहले-पहल इस बात का अनुभव किया कि यदि हिन्दी को सचमुच राष्ट्र भाषा बनाना है, तो उसे सब प्रान्तीय साहित्यों से जीवनशक्ति प्राप्त करनी होगी। इस आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए उन्होंने 'हंस' मासिक पत्र निकाला, जिसमें हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं की रचनाओं के हिन्दी अनुवाद निकलते थे। सरस्वती प्रेस, हंस, प्रेमचन्द परिवार—इन्होंने इस प्रकार के साहित्य सृजन में काफी योग दिया। आज से करीब पंद्रह साल पहले सरस्वती प्रेस ने ही अपनी गल्प संसार माला के एक सुमन के रूप में १३ उत्कृष्ट तेलुगु कहानियों का एक सुन्दर संग्रह निकाला था। उसमें तेलुगु के प्रसिद्ध साहित्यकार सर्वश्री विश्वनाथ सत्यनारायण, अडिवि वापिराजु, चिन्ता दीक्षितुलु, गुडिपाटि वेकंटचलम् आदि की कहानियों के अनुवाद श्री वेमूरि आंजनेय शर्मा, यलमंचिलि वेंकटेश्वर राव वगैरह प्रचारक बंधुओं ने प्रस्तुत किए थे। इस उत्तम प्रकाशन के कतिपय कथा रत्न हैं—गोदावरी हंस पड़ी, भोगीर उपत्यका, मावली दुर्ग का कुत्ता, मेरा पत्नी-बच्चों वाला घर।

सरस्वती प्रेस की ही तरह कुछ साल बाद दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास ने दक्षिण की कहानियां नाम से तेलुगु कहानियों का संग्रह निकाला, जिसमें स्व० श्री सुरवरम् प्रताप रेड्डी, श्री चिन्ता दीक्षितुलु वगैरह प्रतिष्ठित लेखकों की उत्तम कहानियों के अनुवाद थे।

इन दोनों प्रकाशित पुस्तकों के अलावा अखबारों तथा मासिक पत्रों में कई एक उत्तम कोटि की तेलुगु कहानियों के हिन्दी अनुवाद इधर समय-समय पर निकलते रहे। ऐसे अनुवाद साहित्य के प्रकाशन में—आजकल, राष्ट्रभारती, भारती, नई धारा, अंजना, कल्पना, दक्षिण भारत आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने काफी उत्साह दर्शाया है। इधर संसदीय हिन्दी परिषद की ओर से निकलने वाले देवनागर मासिक पत्र की सेवाएं इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। देवनागर दक्षिण के प्रादेशिक भाषा साहित्य का न केवल हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करता है अपितु मूल रचनाओं की देवनागरी में प्रतिलिपियां भी दे रहा है। इस से दक्षिणी भाषाओं के शब्द विन्यास व सौन्दर्य का पता भी लग सकेगा। तेलुगु के कहानी साहिय का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करने वालों में सर्वश्री ईदर लक्ष्मी नारायण, वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति, सूर्यनारायण मूर्ति, राममूर्ति रेणु आदि नाम भी उल्लेखनीय हैं।

कथा साहित्य की भांति नाटक साहित्य में भी यह अनुवाद कार्य सन्तोषजनक प्रतीत हो रहा है। श्री मुद्दुकृष्ण के दो नाटक 'अशोक वन' व 'अनारकली' और विश्वनाथ कविराजु की रचना 'चालीस साल के बाद' इन तीनों के अनुवाद श्री ब्रजनन्दन शर्मा ने प्रस्तुत किए हैं। श्री आत्रेय के रूपक 'ईनाडु' का अनुवाद श्री वेमूरि आंजनेय शर्मा ने किया, जिसका सफलतापूर्वक अभिनय कई बार हुआ है। संगीत नाटक अकादेमी के अध्यक्ष श्री राजमन्नार के 'परकीया' नामक एकांकी का अनुवाद श्री सूर्यनारायण मूर्ति ने प्रस्तुत किया, श्री नोरि नरसिह शास्त्री के 'पतंगदानमु' का अनुवाद खगयात्रा के नाम से किया गया था जो कि भारती मासिक पत्र में निकला। इन के अतिरिक्त कई उत्साही उदीयमान हिन्दी प्रचारक बंधु इन दिनों अनुवाद कार्य में लगे हुए हैं। तेलुगु काव्य के क्षेत्र में यद्यपि यह अनुवाद कार्य अभी थोड़े ही वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ है, फिर भी जो एक-आध प्रकाशन अब तक निकले हैं, उनको दृष्टि में रखते हुए, यह आशा की जा सकती है कि इसका भविष्य प्रकाशमय है। सन् १९५० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने आन्ध्र प्रदेश के प्रसिद्ध संत कवि योगी वेमना के ३५० छंदों का अनुवाद प्रकाशित किया, जो कि इस दिशा में पहला कदम माना गया है। इस रचना में जिसका नाम 'आन्ध्र देश के कबीर श्री वेमना' है, अनुवाद के साथ-साथ मूल तेलुगु छंदों की देवनागरी लिपि में प्रतिलिपियां भी दी गई हैं। विषय प्रवेश के नाम से एक छोटा निबन्ध भी प्रारम्भ में दिया गया, जिसमें हिन्दी

साहित्य के संत कवि महात्मा कबीर के साथ सन्त वेमना के व्यक्तित्व एवं साहित्य की तुलना की गई है। पुस्तक की भूमिका संत साहित्य के अधिकारी विद्वान डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखी, जिसमें उन्होंने लिखा कि 'आन्ध्र देश के कबीर श्री वेमना' नाना दृष्टियों से महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, इसके द्वारा भारत के मध्ययुगीन सन्त साहित्य के अध्ययन में पर्याप्त सुविधा मिलती है। हिन्दी के लिए वेमना सर्वथा नूतन संत हैं। इन के अध्ययन से सन्तों की देशव्यापक सर्वमान्य प्रवृत्तियों का ठीक-ठीक पता चलता है। साहित्य सम्मेलन की ओर से प्रकाशित इस पुस्तक पर सन् १९५३ में उत्तर प्रदेश की सरकार ने पुरस्कार भी दिया था।

इधर दो-एक वर्ष पूर्व हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा ने अपना पंचामृत प्रस्तुत किया जिसमें तेलुगु भाषा के ५ प्राचीन महाकवियों के कतिपय चुने हुए छंदों के सरल हिन्दी अनुवाद संगृहीत हैं। सर्वश्री तिक्कना, पोतना, पेद्दना, वेमना और चैमकूर वैंकटकवि की रचनाएं इस में दी गई हैं। प्रारम्भ में कवि परिचय के रूप में प्राचीन तेलुगु साहित्य की प्रधान प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालने वाला निबन्ध भी जोड़ा गया है। श्री बालशौरि रेड्डी इस के लेखक हैं। प्राचीन तेलुगु का शतक साहित्य काफी सम्पन्न रहा है। कुछ वर्ष हुए नागपुर से निकलने वाली भारती में शतक साहित्य माला के नाम से तीन-चार लेख निकले थे, जिनमें कामुला पुरुषोत्तम कवि के आन्ध्र नायक शतक, पोतना के नारायण शतक, तथा भास्कर-शतक के कुछ पद्य सानुवाद दिए गए हैं।

प्राचीन तेलुगु साहित्य की भांति आधुनिक तेलुगु साहित्य में भी काफी अच्छी सामग्री अनुवाद करने लायक विद्यमान है। क्या कविता, क्या कहानी, क्या उपन्यास, क्या नाटक सभी क्षेत्रों में ऐसी सुन्दर कृतियां हैं, जिन को अपने में अनूदित करके राष्ट्र भाषा निखर सकती है।

साहित्य अकादेमी की स्थापना भारतीय वाङ्मय के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। अपने जन्म लेने की स्वल्प अवधि में यह जो कार्य कर चुकी है और अपने सम्मुख जो भावी योजना बना बैठी है उस पर दृष्टिपात करते हुए यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि इस के द्वारा राष्ट्र के सार्वप्रदेशीय साहित्यिक समन्वय एवं समरसता का महान अनुष्ठान जो कि इस जमाने का तकाजा है, सफल हो पाएगा। अखबारों में समय-समय पर प्रकाशित सूचनाओं से पता चलता है कि इस अकादेमी के द्वारा सरकार भारत के प्रांतीय भाषा साहित्यों की कतिपय उत्तम कृतियों के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कराने जा रही है। इस योजना से आशा की जाती है कि तेलुगु भाषा के कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ अनूदित हो कर हिन्दी में आ जाएंगे।

साहित्य अकादेमी की भांति कुछ प्रादेशिक सरकारों की ओर से भी हिन्दी के अनुवाद साहित्य को समृद्ध बनाने के प्रयत्न हो रहे हैं। सुनने में आया है कि मध्यप्रदेश की सरकार मराठी, तेलुगु, कन्नड़, तमिल आदि भाषाओं के कतिपय लोकप्रिय काव्यों के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करा रही है।

भारत की एकता को कायम रखने के लिए विभिन्न प्रदेश वालों का परस्पर एक दूसरे को समझना आवश्यक है। इस आवश्यकता को पूर्ण करने में अनुवाद साहित्य अत्यन्त समर्थ होता है। विविध भाषा भाषी लोगों के बीच विचारों का आदान-प्रदान इसके द्वारा भली भांति हो सकता है और इस अनुवाद साहित्य का राष्ट्रभाषा में होना राष्ट्रहित के लिए कितना जरूरी है, यह बताना आवश्यक नहीं रह जाता।

—दिल्ली से प्रसारित

गीत

वीरेन्द्र मिश्र



पवन सामने है, नहीं गुनगुनाना—
सुमन ने कहा, पर भ्रमर ने न माना ।

गगन ने धरा पर सुबह छन रही है,
किरन डोर खींचे बिना तन रही है,
दिए बुझ गए है नए जल गए है
सपन उठ गए है नयन मिल गए है ।

हवा देख कर ही सुनाना तराना—
सुमन ने कहा, पर भ्रमर ने न माना ।

जरा सांस ले दूर तट का ठिकाना—
तरणि ने कहा, पर लहर ने न माना ।

मुझे रात भर तू बहाती रही है,
थकी और मुझ को थकाती रही है,
'कहा सामने' बस यही शब्द तेरे,
वही झूठ वह भी सवेरे सवेरे ।

मुझे पार जाना, नहीं डूब जाना—
तरणि ने कहा, पर लहर ने न माना ।

ठहर कर मुझे मंजिलों तक चलाना—
पथिक ने कहा, पर डगर ने न माना ।

अभी है सुबह और आरम्भ मेरा,
भरोसा न है यह चरण दम्भ मेरा,
गगन धूपछांही, धरा धूपछांही,
कली देख रुकती न तू किन्तु राही ।

मुझे फूल ले कर तुझे है सजाना—
पथिक ने कहा, पर डगर ने न माना ।

अधूरे प्रणय का कथानक न गाना—
हृदय ने कहा, पर अधर ने न माना ।

डगर पार जाए वही तो पथिक है,
अगर हार जाए कहां वह श्रमिक है,
नही छोड़ता कवि कभी गीत आधा,
अधूरी समर्पित हुई थी न राधा ।

समझ-सोच गाना, बुरा है जमाना—
हृदय ने कहा, पर अधर ने न माना ।

—जयपुर से प्रसारित

'मेघदूत' का रामगिरि

डा० शुकदेव प्रसाद तिवारी



कालिदास का संस्कृत साहित्य में ही नहीं, विश्व साहित्य में भी अप्रतिम स्थान है। उन्होंने काव्य और नाटकों की सृष्टि में जो अपनी अभूतपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया है, उस पर संसार के सभी साहित्यिक मुग्ध हैं। जर्मन कवि गेटे तो उनके 'शाकुन्तल' नाटक को पढ़ कर झूम उठा था और उसकी वाणी से अनायास निकल पड़ा था—वसन्त और ग्रीष्म ऋतु के फूल और फल जो भी मन को रसायन सदृश तृप्त और मुग्ध करने वाले हैं, उन सबको और स्वर्ग तथा मर्त्यलोक के एकत्रित वैभव को यदि हम कहीं देखना चाहते हैं तो मित्र 'शाकुन्तल' का आश्रय लो। कल्पना का चमत्कार जो उनकी कृतियों में परिलक्षित होता है, वह सर्वथा उनका होता है। इसी से कहा जाता है—उपमा कालिदासस्य (उपमा तो कालिदास की ही होती है)। भला मंजरी के समान मधुर सूक्तियों से किस हृदय में आनन्द का उद्रेक नहीं होगा? कालिदास को 'कल्पना का सम्राट' कहने से यह आशय नहीं है कि उनकी दृष्टि सदा नील नभ में ही विचरती रही, उसने अपनी धरती के रूप को जी भर निहारा ही नहीं, उसके उन्नत गिरि, उच्छल तरंग सर-सरिताओं और सघन कान्तर वनों में वह रमी ही नहीं। जिन्होंने उनके 'मेघदूत' का अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि वह जितना ही रोमांचक है, उतना ही वस्तुवादी भी है। उसमें भारत के मध्य भाग से ले कर उत्तराखण्ड, हिमालय तक के देश, नगर, पर्वत, नदी आदि की प्राकृतिक सुषमा का यथातथ्य वर्णन अत्यन्त सतर्कता और सहृदयता से किया गया है। प्रतीत होता है कवि ने वर्णित भाग का कोना-कोना छान डाला है। क्योंकि जिस स्थान का वे वर्णन करते हैं उसका चित्र ही खींच देते हैं और यह तभी सम्भव हो सकता है जब मन उसमें खूब रमा हो।

कल्पनाशील कवि ने 'मेघदूत' में भौगोलिक सत्य की रक्षा कितनी सतर्कता से की है, यह कम विलक्षण नहीं है। हमें अत्यन्त लोकप्रिय काव्य की भौगोलिकता समझने के लिए उसके कथानक का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। अलकापुरी के अधिपति कुबेर ने न जाने किस अपराध में अपने सेवक यक्ष को एक वर्ष के लिए देश से निर्वासित कर दिया। वह अभिशप्त, तापित यक्ष उत्तर से विन्ध्य गिरि के दक्षिण में रामगिरि पर रहने लगा। आठ महीने तो उसने किसी तरह काट दिए पर जब उसके बाद आषाढ़ का प्रथम दिवस आया तो उसके हृदय का कंपन बढ़ गया, उसकी प्रेयसी उसकी आंखों में रह-रह कर झूलने लगी, वह आकुल हो उठा। उसने देखा, मेरे विरह में मेरी प्रेयसी के प्राण भी मेरी ही तरह छटपटाते होंगे। उसके जी में आया, क्यों न इन्हीं कजरारे बादलों को जो बेतहाशा गति से अलकापुरी की ओर उड़े जा रहे हैं, अपना दूत बना कर भेजूं। बस, उसने मेघ को रामगिरि से उत्तर अलका तक जाने वाले सीधे मार्ग

का परिचय दे दिया। उसे माल क्षेत्र, आम्रकूट पर्वत, नर्मदा नदी, विदिशा, उज्जैन, गंभीरा नदी, देवगिरि पर्वत, चर्मणवती, दशपुर, ब्रह्मावर्त देश, कुरुक्षेत्र, सरस्वती, गंगा आदि नदियों तथा अलकापुरी से भली भांति अवगत करा दिया। अलकापुरी के वर्णन में जहां उसकी पीतवर्णा, मलिनवसना यक्षिणी अंक में वीणा धारण कर गाते समय पूर्वाभ्यस्त मूर्छना को रह-रह कर भूल जाती है, कवि स्वभावतः अधिक भावुक हो गया है। एक सौ बीस श्लोकों के खंड काव्य ने कवि के यश में चार चांद लगा दिए हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि यदि कवि ने मेघदूत की ही रचना की होती, तब भी वह अमर रहते।

प्रस्तुत प्रश्न यह है कि यदि इस मेघदूत में भौगोलिक सत्य चित्रित है तो उसमें वर्णित स्थलों की आज स्थिति कहां है। इस प्रश्न पर विद्वानों में तीव्र मतभेद है। एक मत के अनुसार मेघदूत में वर्णित रामगिरि मध्य प्रदेश के अन्तर्गत सरगुजा जिले की रामगढ़ की पहाड़ियां हैं और दूसरे मत के अनुसार नागपुर के सन्निकट पहाड़ियां रामगिरि हैं।

सरगुजा के अम्बिकापुर के सन्निकट अवश्य रामगढ़ नामक पहाड़ियां हैं, जहां प्रभूत प्राकृतिक शोभा का विलास भी है। वहां ईसा से दो-तीन सौ वर्ष प्राचीन शिला लेख का भी अस्तित्व है और दो गुफाएं भी हैं। उनमें से एक गुफा का नाम सीतावेंगा है, जिसमें प्राचीन ढंग के रंगमंच के अवशेष प्राप्त हुए हैं। पर यह मेघदूत में उल्लिखित रामगिरि इसलिए नहीं हो सकता कि इसकी स्थिति अमरकंटक या आम्रकूट से दक्षिण की ओर नहीं है, ईशान की ओर है। और मेघदूत में आम्रकूट को रामगिरि से उत्तर की ओर बताया गया है। रामगढ़ में सीता गुफा तो है, पर मेघदूत की जनकतनया के स्नान करने का ख्यात सरोवर नहीं है। इसके विपरीत नागपुर के निकटवर्ती रामटेक के रामगिरि होने के प्रबल कारण हैं। रामटेक प्राचीन विदर्भ के अन्तर्गत रहा है और वहीं से प्राप्त एक प्राचीन ताम्रपत्र में 'रामगिरिस्वामिनः पाद मूलात्' अंकित है, जिससे ज्ञात होता है कि रामटेक को रामगिरि बहुत प्राचीन काल में कहा जाता था। वाकाटक साम्राज्ञी प्रभावती की प्रशस्ति में भी उसका उल्लेख है। प्रभावती के पिता सम्राट गुप्त थे, जिन्होंने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। अनेक विद्वानों का मत है कि कालिदास विक्रमादित्य के समकालीन थे और उनके सभारत्न भी। विक्रमादित्य की राजधानी रामगिरि के सन्निकट नन्दिवर्धन में कही जाती है। अतः बहुत सम्भव है कि कालिदास का इन स्थानों से गाढ़ा परिचय रहा हो और उनके मन पर उसके प्राकृतिक सौन्दर्य की अमिट छाप अंकित हो गई हो। आज भी जब हम आषाढ़ के रिमझिमाते दिवसों में रामटेक की पहाड़ियों पर खड़े होते हैं तो पानी से भरे कजरारे मेघों का हवा में दोलायमान दृश्य मन को मोहे बिना नहीं रहता।

रामटेक की पहाड़ी के ऊपर कई सौ सीढ़ियों द्वारा पहुंचा जाता है। वहां राम-लक्ष्मण के पुरातन मंदिर हैं। वहां की ईंटों की बनावट गुप्तकालीन प्रतीत होती है। पास ही सीता-कुंड है, जिसमें आज भी असंख्य तीर्थयात्री स्नान कर धर्मलाभ करते हैं, और जिसे देख कर मेघदूत की 'जनकतनया स्नान पुण्योदकेषु......रामगिर्याश्रमेषु' की वर्णना सार्थक जान पड़ती है। गिरि के चारों ओर आज भी आपूर जलाशय दिखलाई देते है। इन सबमें अंबाला नामक तालाब अधिक प्रसिद्ध है,। पर्यटक उसके बांध पर बैठ कर प्रकृति की शोभा घंटों निहारते रहते हैं। बहुत सम्भव है, प्रकृति के अनन्य उपासक कवि कालिदास भी कभी यहां आए होंगे और उनके विरह-विदग्ध हृदय की मेघधारा का प्रथम स्रोत यहीं से प्रवाहित हो उठा होगा।

—प्रवासी भारतीयों के लिए प्रसारित

विश्वास

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

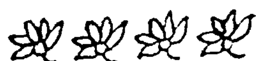


एक ही विश्वास मेरी चेतना के पास
एक केवल एक निष्ठा की मुझे है आस
अर्थ मिलता शब्द को ध्वनि को गिरा की सांस
एक ही विश्वास हरता है हृदय का त्रास
तुम न दो कुछ और मुझको, मैं नहीं असहाय
आस्था का बल जिसे है वह नहीं निरुपाय
आज गूंगे हों भले शंकित हृदय के भाव
हो पड़ा मूर्च्छित वहीं अभिव्यक्ति का सब चाव
हों पड़े छूंछे सभी अभ्यास के आधार
हो पुराने की विवशता आज मेरी हार
है जभी विश्वास मेरा एक ही विश्वास
दे रहा भवितव्य को जो शक्ति नव उल्लास
गति नदी को दे रहा गिरि को गगन की राह
एक ही विश्वास हरता मरुवनों का दाह
है नहीं बिकता किसी भी मूल्य पर यह मौन
इस गहन जीवन क्रिया को मोल लेगा कौन
तुम मुझे आश्रय न दो मेरा अमिट आश्वास
ज्ञान में वय में बड़ा मुझसे यही विश्वास
योजनाओं में नहीं बंधता कभी संघर्ष
आप ही अपना बनाता मार्ग नूतन वर्ष
जी रहा हूं व्रत यही मैं पी रहा यह टेक
है मिला विश्वास जीवन में मुझे बस एक
अर्थ शब्दों को मिलेगा और रस को धार
है नहीं मुझको स्वरों की वंचना स्वीकार।

—इलाहाबाद से प्रसारित

साहित्य के इतिहास की समस्याएं

परशुराम चतुर्वेदी



किसी भी साहित्य का इतिहास लिखते समय उसके लेखक के सामने अनेक ऐसी समस्याएं आ खड़ी होती है जिनका सम्बन्ध सीधे उसके वर्ण्य विषय अथवा उसकी वर्णन शैली मात्र तक ही सीमित नही रहा करता। कभी-कभी तो ये ऐसी होती है जिनके कारण उस इतिहास के स्वरूप का भी प्रश्न उठ जाता है और उसकी सीमा के निर्धारण की कठिनाई पड़ जाती है, अन्यथा यह भी सम्भव रहता है कि हम उसके अंग-प्रत्यंग के निरूपण एवं नामकरण आदि के विविध झमेलों में ही पड़ जाएं। इस दूसरे प्रकार की समस्याओं का क्षेत्र जहां केवल किसी साहित्य विशेष के उद्भव, विकास अथवा विशिष्ट रूप सम्बन्धी प्रश्नों तक ही मर्यादित रह सकता है, वहां पहले प्रकार के तर्क-वितर्कों का समाधान पाने के लिए हमें बहुत व्यापक रूप से विचार करना पड़ेगा। उसके स्वरूप का समुचित परिज्ञान हमें तब तक नहीं हो सकता और न उस समय तक हमे उसकी इयत्ता का ही पूरा बोध हो सकता है, जब तक हम सर्वप्रथम 'साहित्य के इतिहास' द्वारा सूचित होने वाले आशय को भली भांति समझ लेने की चेष्टा न कर लें। और इसके लिए सम्भव है, हमें न केवल इसमें आए हुए 'साहित्य' एवं 'इतिहास' शब्दों के अर्थ की व्यापकता पर ध्यान देने की आवश्यकता पड़ जाए, प्रत्युत यह भी हो सकता है कि इसकी सीमाओं की जानकारी के लिए हमे तुलनात्मक अध्ययन भी करना पड़े।

'इतिहास' कहे जाने वाले ग्रन्थों का प्रसंग आने पर साधारणतः ऐसा लगता है जैसे उनमें किन्हीं देशों व जातियों की ही चर्चा होगी अथवा यह भी हो सकता है कि उनमें किन्हीं मानव वर्ग विशेष की संस्कृति के उद्गम एवं विकास का ही वर्णन दिया गया होगा, किसी भूभाग के आदि वासी कौन थे, उनके पीछे कौन-कौन वहां आते गए, उनका पारस्परिक सम्बन्ध कब और किस प्रकार संघटित होता गया, तथा कैसे-कैसे एवं किन-किन परिस्थितियों मे पड़ कर वहां के लोगों ने अपनी विशिष्ट संस्थाएं स्थापित की अथवा विभिन्न परम्पराओं को प्रचलित किया आदि कुछ ऐसी बातें है जो उनमे सामान्यतः पाई जाती है। इसी प्रकार किसी जाति विशेष की संस्कृति के इतिहास में भी हमे उसके आदि रूप, क्रमिक विकास एवं विभिन्न अवयवों की चर्चा, विशेषतः उस वर्ग के सामूहिक संगठन तथा आपस के सर्वमान्य व्यवहारों को दृष्टि में रख कर की गई दीख पड़ती है। परन्तु किसी साहित्य के इतिहास में हमें इन दोनों में से किसी भी एक की पद्धति का पूर्ण अनुसरण सम्भव नहीं जान पड़ता। अतएव, हमारे सामने ऐसे प्रश्नों का, इस सम्बन्ध में, उठना स्वाभाविक हो जाता है कि क्या हम उसका

आरम्भ करते समय विभिन्न साहित्यकारों के वातावरण, व्यक्तित्व एवं कृतियों की ओर ध्यान दें, अथवा तद्विषयक साहित्य की प्रगति पर ही विचार करें।

इसके सिवाय कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि हम यहां पर स्वयं 'साहित्य' शब्द के अर्थ की व्याप्ति का ही निर्णय करने लगें और सोचने लग जाएं कि क्या उसके अन्तर्गत सारी उपलब्ध रचनाओं की एक समान चर्चा करना अपेक्षित होगा ? क्या हमारे लिए यह आवश्यक नहीं कि हम सर्वप्रथम किसी ऐसे सर्वमान्य मानदण्ड की भी सहायता ले लें, जिसके आधार पर हमें वास्तविक साहित्य के स्वरूप का यथेष्ट ज्ञान हो सके तथा इस प्रकार हम उसके विकास का ठीक परिचय देने में समर्थ हों ? ऐसा करते समय हमें प्रायः किसी न किसी समीक्षाशास्त्री की भी शरण लेनी पड़ सकती है और उस दशा में हम स्वभावतः कई ऐसी गुत्थियों के सुलझाने में भी लग जा सकते हैं कि आदर्श साहित्य के प्रमुख लक्षणों में किन बातों की गणना की जाए, उसके चरम उद्देश्य का निर्णय किस प्रकार किया जा सके तथा उसका मूल्यांकन करते समय किन-किन बातों पर विचार करें ? फिर भी यह स्पष्ट है कि हम किसी साहित्य का इतिहास आरम्भ करते समय केवल साहित्यिक आलोचना को ही आधार मान कर नहीं चल सकते और न केवल इसी बात के फेर में पड़ कर कि क्या-क्या और कैसे-कैसे लिखा गया है हम अपने उस महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर से भी ध्यान हटा ले सकते हैं कि वस्तुतः वैसी कृतियों की भी किसी युग विशेष के प्रति कैसी प्रतिक्रिया रही। साहित्यिक समालोचना का समीक्षाशास्त्र का प्रमुख लक्ष्य प्रायः साहित्य विशेष अथवा अधिक से अधिक उसके निर्माताओं तक ही परिमित रह जाया करता है और केवल प्रासंगिक रूप से उनके वातावरणादि की भी चर्चा कर दी जाती है। परन्तु जिस प्रकार किसी देश व जाति का इतिहास लिखते समय बहुधा उसके साहित्य को लोग विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम सिद्ध करके ही आगे बढ़ जाते हैं उसी प्रकार यह भी देखा जाता है कि प्रायः साहित्यिक आलोचना भी किसी कृति का विश्लेषणात्मक अध्ययन कर उसके विषय में केवल स्वरूपगत निर्णय दे देने को अपना कर्तव्य मान बैठती है। अतएव, प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी साहित्य के इतिहास का भी लक्ष्य केवल यहीं तक सीमित रहे ?

इसी प्रकार यदि हम साहित्य के इतिहास के इन स्वरूप एवं सीमा विषयक प्रश्नों की ओर ध्यान नहीं भी दें, फिर भी हमारे सामने कुछ अन्य ऐसी बातें आ जाती हैं जो उसके आरम्भ काल, काल विभाजन, अन्तर्विभाग, नामकरण प्रवृत्तियों के निर्धारण आदि से सम्बन्ध रखती हैं और जिनके विषय में निर्णय कर लेना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। सबसे पहला प्रश्न तो यही उठ सकता है कि ऐसे इतिहास का आरम्भ किस समय से किया जाए ? जिस भाषा के साहित्य का इतिहास लिखना है स्वयं उसका ही आरम्भ कब से माना जाना चाहिए यह एक विवादपूर्ण प्रश्न है। कोई भी भाषा कभी किसी निश्चित काल से बोली जाती हुई नहीं पाई जाती। उसका मूल स्रोत किसी अन्य पूर्ववर्ती भाषा का अभिन्न अंग बना दीख पड़ता है और हमे उन दोनों की विभाजक रेखा का पता लगाना सरल नहीं हुआ करता। इसके सिवाय उसका अनुसन्धान करते समय, स्वभावतः बहुत सी ऐसी उपलब्ध सामग्रियों पर विचार करना पड़ सकता है जिन्हें एक ओर जहां हम साहित्य की संज्ञा नहीं दे सकते, वहां दूसरी ओर हम उनके ठीक रूप को पहचान भी नहीं पाते, उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य के इतिहास का आदि काल निर्धारित करते समय, हमारे सामने बराबर यही प्रश्न उठा करता है कि हम इसका आरम्भ कहां से मानें ? किन उपलब्ध रचनाओं की भाषा को, पुरानी हिन्दी तक के नाम से भी अभिहित कर हम उसे अपभ्रंश से पृथक समझें ? तथा यदि किसी संधि काल

के लिए अनुमान कर लेना भी अपेक्षित न हो तो उसके आदि एवं अन्त की दोनों सीमाओं का निर्णय किस आधार पर किया जाए ?

फिर किसी साहित्य के इतिहास विषयक प्रारम्भिक युग को 'आदिकाल' जैसा नाम दे देना स्वयं भी भ्रामक हो सकता है। उस अवधि को ठीक-ठीक कहा तक सीमित माने और किस आधार पर उसे निश्चित करे, यह एक बात है। इसके साथ ही एक दूसरा प्रश्न भी बराबर उठ सकता है कि उसके आने वाले मध्य काल अथवा वैसे ही आधुनिक काल जैसे अन्य विभागो के भी पृथक करने के लिए किन महत्वपूर्ण बातो की सहायता ली जाए। ऐसा काल विभाजन करते समय केवल इसी बात पर सन्तोष कर लेना समीचीन नही कि किसी साहित्य के इतिहास का मध्य काल उसके निर्माताओं के देश व जाति के भी इतिहास के मध्य काल का अनुसरण कर सकता है। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य के रचयिताओं के देश भारत के इतिहास का मध्य काल ईस्वी सन की सातवी-आठवी शताब्दी से आरम्भ होता दीख पड़ता है जब कि सम्राट हर्ष का युग व्यतीत हो चुका था और जब से मुस्लिम आक्रमणों का आरम्भ हुआ था, किन्तु ठीक उसी समय को हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रारम्भिक युग ठहराने की परम्परा प्रचलित है, जब कि सिद्ध साहित्य की रचनाओ का निर्माण होने लगा था। उस समय तक तो, वस्तुतः हिन्दी भाषा के ही किसी स्थिर व निश्चित रूप का पता नही चलता और न इसी कारण, आज तक इस बात को निर्विवाद रूप से स्वीकार ही किया जाता है कि सिद्धों के उपलब्ध चर्यापद अथवा उनके दोहे हिन्दी भाषा की ही रचनाए है।

किसी साहित्य के इतिहास वाले विभिन्न युगो के नामकरण की समस्या एक अन्य प्रकार से भी उपस्थित हो सकती है। जब हम उन्हे केवल 'आदि काल', 'मध्य काल' अथवा 'आधुनिक काल' न कह कर उनकी जगह भरसक ऐसे नामो के प्रयोग करने लगते है जिनसे उनमे से प्रत्येक की कुछ न कुछ विशिष्ट बातो का भी बोध हो सके तो यह समस्या दूसरे ढग की हो जाती है। उस समय तो कभी-कभी हमे यही उचित जान पड़ता है कि हम तत्कालीन साहित्यिक कृतियो, साहित्यकारो, वर्ण्य विषयो व वर्णन शैलियो मे से किसी एक को महत्व दे कर उसकी विशेषताओ के अनुसार ऐसे युगो के नाम रख दे अथवा बहुधा यह भी दीख पड़ता है कि हम उनका नामकरण, तत्कालीन विशिष्ट शासको व जातियो आदि के नामानुसार भी करने लग जाते है। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य के इतिहास के ही आदि काल को हम कभी-कभी 'रासो युग' का नाम देते है, कभी उसे 'चारण युग' कहते है, कभी 'वीरगाथा काल' बतलाते है और कभी-कभी उसे पुरानी हिन्दी अथवा अपभ्रंश तक के साथ जोड़ने की चेष्टा करते है। स्पष्ट है कि ऐसा नामकरण किसी न किसी प्रकार के सुभीते की ही दृष्टि से किया जाता है, किन्तु फिर भी यह सदा सर्वमान्य नही हो पाता। इस दशा मे भी बराबर ऐसे प्रश्नो के उठने की सम्भावना रहा करती है कि क्या हम इनमें से किसी एक को अपनाते समय किसी दूसरे की उपेक्षा नही करते ?

इसके सिवाय, किसी भी एक युगविशेष के साहित्य पर, जब हम कुछ अधिक सूक्ष्म-रूप से विचार करने लगते है और उसके अन्तर्गत रची गई कृतियो के वर्गीकरण की ओर भी ध्यान देते है तो हमारे सामने कतिपय अन्तर्विभागो की भी समस्या खड़ी हो जाती है। उस समय हम देखते है कि एक ही युग के अन्तर्गत अनेक प्रकार की प्रवृत्तिया काम कर रही है, और उनमें से कुछ विशेषत. उल्लेखनीय है। उनमे से भी सभी को तत्वतः परखने, प्रमुख लक्षणो के अनुसार उनका वर्गीकरण करने तथा उनके आधार पर निर्मित कृतियो का यथावत मूल्यांकन कर तदनुकूल परिणाम निकालते समय, हमे कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है।

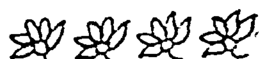
हिन्दी साहित्य के इतिहास पर विचार करते समय यदि हम उसके मध्य काल के पूर्वार्द्ध को उस समय की प्रमुख भावधारा के आधार पर 'भक्ति काल' का नाम देते है तथा तत्कालीन हिन्दी कवियों की भक्ति भावना को क्रमशः निर्गुणपरक एवं सगुणपरक वर्गो में विभाजित कर तदनुरूप नाम प्रदान करने लगते है तो हमें इन दोनों विभागों में से भी प्रत्येक में दो-दो उपविभाग करने पड़ते है। इन उपविभागों को हम सुभीते की दृष्टि से क्रमशः निर्गुण भक्ति की ज्ञानाश्रयी एवं प्रेमाश्रयी शाखा तथा सगुण भक्ति की राम भक्ति शाखा एवं कृष्ण भक्ति शाखा का नाम दे डालते है, किन्तु हमें इससे पूरा सन्तोष नही होता। हमारे सामने यह प्रश्न सहसा उपस्थित हो जाता है कि क्या जिस दृष्टि से हम हिन्दी के सूफी कवियों को प्रेममार्गी कहा करते है उसी दृष्टि से इसके सन्त कवियों को भी हमें ज्ञानमार्गी कह देने के लिए कोई पुष्ट आधार हो सकता है ?

वास्तव में किसी भी साहित्य का इतिहास मूलतः उन विविध प्रवृत्तियों के ही आधार पर निर्मित किया जा सकता है जो उसके रचयिताओं के समाज की भावधाराओं के भीतर अन्तःस्रोत बन कर प्रवाहित होती जान पड़ती हैं। तदनुसार उनके उद्गम, विकास एवं प्रवाह की प्रगति का स्वरूप उनसे सर्वथा विलक्षण नहीं हो सकता और न, इसी कारण, वे वैसे समाज की विशेषताओं द्वारा अप्रभावित ही रह सकती हैं। साहित्यकार के समाज की परिवर्तित दशा के कारण उनमें न्यूनाधिक परिवर्तन की सम्भावना हो सकती है और इसी प्रकार उसकी संस्कृति के विकास में समय-समय पर मोड़ आते रहने के साथ, उनकी गति में भी कुछ-न कुछ हेर-फेर का आ जाना सम्भव है। परन्तु जहां तक उनके द्वारा किसी साहित्यकार के स्वयं प्रभावित होने का प्रश्न है यह उसी मात्रा में हो सकता है जहां तक उसके व्यक्तिगत संस्कार अथवा अनुभूति एवं प्रतिभा उसे इसके लिए सन्नद्ध कर चुके हों। किसी साहित्यकार के लिए यह आवश्यक नही कि वह उन्हे ठीक उनके प्रकृत रूप में ही ग्रहण करे और उन्हें फिर उसी रूप में अभिव्यक्ति भी प्रदान कर दे। वह उन्हें प्रायः स्वयं अपने ढंग से ही अपनाने का प्रयत्न करता है और फिर अपनी प्रतिभा के बल पर उन्हें कोई-न-कोई नया स्वरूप भी दे देता है। साहित्य के अन्तर्गत हमे उसकी इस नूतन सृष्टि की ही उपलब्धि होती है। अतएव, साहित्य के इतिहास का लेखक जब तक इन सारी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को ध्यान में न रखे तब तक वह सदा विभिन्न प्रकार की समस्याओं का शिकार बना रह सकता है और वह अपने कार्य में पूर्णतः सफल नही हो सकता। वर्गीकरण एवं नामकरण के प्रश्न तो ऐसे है जिन्हे हम यों साधारण प्रयास द्वारा भी सुलझा सकते है।

——इलाहाबाद से प्रसारित

मेरी चिरस्मरणीय यात्रा : चीन

हर्षदेव मालवीय



अक्तूबर महीने का आखिरी दिन था। पकिंग में सर्दी शुरू हो गई थी। वहां की सर्दी की शुरुआत समझिए यहां की घनघोर सर्दी के बराबर। रुई का पतलून और कोट पहने, तिस पर ओवरकोट डटा, हम सुबह छः बजे पकिंग होटल से हवाई अड्डे को चले। आठ मील पर हवाई अड्डा था। होटल से हम चले तो अंधकार था। हवाई अड्डे पहुंचते-पहुंचते पौ फट चुकी थी।

बड़ी लम्बी यात्रा थी। हम लगभग ढाई-तीन हज़ार मील दूर ऊरूमुची जा रहे थे। केन्द्रीय एशिया में रूस के साइबेरिया प्रदेश के दक्षिण, विशाल गोबी रेगिस्तान की निचली तलहटियों में बसे चीन के पश्चिमतम प्रान्त सिनकियांग की राजधानी ऊरूमुची। और यही सिनकियांग प्रदेश हमारे कश्मीर तक फैला है।

और चीन में मानवता का जो श्रेष्ठ उदाहरण मिला है और मिलता जा रहा था हम उसी की बात सोच रहे थे कि नीचे पहाड़ों ने बरबस ध्यान अपनी ओर खींच लिया। पहाड़, पहाड़, सर्वत्र पहाड़! इस देश में पहाड़ों की सीमा नहीं, यही खयाल आने लगा। ऊंचे पर्वत थे, कुछ-कुछ बर्फ जम गई थी, और सवेरे के सूर्य ने उन बर्फीली पर्वत शिखाओं को सफेद दूधिया चांदी से अधिक चमक दे दी थी। और फिर, नीचे चार विशाल जल-धाराएं दिखीं और बर्फीली दूध जैसी चमकीली पहाड़ियां जैसे सहसा बहुत दूर भाग गईं। थोड़ी देर बाद ऐसा लगा कि सब धाराएं एक विशाल धारा में मिल गईं। और फिर पहाड़ों का सिलसिला प्लेन के नीचे फूट पड़ा, और वह विशाल जलधारा सर्पवत मुड़ती-मुड़ती उन्हीं पर्वतों की गलियों में जाने कहां बिला गई। फिर हवाई अड्डा आया। वहीं नाश्ता हुआ। आध घण्टे बाद प्लेन फिर उड़ा। अब हम ऐतिहासिक शेन्सी प्रान्त पर उड़ रहे थे। खयाल आया कि यहीं येनन नामक गुफाओं का नगर है, यहां ही आठ हज़ार मील की अभूतपूर्व लम्बी यात्रा कर माओ ने कम्युनिस्ट गढ़ बनाया था, और यहां से ही वह चीन पर छा गया। एक अमेरिकी पत्र में माओ का वर्णन याद आया— "गुफाओं से निकलने वाला विजेता।"

फिर जैसे यह सिद्ध करने के लिए, कि समझ लो, ये गुफाओं के रहने वाले किस विकराल प्रकृति के बीच रहते थे, घनघोर पहाड़ियां फूट पड़ीं। एक बड़ा ऊंचा पर्वत था शिखर पर मीलों तक सपाट और हिमाच्छादित। और हमारा प्लेन मानो उसी बर्फीले छज्जे के ऐन बगल, मीलों-मीलों उड़ता रहा। लगा कि एक ढेला फेंकूं तो उसी बर्फीले छज्जे पर जा गिरे।

फिर सहसा इस बर्फीली छत के बगल-बगल की उड़ान खत्म हो गई, पहाड़ियां एक दम से सहसा नीची हो गईं। पहाड़ियों के बीच की घाटियों में खेत दिखे। और फिर पहाड़ों पर

ह्वांग-हो शान्त थी। मैंने कहा—भवानी! जब उबलती हो तब क्या इस वक्त की शान्ति याद रहती है?

दूसरे दिन सुबह कड़ाके की सर्दी में ६ बजे हम होटल छोड़ हवाई अड्डे गए। लगभग साढ़े आठ पर हवाई जहाज उड़ा। और तुरन्त हम बीहड़, बियावान प्रदेश पर उड़ने लगे। विशाल गोबी रेगिस्तान की निचली तलहटियां आ गई। और साथ में सिनकियांग प्रान्त के एक अन्त से दूसरे अन्त तक दौड़ती तियनशान पर्वतमाला थी। तियनशान के अर्थ हुए, स्वर्गिक पर्वत! तो स्वर्गिक पर्वत के शिखर पर और उसकी ढालों पर बर्फ थी। बर्फ, बर्फ, जिधर देखो बर्फ! यह बर्फीली दुनिया जीवन में पहली बार दिखी। और प्लेन के साथ वह दौड़ती रही। बराबर दिन भर उस बर्फीली शान से पिण्ड न छूटा, अनुपम अनोखा वह दृश्य था!

पर इस बर्फीली शान के साथ-साथ सपाट और विशाल मरुस्थल था, खंखाड़, घोर खंखाड़! एक वृक्ष नहीं, एक पौधा नहीं। और हम सोच रहे थे मानव-विहीन यह विशाल भू-खण्ड कितना घनघोर है, कितना व्यापक है, कितना विकराल है। पर फिर इस विकरालता और वीभत्सता में भी उसका एक सौन्दर्य है।

और फिर कहीं-कहीं कुछ मकान दिखे। मकान के चारों ओर ऊंची दीवालें उनसे अलहदा बनी उनको घेरे थी। कोई मकान बिना चौतरफा ऊंची दीवाल के न दिखा। यह प्रकृति से मानव के संघर्ष का उदाहरण था। साइबेरिया से झंझावात वहां आता है। कभी बालू का तूफान, तो कभी बर्फीला तूफान उठता है। दीवालें उसी से रक्षा के लिए बनी थी।

और फिर उसी विकराल प्रकृति में प्राचीन चीन देश के महान उद्यमी मानवों की महानता और उद्यम की प्रतीक चीन की महान दीवाल दिखी। हमने पेकिंग के उत्तर मे इसे देखा था। और वहां से १,७०० मील की दूरी पर फिर यह महान दीवाल दिखी, उस खंखाड़ में वह दौडती जा रही थी। उसकी ज़मीन पर परछाई स्पष्ट दीखती थी।

और फिर च्यूचान नामक उस खंखाड़ में स्थित एक हवाई अड्डा आया। हम उतरे। घनघोर सर्दी थी। हवा तीर-सी लगती थी। यहां एक वृद्धा लाओ नामा मिली, वात्सल्य की, स्नेह की मूर्ति। दोपहर के एक बज चुके थे और फिर प्लेन उड़ा और अब हम सिनकियांग प्रान्त पर उड़ रहे थे। नीचे न खेत, न खलिहान। न आदमी, न आदमजात। मीलों, मीलों, मीलों मनुष्य-विहीन प्रदेश। कुछ पगडण्डियां थी, उससे ही पता लगता था कि मानव इधर से आता-जाता है। और वह बर्फीली शान बराबर साथ दौड़ रही थी—कभी निकट, कभी दूर, पर अटूट, अडिग और दिव्य! शाम को पांच बजे तक यही हाल रहा। वही मरुस्थली और वही बर्फीली शान। पांच बजे शाम हम ऊरुमुची हवाई अड्डे पर उतरे। स्वागत को लोग खड़े थे। निर्जनता के बाद जन दिखे। स्नेह और शिष्टता का साक्षात दर्शन उस विकराल प्रकृति के बीच मिला। और हमारी चिरस्मरणीय यात्रा समाप्त हो गई।

—जयपुर से प्रसारित

कश्मीरी लोकसाहित्य में किसान

पृथ्वीनाथ 'पुष्प'



किसान हमारे समाज का मेरुदण्ड रहा है, अतः हमारे लोकसाहित्य में उनका चित्रण किसी न किसी रूप में होता ही आया है। पर समाज-व्यवस्था में किसान का जब जो रूप रहा तब लोकसाहित्य में भी उसकी वैसी ही परछाईं झिलमिला उठी हो, सो बात नहीं है। कई युगों के साहित्य में किसान के व्यक्तित्व की कोई झलक नहीं मिलती, तथापि सीधा चित्रण न सही, तिरछा संकेत ही सही, किसान की बेबसी साहित्य के अन्दर क्रन्दन कर ही उठी।

उन्नीसवीं सदी के कश्मीरी किसान का सब से प्रभावशाली चित्रण एक मार्मिक लोक-रचना—नांछुलर (मधुमक्खी) में हुआ है। रहस्य के अध्यात्मवादी सरगम में भी यथार्थ का जो आलाप इस करुण गाथा में सुनाई पड़ता है, वह कश्मीरी लोकसाहित्य में अपूर्व है। जागीरशाही शोषण की सताई हुई एक किसान नारी एक मधुमक्खी को अपना दुखड़ा सुनाते हुए कहती है—

वसन्त को जब मुकद्दम आ पहुंचे
किसानों को ढारस बंधाने
तो चाटुकारी से हमारा पेट भर दिया—
हम झांसे में आ गए !
और शरद की वे 'संवेदना' भूल कर
हमें मारने आ दौड़े।
जो फसलें मैंने धरती मां में बो दी थीं
वे पक ही गईं
खलिहान में अम्बार लगा दिए मैंने
तो चप्पे-चप्पे पर मुकद्दम और पटवारी
तोलने आ धमके।
असहाय और अकिंचन कितने ही, सखि !
आंचल पसार-पसार कर आ पहुंचे
सभी के आंचल मैंने भर दिए—
यही तो मुक्ति का उपाय है री !
मैं हूं एक कृषक नारी, हम यहां रहने नहीं आए।

इस प्रकार किसान के सुख-दुख की जो धड़कनें कश्मीरी लोकगीतों में सुनाई पड़ती हैं, उनकी मार्मिकता कहावतों में भी गूंज उठी है। उदाहरणत:—

जमीन तो है कुटा हुआ सोना।
क्योंकि
हल चलाओ फल मिले, गोड़ी करो धान निकले

अतः अपने निखट्टू भाई के लिए उद्यमी किसान का यही उपदेश है कि—

बायि म्याने कलन्दरय
यि नेरि ति नेरि खलन्दरय।
भैया मेरे कलन्दर रे
जो निकले सो खलिहान से!

पर किसान जीवन की यह श्रम-प्रतिज्ञा स्वतःसिद्ध होते हुए भी लालची मालिकों को मान्य न थी, अतः बेचारा किसान युगों तक आर्थिक शोषण की निर्दय चक्की में पिसता रहा। अभाव-ग्रस्त मानव का चरित्र निखर उठे तो कैसे? कश्मीरी किसान भी जीविका के फेर में पड़ कर झूठ, छल और पाखण्ड का शिकार हो गया, और लोककथा में उसके नैतिक पतन की जो झलक मिलती है, वह उसकी सामाजिक बेबसी का ही प्रतिफल है, क्योंकि जैसा अभी हम देख चुके हैं, उन दिनों का किसान जागीरशाही व्यवस्था के कल-पुर्जों से बेतरह सहमा हुआ था। वह टुकड़े-टुकड़े को तरसता रहता, फिर भी कारिन्दे उसका पीछा नहीं छोड़ते थे।

बत बत त प्याद बत

भात-भात और प्यादा पीछे-पीछे—यानी किसान भात के लिए मोहताज था फिर भी कारिन्दा पीछा न छोड़ता था। इस कहावत में इसी कटु यथार्थ की ओर इशारा मिलता है।

अतः आज का जनकवि लोक शैली में कृषि गान, नाच गीत और लोरियां लिख कर किसान के बदलते हुए परिवेश की तसवीरें पेश करता है तो हम इनमें लोक-परम्परा के एक स्वरूप का विकास ही देखते हैं। पनीरी लगाने वाली को सम्बोधित करते हुए वह पुकारता है—

उठ री नरगिस! धान की पनीरी लगा,
धान के पौधे सब के सब हाथ उठाए
असीस दे रहे हैं तुझे—
तू भी ऐसे ही खिल उठ!
उठ री अन्नपूर्णा! ये बेड़ियां तुझे पहनाई किसने?
जादू की इस शृंखला को तड़का तो दे।
इन शाहमारों (अजगरों) ने तुझे पैरों तले
दबा रखा है, आह!
उठ! धरती मां के कानों में
हरी-हरी बालें पहना दे—
इसकी मांग का सिगार कर ले।
उठ री नरगिस, उठ!

नया जनकवि आज नए आयोजनों की उद्‌भावना करते हुए किसान को अपना एक नया भाग्य लिखने की प्रेरणा करता है, जैसे-जैसे वह—

प्रति वर्ष हल के फाल की नोंक से
धरती माता का नया भाग्य लिखता है!

नए युग की नई पुकार आज हमारे किसानों के अन्तस्तल म यों गूंज रही है—

अपनी धरती मां को संवार-निखार
इसके माथे से वल, मुख से झुर्रियां
और आंखों से तिमिर को दूर कर दे ।
इसकी छाती पर से रोड़े उठा,
झाड़-झंखाड़ को साफ कर दे ।
तुझे तो विशाल जलधाराओं को पालतू (वश में) करना है,
तुझे तो निर्झरों और झरनों से कुश्ती लड़ना है,
तुझे दरियाओं का मुह मोड़ना है
अपनी धरती की ओर ।
तुझे वाढ़ों के सामने सीना तान कर
खड़ा हो जाना है ।

और किसान जीवन के भविष्य की यह उज्ज्वल आशा आज हमें सचत कर रही है कि 'मांछतुलर' के लोक कवि ने जिन विषम परिस्थितियों का सजीव प्रतिरोव किया है, उन्हें हम नए रूप में उभरने ही न दें ।

—जालन्धर से प्रसारित

परमाणु भट्ठियां—१. बनावट और क्रिया

बी० पी० रस्तोगी



हम लोग जलती हुई लकड़ी तथा बहते पानी की शक्ति से परिचित हैं। जलती लकड़ी की शक्ति रासायनिक शक्ति कहलाती है और बहते पानी की शक्ति पृथ्वी के आकर्षण से सम्बन्धित है।

कुछ समय पूर्व एक नए प्रकार की शक्ति की खोज हुई है। यह परमाणु शक्ति कहलाती है और कुछ तत्वों के परमाणु केन्द्र से प्राप्त होती है। इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए जो यन्त्र प्रयोग किया जाता है वह परमाणु भट्ठी अथवा रिएक्टर कहलाता है।

आज कई देशों में कार्य और उपयोग की दृष्टि से विभिन्न प्रकार की परमाणु भट्ठियां कार्य कर रही हैं। उदाहरण के तौर पर बम्बई के पास ट्राम्बे में स्थित 'अप्सरा' परमाणु भट्ठी के द्वारा वैज्ञानिक प्रयोग किए जा रहे हैं। ग्रेट ब्रिटेन के काल्डर हाल की परमाणु भट्ठी बिजली एवं प्लूटो-नियम बना रही है। इन विभिन्न परमाणु भट्ठियों की बनावट और क्रिया समझने के लिए हमें परमाणु शक्ति के सिद्धान्त को समझना आवश्यक है।

जैसा कि नाम से विदित होता है परमाणु शक्ति का सम्बन्ध परमाणु से है। विश्व में जितने भी तत्व हैं वे अलग-अलग प्रकार के परमाणुओं से बने हैं। प्रत्येक परमाणु में एक केन्द्र होता है जिसे अंग्रेजी में न्यूक्लिअस कहते हैं। यह न्यूट्रोन और प्रोटोन का बना होता है। जिस प्रकार सूर्य के चारों तरफ ग्रह चक्कर लगाते हैं उसी प्रकार परमाणु केन्द्र के चारों तरफ इलेक्ट्रोन घूमते हैं।

किसी भी तत्व के रासायनिक गुण उसके परमाणु केन्द्र में स्थित प्रोटोन की संख्या पर निर्भर करते हैं। अगर किन्हीं दो परमाणुओं के केन्द्र में प्रोटोन की संख्या एक ही हो पर न्यूट्रोन की संख्या अलग-अलग हो तो ये एक ही तत्व के आइसोटोप कहलाते हैं।

परमाणु शक्ति यूरेनियम और प्लूटोनियम नामक दो तत्वों के परमाणुओं से प्राप्त की जाती है। यूरेनियम तत्व के तीन आइसोटोप होते हैं। वे यूरेनियम-२३३, २३५ और २३८ कहलाते हैं। तीनों आइसोटोपों के परमाणु केन्द्र में ९२ प्रोटोन और क्रमशः -१४१, १४३ और १४६ न्यूट्रोन होते हैं। प्रकृति से पाये जाने वाले यूरेनियम तत्व में केवल २३५ और २३८ आइसोटोप ही होते ह। इनका अनुपात १ और १४० होता है। यूरेनियम-२३३ और प्लूटोनियम प्रकृति से नहीं प्राप्त होते हैं। ये थोरियम और यूरेनियम से परमाणु भट्ठी के अन्दर उत्पन्न किए जाते हैं।

अगर हम किसी प्रकार से यूरेनियम-१३५ परमाणु केन्द्र में एक कम गति वाले न्यूट्रोन का प्रवेश करा दें तो वह परमाणु केन्द्र के संतुलन को नष्ट कर देता है और तब अकसर वह परमाणु केन्द्र

लगभग दो बराबर भाग मे बंट कर टूट जाता है। परमाणु केन्द्र के टूटने की इस क्रिया को परमाणु केन्द्र विभाजन अथवा फिशन कहते है और ये टुकड़े अंग्रेजी मे फिशन फ्रेगमेंट कहलाते हैं। फिशन फ्रेगमेट बड़े गतिवान होते है और जब वे अन्य परमाणुओ से टकराते है तो ताप उत्पन्न होता है। यही ताप हमारी परमाणु शक्ति है। एक टन यूरेनियम के सब परमाणुओ का अगर विभाजन हो तो जो शक्ति प्राप्त होगी वह लगभग दस लाख टन कोयले के जलने की शक्ति के बराबर होगी। फिशन से प्राप्त फिशन फ्रेगमेट बहुत रेडियो एक्टिव (रेडियम धर्मी) होते है और मानव शरीर के लिए घातक होते है। फिशन की क्रिया मे न केवल फिशन फ्रेगमेट पैदा होते है परन्तु दो या तीन गतिवान न्यूट्रोन भी पैदा होते है। इन न्यूट्रोनो को परमाणु भट्ठी मे गतिहीन करके अन्य यूरेनियम-२३५ के परमाणु केन्द्रों के विभाजन हेतु प्रयोग किया जाता है। इनके विभाजन पर हमें फिर शक्ति, विभाजित भाग एवं नए गतिवान न्यूट्रोन प्राप्त होते है। ये फिर गतिहीन हो कर परमाणु विभाजन करते है। इस प्रकार यह क्रिया बार-बार होती जाती है। अंग्रेजी मे इसे चेन रिएक्शन कहते है।

किसी भी भट्ठी से हमे लगातार शक्ति प्राप्त होनी चाहिए। परमाणु शक्ति को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि चेन रिएक्शन की क्रिया बराबर चालू रहे। परमाणु भट्ठी मे चेन रिएक्शन को बराबर चालू रखने मे कई विशेष कठिनाइया होती है। अब हम उन्हें क्रम मे समझने का प्रयत्न करेंगे।

प्रथम कठिनाई का सम्बन्ध यूरेनियम धातु से है। प्राकृतिक यूरेनियम मे २३५ और २३८ आइसोटोप १ और १४० के अनुपात मे होते है। कम गति वाले न्यूट्रोन से फिशन क्रिया केवल यूरेनियम-२३५ से ही होती है। यूरेनियम-२३८ के परमाणु कम गति वाले न्यूट्रोन को सोख कर उनकी सख्या कम कर देते है और इस प्रकार चेन रिएक्शन को रोकते है। यूरेनियम धातु मे २३५ आइसोटोप के अनुपात को बढाने का काम बहुत कठिन और खर्चीला है। पर विशेष परमाणु भट्ठियो मे इस प्रकार का यूरेनियम प्रयोग किया जाता है। इसको एनरिच यूरेनियम कहते है।

द्वितीय कठिनाई परमाणु विभाजन की क्रिया से प्राप्त तीव्र गति वाले न्यूट्रोनो की सख्या की है? हर फिशन से केवल २ या ३ न्यूट्रोन प्राप्त होते है, जिनको कम गति वाला बनाना होता है। इन न्यूट्रोनो की संख्या काफी कम होती है। अकसर ये परमाणु भट्ठी के बाहर चले जाते है या भट्ठी के अन्दर के पदार्थो द्वारा सोख लिए जाते है। इसलिए यह आवश्यक है कि परमाणु भट्ठी के अन्दर के पदार्थ कम से कम न्यूट्रोनो को सोखने का गुण रखे। न्यूट्रोनो को कम गति वाला बनाने वाले पदार्थों को माडरेटर कहते है। माडरेटर के परमाणुओं से न्यूट्रोन टक्कर खा कर गतिहीन हो जाते है। परमाणु भट्ठियो मे माडरेटर को इस प्रकार से रहना चाहिए कि अधिक से अधिक न्यूट्रोन उसमे प्रवेश करे और कम गति वाले बने, साथ ही साथ माडरेटर को कम से कम न्यूट्रोन सोखने वाला होना चाहिए। साधारण तौर पर पानी, हैवी वाटर, ग्रेफाइट, बी, बिग्रो आदि माडरेटर के लिए प्रयोग किए जाते है। फिशन से प्राप्त फिशन फ्रेगमेट रेडियो एक्टिव होते है। इनसे एल० बी० और ४ नामक किरणे निकलती है, जो अत्यन्त हानिकारक होती है। इनसे बचने के लिए परमाणु भट्ठी के सब यन्त्र भट्ठी से काफी दूर स्थित संचालन गृह से संचालित किए जाते है, और भट्ठी को एक मोटी सीमेट की दीवार के अन्दर रखा जाता है जिससे किरणे बाहर न आ सके।

परमाणु भट्ठी सम्बन्धित इन कठिनाइयों तथा सिद्धान्तो को समझ लेने के बाद अब हम ब्रिटेन के बाल्डर हाल पावर स्टेशन की परमाणु भट्ठी की बनावट पर विचार करेंगे।

बाल्डर हाल की परमाणु भट्ठी लगभग १०० फुट लम्बे और इतने ही चौड़े चबूतरे पर बनी है। इस चबूतरे की मोटाई १० फुट है और यह लोहे, सीमेट और कंक्रीट का बना है। इस

चबूतरे के ऊपर ६० फुट ऊंची तथा आठ फुट मोटी एक चहारदीवारी बनी है जिसके अन्दर परमाणु भट्ठी स्थित है। यह दीवार तीव्र गति वाले न्यूट्रानों तथा रेडियो एक्टिव तत्वों की किरणों से मनुष्यों की रक्षा करने के काम में आती है। इस चहारदीवारी के अन्दर एक अंडाकार, मोटी स्टील का विशाल बर्तन है, जिसका काम अंदर की गैस के दबाव को रोकना है। स्टील के इस बर्तन के मध्य में परमाणु भट्ठी का 'कोर' है। यह २७ फुट ऊंचा है और इसका व्यास ३५ फुट है। ६०,००० ग्रेफाइट ईंटों से यह बनाया गया है। इसमें १,७०० ऐसे छेद हैं जो ऊपर से नीचे तक जाते हैं। ग्रेफाइट की ईंटें इस प्रकार बैठाई गई हैं कि भट्ठी के तापक्रम के बदलने पर इन छेदों के व्यास पर कुछ अन्तर न आने पाए।

इन छेदों के अन्दर प्राकृतिक यूरेनियम की छड़ें हैं जो विशेष प्रकार की शील्ड से सुरक्षित की गई हैं। इन छड़ों को फ्यूएल एलीमेंट कहते हैं। परमाणु भट्ठी के 'कोर' के ऊपर ऐसे यन्त्र लगे हैं जो इन फ्यूएल एलीमेंट को छेदों से निकाल सकते हैं।

कुछ विशेष छेदों में कैडमियम नामक धातु की छड़ों को डालने की सुविधा है। ये छड़ें परमाणु भट्ठी के ताप का संचालन करती हैं तथा उसे बन्द कर सकती हैं। कैडमियम एक ऐसा पदार्थ है जो न्यूट्रानों को सोखने का विशेष गुण रखता है और जब उसकी छड़ें 'कोर' में आती हैं तो वह काफी मात्रा में न्यूट्रोन सोख कर चेन रिएक्शन बन्द कर देती हैं। इस परमाणु भट्ठी में ग्रेफाइट की ईंटें माडरेटर का काम करती हैं।

चालू परमाणु भट्ठी से जो शक्ति प्राप्त होती है वह यूरेनियम रौड के तापक्रम को काफी ऊंचा कर देती हैं। यूरेनियम रौड से ताप को निकालने के लिए CO_2 गैस काफी दबाव के साथ ग्रेफाइट के छेदों से पम्प की जाती हैं। यह गैस यूरेनियम रौड के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाने में अत्यन्त गरम हो जाती है। यह गरम गैस फिर परमाणु भट्ठी के बाहर लाई जाती हैं जहां इससे भाप पैदा की जाती है। भाप से जैनरेटर चलाए जाते हैं और बिजली प्राप्त की जाती है। काल्डर हाल की परमाणु भट्ठियों से जो बिजली प्राप्त होती है वह २०,००० घरों के एक नगर के लिए पर्याप्त है।

यूरेनियम रौड से धीरे-धीरे २३५ आइसोटोप के परमाणुओं का फिशन होता जाता है और कुछ समय के बाद इनकी संख्या इतनी कम हो जाती है कि परमाणु भट्ठी में चेन रिएक्शन सम्भव नहीं होता। ऐसी स्थिति में यूरेनियम रौड बदल दी जाती है।

ट्राम्बे में स्थित 'अप्सरा' परमाणु भट्ठी हौज अथवा स्विमिंग पूल के प्रकार की है। हौज में शुद्ध पानी भरा है जिसमें एक यन्त्र द्वारा 'कोर' लटकाया गया है। 'कोर' एनरिच्ड यूरेनियम के फ्युएल एलीमेंट से बना है। यह लगभग दो फुट लम्बा, चौड़ा और ऊंचा है। इस परमाणु भट्ठी में पानी माडरेटर का काम करता है।

कैनडा भारत परमाणु भट्ठी में, जिसका निर्माण आजकल ट्राम्बे में हो रहा है, प्राकृतिक यूरेनियम प्रयोग किया जाएगा। माडरेटर के रूप में इसमें हैवी वाटर का उपयोग होगा।

इस प्रकार हमने देखा कि सिद्धान्त की दृष्टि से विभिन्न प्रकार की परमाणु भट्ठियों में भेद नहीं होता है, पर व्यवहार की दृष्टि से उनकी बनावट एवं क्रिया अलग-अलग प्रकार की होती है। परमाणु भट्ठी विज्ञान अब इतनी उन्नति कर गया है कि आज विभिन्न कार्यों के हेतु तरह-तरह की परमाणु भट्ठियों का निर्माण हो रहा है।

—लखनऊ से प्रसारित

परमाणु भट्ठियां—२. उपयोग एवं भविष्य

डा० गोरख प्रसाद



परमाणु भट्ठियों का उपयोग या तो भाप से चलने वाले इंजन के लिए पानी खौलाने के हेतु होता है या एटम बम का मसाला बनाने के लिए। इन भट्ठियों की गरमी परमाणुओं के टूटने से उत्पन्न होती है। सन् १९०५ में आइन्स्टाइन ने दिखाया कि द्रव्य और ऊर्जा में कोई अन्तर नहीं है। लोहा, लकड़ी, कोयला, तेल, हवा, पानी, ये सभी द्रव्य हैं। इंजनों की वह शक्ति जो रेल खींचती है, बोझा उठाती है या अन्य काम करती है, ऊर्जा है। ऊर्जा को अंग्रेजी में एनर्जी कहते हैं। पहले लोग यही समझते थे कि पदार्थ और ऊर्जा पूर्णतया भिन्न हैं, परन्तु आइन्स्टाइन के सिद्धान्त के प्रकाशित होने पर वैज्ञानिक स्वप्न देखने लगे कि एक दिन पदार्थ को शक्ति में रूपान्तरित किया जा सकेगा, विशेषकर इसलिए कि सिद्धान्त के अनुसार एक सेर पदार्थ से २५ अरब यूनिट बिजली उत्पन्न की जा सकती है। साधारण भट्ठियों में एक सेर कोयला जला कर लगभग एक यूनिट बिजली उत्पन्न होती है परन्तु यदि इस कोयले को परमाणु भट्ठी में डाल कर किसी प्रकार पूर्णतया ऊर्जा में बदल दिया जा सके तो ४ आना प्रति यूनिट की दर से—और अधिकांश शहरों में बिजली इससे मंहगी ही बिकती है—पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार करोड़ों नहीं, अरबों रुपये की बिजली उत्पन्न हो सकती है।

परन्तु ३४ वर्षों तक यह स्वप्न ही रहा है, यद्यपि वैज्ञानिक बराबर खोज में लगे रहे। तब, सन् १९३९ में, जर्मनी के दो वैज्ञानिक, हान और स्ट्रासमान ने पदार्थ को ऊर्जा में बदलने में सफलता प्राप्त की। उनके आविष्कार के आधार पर प्रथम परमाणु भट्ठी सन् १९४२ में बनी।

सिद्धान्त से पता चला कि यदि एक विशेष मात्रा से अधिक यूरेनियम एक साथ रख दिया जाएगा तो यूरेनियम के परमाणु स्वयं टूटने लगेंगे और उनमें से बहुत आंच निकलेगी। एटम बम बनाने में साधारणतः यही किया जाता है कि यूरेनियम-२३५ को यथासम्भव विशुद्ध अवस्था में लिया जाता है। पहले उसे अलग-अलग खण्डों में रखा जाता है और विस्फोट करने के लिए सब यूरेनियम को एक से स्वयं-चालित यन्त्रों से मिला दिया जाता है। तब यूरेनियम में परमाणु इतने वेग से टूटते हैं कि भयंकर विस्फोट होता है। हीरोशिमा नामक जापानी नगर पर पहले-पहल एटम बम का प्रयोग हुआ था और केवल एक बम से ६० हजार व्यक्ति मरे, ३० हजार घायल हुए, और ९० हजार लोगों के मकान विध्वंस हो गए।

यदि बहुत-सा यूरेनियम एक साथ ही ला देने के बदले थोड़ा-थोड़ा यूरेनियम कोयले के ढेर में वितरित कर दिया जाए तो गरमी नियन्त्रित मात्रा में उत्पन्न की जा सकती है। कोयले सा

प्रयोग इसलिए नहीं किया जाता कि वह जल उठे। नहीं, कोयले में आग लगने ही नहीं पाती। उनका प्रयोग केवल इसलिए किया जाता है कि यूरेनियम से आंच धीरे-धीरे निकले। कोयले के बदले, पानी का व्यवहार भी किया जा सकता है। ऊपर जहां कोयला शब्द का प्रयोग किया गया है—वहां परिष्कृत कोयला समझना चाहिए, जिसे अंग्रेजी में ग्रेफ़ाइट कहते हैं।

परमाणु भट्ठी का बनाना सरल है। ग्रैफ़ाइट की ईंटों में छेद करके उनमें यूरेनियम की नलिकाएं रख दी जाती हैं। यह यूरेनियम या तो प्राकृतिक यूरेनियम होता है, जिसमें विभंजशील यूरेनियम, अर्थात यूरेनियम-२३५, लगभग पौन प्रतिशत रहता है या परिष्कृत यूरेनियम रहता है, या जिसमें यूरेनियम-२३५ प्रतिशत मात्रा में पर्याप्त अधिक रहता है। फिर यूरेनियम वाली ईंटों और बिना यूरेनियम वाली ईंटों का टाल लगा दिया जाता है। इस ढेर के भीतर कुछ छड़ें ऐसी, भी डाल दी जाती हैं जो यूरेनियम की विभंजता को दबाए रहती हैं। ढेर के चारों ओर सीमेंट की बहुत मोटी दीवार बना दी जाती है और छत भी खूब मोटी बनाई जाती है। रोधक छड़ों को बाहर खींच लेने पर आंच उत्पन्न होने लगती है। इंजन चलाने के लिए किसी तरल पदार्थ को ऐसी नलियों में प्रवाहित किया जाता है जो पहले से यूरेनियम और ग्रैफ़ाइट के ढेर में दबी रहती हैं। यह तरल पदार्थ भट्ठी में से खूब तप कर निकलता है और जब वह इंजन के बायलर में जाता है तो पानी खौलने लगता है। इस प्रकार उत्पन्न भाप से इंजन उसी प्रकार चलता है जैसे भाप वाला साधारण इंजन।

अभी परमाणु भट्ठियां प्रयोगात्मक अवस्था में हैं और तरह-तरह की भट्ठियां बनाई जाती हैं और उनकी जांच की जाती है। उदाहरणतः ओकरिज नम्बर एक्स १० वाली भट्ठी में ५४ टन यूरेनियम धातु डाली गई थी, ६२० टन ग्रैफ़ाइट लगा था, कंक्रीट की ७ फुट मोटी दीवारें थीं, आंच खींचने के लिए हवा से काम लिया गया था और भट्ठी बाहर से ३८ फुट चौड़ी, ४७ फुट लम्बी और ३२ फुट ऊंची थी, अर्थात ऊंचाई तीन मंजिले मकान की थी और लम्बाई-चौड़ाई में भट्ठी सिनेमा हाल के बराबर थी। इस भट्ठी से ४,००० किलोवाट अर्थात ४,००० यूनिट प्रति घण्टा गरमी वर्षों तक उत्पन्न होती रहेगी।

यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि यूरेनियम की जितनी मात्रा खर्च होती है वह बहुत कम है। अधिक यूरेनियम इसलिए रखना पड़ता है कि छोटा ढेर बनाने पर परमाणु विभंजन जारी नहीं हो पाता। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि छोटी भट्ठियां बन ही नहीं सकतीं। एक भट्ठी ऐसी बनी है जिसमें कुल लगभग एक सेर (वस्तुतः १.९१ पौण्ड) यूरेनियम है।

यह भी न समझना चाहिए कि एक बार परमाणु भट्ठी को चालू कर देने पर भट्ठी बराबर चलती रहेगी। जिस प्रकार साधारण भट्ठियों में रह-रह कर राख झाड़ने की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार परमाणु भट्ठियों में से बचे हुए यूरेनियम को निकाल कर उसे स्वच्छ करना पड़ता है।

आपको सम्भवतः आश्चर्य होगा कि इतनी छोटी भट्ठी में भी ४ इंच मोटी सीसे की परत और ५ फुट मोटी दीवार की क्यों आवश्यकता पड़ी? कारण यह है कि परमाणुओं के टूटने से जो कण और रश्मियां निकलती हैं वे बड़ी मर्मभेदी होती हैं। एक-दो फुट मोटी दीवार पार कर लेना उनके लिए अत्यन्त सुगम है। जब ये रश्मियां मनुष्य की त्वचा पर पड़ती हैं तो त्वचा जल जाती है और घाव हो जाते हैं।

परमाणु भट्ठियों के भीतर जो कण टूटे परमाणुओं से निकलते हैं वे अन्य परमाणुओं को विभंजशील बना देते हैं। इस प्रकार बने विभंजशील पदार्थ को रासायनिक रीतियों से अलग करने पर एटम बमों के लिए बढ़िया मसाला मिलता है। इसलिए दुनिया की बड़ी सरकारें

प्राकृतिक यूरेनियम को एकत्र करने के अतिरिक्त परमाणु भट्ठियों से भी बम का बहुत-सा मसाला इकट्ठा कर रही हैं।

परमाणु भट्ठियां अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं, उनके भविष्य का अनुमान लगाना कठिन है। आगामी १० या २० वर्षों में बिजली उत्पन्न करने के लिए वे पत्थर के कोयले से नहीं होड़ लगा सकतीं, क्योंकि उनमें अभी बहुत खर्च पड़ता है। एक-एक भट्ठी पर अभी तक करोड़ों रुपया खर्च होता रहा है। परन्तु अवश्य ही भविष्य में परमाणु भट्ठियां सस्ती हो जाएंगी। लोगों का अनुमान है कि सौ वर्ष में ही पत्थर के कोयले का अकाल पड़ेगा, क्योंकि कोयला बड़ी तेजी से खर्च हो रहा है और दुनिया में कोयला सीमित मात्रा में ही है। तब परमाणु भट्ठियों की मांग बहुत बढ़ जाएगी। लोगों ने अनुमान किया है कि पृथ्वी पर यूरेनियम बहुत है, ६ हज़ार वर्षों तक यूरेनियम का अकाल न आएगा। फिर, सिद्धान्ततः साधारण पानी के परमाणुओं से भी परमाणु शक्ति उत्पन्न हो सकती है। परन्तु अभी तक कोई इस शक्ति को प्राप्त नहीं कर सका है। सम्भव है भविष्य में जल परमाणुओं से शक्ति निकाली जा सके। तब ईंधन की कोई कमी न रहेगी, सारा समुद्र पानी से भरा पड़ा है।

कुछ लोग अभी से स्वप्न देखने लगे हैं कि भविष्य में मोटर गाड़ियों के साथ सेर दो सेर मसाला भी मिल जाया करेगा, जिससे गाड़ी अपने जन्म भर चलती रहेगी परन्तु वर्तमान परमाणु भट्ठियों की नाप-तोल देखते हुए यह मृगतृष्णा ही जान पड़ती है।

भारतवर्ष में बम्बई के पास ट्राम्बे में एक छोटी-सी परमाणु भट्ठी है जिसमें आंच को वश में रखने के लिए पानी का उपयोग होता है। इस भट्ठी का नाम 'अप्सरा' रखा गया है। भारतवर्ष में भी एटामिक एनर्जी कमीशन है और भारतीय वैज्ञानिक भी ऊर्जा की खोज में लगे हैं। निःसन्देह एक दिन हम भी विशालकाय भट्ठियां, भयंकर एटम बम और चन्द्रलोक तक पहुंच सकने वाले शक्तिशाली बाण बना सकेंगे।

—इलाहाबाद से प्रसारित

जीवन की सूनी राहों में

शंभूनाथ 'शेष'



... जाता है, जैसे किसी दृश्य से भिड़... .
. हो और उससे टक्करें ले कर, मर कर गिर जाता हो। परवाने ...
'है, फर्क इतना हो गया है कि तब प्रेम के लिए आत्मोत्सर्ग करता था, अब ...
ता है। मरने के मूल में कल्पना की जो कोमलता थी, वह गई तो गई, उसका गौरव
त्यों बना है।

। और मृत्यु, उत्सर्ग और गौरव, शमा और परवाना।

न जाने क्यों, अचानक उस घटना की याद आ गई है। बहुत पुरानी घटना है। अचरज
त वह मुझे ज्यों की त्यों याद हो आई है। लगता है, जैसे इनसान कोई बात कभी भूल
स्मृतियों के भण्डार घर की भीड़ में वे खो भले ही जाती हों।

। रेल-यात्रा की है। रात भर सो कर जब सवेरे तड़के आंखें खुलीं, तो ब्राह्म वेला की
, खुली खिड़कियों से, झिर-झिर अन्दर आ रही थी। उठ कर बैठ गया। तेजी से
वाले गांवों-खेतों में अभी जागरण की चंचलता नहीं आई थी। मेरे साथ के एकमात्र
फर भी अभी मीठी नींद में गाफिल थे। बाहर का दृश्य बड़ा सुहावना लग रहा था
खों से मैं प्रकृति के उस सहज-सलोने रूप को देखता रहा। और गाड़ी अचानक
के साथ किसी स्टेशन पर खड़ी हो गई।

। झटके से मेरा सहयात्री उठा, मेरे पायताने आ कर उसने फुर्ती से दरवाजा खोल
ा, प्रतीक्षातुर आंखों से प्लेटफार्म पर, चारों ओर, कुछ ढूंढ़ने-सा लगा। फिर झट
गया।

आंखों ने उसकी दृष्टि का अनुसरण किया। देखा, हिरनी-सी अपनी चंचल वि
ों में कुछ खोजती हुई-सी एक युवती तेजी से चली आ रही है। लगभग मेरी खिड़
... सामने आए। युवती ने हाथ जोड़े। उसके ओंठ कांपे, कांपते रहे। ...रित
... जैसे ऐंठ

आकाश-पाताल

प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'



...कर, सिद्धान्ततः साधारण पानी...

...ती है। परन्तु अभी तक कोई इस शक्ति को प्राप्त नहीं कर सके...

...में जल परमाणुओं से शक्ति निकाली जा सके। तब ईंधन की कोई कमी

...रा समुद्र पानी से भरा पड़ा है।

कुछ लोग अभी से स्वप्न देखने लगे हैं कि भविष्य में मोटर गाड़ियों के साथ र...
...नाना भी मिल जाया करेगा, जिससे गाड़ी अपने जन्म भर चलती रहेगी परन्तु वर्तमा...
...ट्ठियों की नाप-तोल देखते हुए यह मृगतृष्णा ही जान पड़ती है।

भारतवर्ष में बम्बई के पास ट्राम्बे में एक छोटी-सी परमाणु भट्ठी है जिसमें आं...
...रखने के लिए पानी का उपयोग होता है। इस भट्ठी का नाम 'अप्सरा' रखा गया है।
...नी एटामिक एनर्जी कमीशन है और भारतीय वैज्ञानिक भी ऊर्जा की खोज में
...सन्देह एक दिन हम भी विशालकाय भट्ठियां, भयंकर एटम बम और चन्द्रलोक
...ने वाले शक्तिशाली बाण बना सकेंगे।

—इलाहाबाद से

चुकी है। ...सने लगे। ...पर लेटा क्यों है कि कुछ होता यत्न का, ...त? क्या। सोना ...वल नदी में कुछ ...ड़कों से ...महां ऊंचे ...सब कुछ विषमता का नाम अंधकार अंधकार ...मान लें?

अं... ख... है... है उ... है चा... की सोच... नाह... वड़े... नहीं... अब... अंधक... समता... अज्ञान... जरूर...

...वह गली के खंभे की बत्ती जल उठी। बारिश से शायद लाइन खराब हो गई थी। अंधेरा था। आंखों ने समझौता कर लिया था उससे। अब अचानक यह तेज रोशनी—जैसे अंधकार के समुद्र में अकेला एक ज्योति-पुंज, जैसे निराशा के तिमिर की उपेक्षा करके चलने वाला, विश्वास और आशा की ज्योति लिए कोई अकेला यात्री! ये उपमाएं अच्छी लगती हैं, सच कहूं, इस घड़ी रोशनी अच्छी नहीं लगती, और लो, पलक मारते पतंगों का यह झुंड बिजली की बत्ती के इर्दगिर्द मंडराने लगा।

बिजली विज्ञान का वरदान है। विज्ञान ने मनुष्य के भौतिक सुखों के लिए क्या नहीं किया? बिजली हमें गर्मी, बरसात भर पंखा हांक जाती है, रोशनी देती है, खाना पका देती है और

रेडियो के ज़रिए देश-देशान्तर के साहित्य संगीत से ही नहीं, साहित्यिकों और संगीतज्ञों से भी मिला देती है। अब न तो ताड़ का पंखा हाथ में ले कर रात-रात भर झुलाते रहने की ज़रूरत है, न पंखा खींचने वाले मज़दूर को विवश यातना की कल्पना से दुखी होने की ही। दिया-बत्ती और तेल-सलाई के झंझट से भी हमारा वास्ता नहीं रहा। बिजली के चूल्हों ने गीली लकड़ी के धुएं से कुलवधुओं की रक्षा कर ली है। यह सब तो ठीक है, लेकिन एक बात बड़ी गड़बड़ हो गई। बिजली ने शमा और परवाना, दीपक और पतंग की काव्य-कल्पना को बड़ी ठेस पहुंचाई है। शमा के जलते रूप के आकर्षण से खिंच कर, परवाना अपने प्राणों की आहुति दे देता था—शमा-परवाना की कहानी, प्रेम के उत्सर्ग की ज्वलंत कल्पना थी। बेचारा परवाना तो अब भी है, शमा के अभाव में वह बिजली की बत्ती के पास भी आ ही जाता है, लेकिन जल मरने का रास्ता उसके लिए बन्द हो गया है, साथ ही खत्म हो गई है उत्सर्ग की मधुर और कोमल कल्पना भी। अब तो ऐसा लगता है, जैसे किसी दैत्य से भिड़ने के लिए बौनों का समूह ताल ठोंक कर आता हो और उससे टक्करें ले कर, मर कर गिर जाता हो। परवाने को मरना तब भी था, अब भी है, फर्क इतना हो गया है कि तब प्रेम के लिए आत्मोत्सर्ग करता था, अब शत्रु से जूझ कर मरता है। मरने के मूल में कल्पना की जो कोमलता थी, वह गई तो गई, उसका गौरव तो ज्यों का त्यों बना है।

जीवन और मृत्यु, उत्सर्ग और गौरव, शमा और परवाना।

लेकिन जाने क्यों, अचानक उस घटना की याद आ गई है। बहुत पुरानी घटना है। अचरज है कि उस वक्त वह मुझे ज्यों की त्यों याद हो आई है। लगता है, जैसे इनसान कोई बात कभी भूल नहीं पाता—स्मृतियों के भण्डार घर की भीड़ में वे खो भले ही जाती हों।

घटना रेल-यात्रा की है। रात भर सो कर जब सवेरे तड़के आंखें खुलीं, तो ब्राह्म वेला की प्राणप्रद वायु, खुली खिड़कियों से, झिर-झिर अन्दर आ रही थी। उठ कर बैठ गया। तेज़ी से सरकते जाने वाले गांवों-खेतों में अभी जागरण की चंचलता नहीं आई थी। मेरे साथ के एकमात्र दूसरे मुसाफ़िर भी अभी मीठी नींद में गाफिल थे। बाहर का दृश्य बड़ा सुहावना लग रहा था। निस्पंद आंखों से मैं प्रकृति के उस सहज-सलोने रूप को देखता रहा। और गाड़ी अचानक एक झटके के साथ किसी स्टेशन पर खड़ी हो गई।

उसी झटके से मेरा सहयात्री उठा, मेरे पायताने आ कर उसने फुर्ती से दरवाज़ा खोला और विकल, प्रतीक्षातुर आंखों से प्लेटफार्म पर, चारों ओर, कुछ ढूंढ़ने-सा लगा। फिर झटपट नीचे उतर गया।

मेरी आंखों ने उसकी दृष्टि का अनुसरण किया। देखा, हिरनी-सी अपनी चंचल किन्तु उदास आंखों से कुछ खोजती हुई-सी एक युवती तेज़ी से चली आ रही है। लगभग मेरी खिड़की के नीचे ही दोनों आमने-सामने आए। युवती ने हाथ जोड़े। उसके ओंठ कांपे, कांपते रहे। मुंह से आवाज न निकली, आंखों से आंसू निकल आए। युवक का सारा शरीर ही जैसे ऐंठ कर रह गया। धीमे से उसने कहा—"तुम रोती हो, प्राण ?"

युवती बोल नहीं सकी। आंखें झरती रही, ओंठ कांपते रहे, उसने सिर हिला दिया—"नहीं, रोती कहां हूं ?"

युवक ने फिर कहा—"लेकिन रोती तो तुम हो ! क्या मेरे लिए रो रही हो ?"

और युवती ने सिर उठा कर एक बार युवक की ओर देखा। उन कांपते हुए ओंठों में, उन भरी हुई आंखों में, असह्य व्यथा से विवर्ण हुए उस चेहरे में, कोई ऐसी भाषा थी, कोई ऐसी

बात थी, कोई ऐसी व्यथा थी, जिसे कहा नहीं जा सकता, बताया नहीं जा सकता—सिर्फ देखा जा सकता है, देख कर अनुभव किया जा सकता है।

गार्ड ने झंडी दिखाई, गाड़ी ने सीटी दी, युवती ने उमड़ती सुबकियों को रोकने के लिए ओंठ भींच लिए—गोरे-गोरे जुड़े हाथों से आँखें पोंछीं और तेजी से वापस लौट पड़ी। गाड़ी सरकने लगी थी। युवक क्षण भर बुत बना प्लेटफार्म पर, खड़ा रहा, फिर लौटा, उछल कर गाड़ी पर आ रहा और कटे वृक्ष की तरह बर्थ पर जा गिरा।

मैंने उसे देखना चाहा, देख नहीं सका। शमा बुझ गई थी, परवाना जल गया था, उसकी लाश मेरे सामने पड़ी थी और एक आवाज़ कानों में गूंज-गूंज कर जाती थी—"प्राण! तुम रो रही हो?"

अरे! गली के खम्भे का यह बल्व जैसे अचानक जल उठा था, वैसे ही बुझ भी गया। अंधेरा फिर वैसे ही फैल गया है, चारों ओर—शायद कुछ और गाढ़ा हो कर। रोशनी के चारों ओर मंडराने वाले पतंगे हतप्रभ हो कर इधर-उधर गिरने-पड़ने लगे हैं। कुछ मेरी खिड़की की राह मेरे बदन पर भी आ गिरते हैं। खिड़की बन्द कर दूं तभी ठीक, हवा की ठंडक भी तो बढ़ गई है।

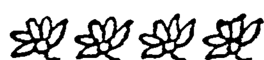
पड़ोस के किसी घर से आवाज़ें आ रही हैं—सुरीली नहीं, कर्कश। ये आवाज़ें अकसर आती हैं। दिन की हलचल में कुछ मध्यम-सी होती हैं, इस वक्त खासी तेज़ हैं। कुछ लड़ाई-झगड़ा हो रहा है, होता ही रहता है। मैं ये आवाज़ें सुनता हूं, तो हंसी आने को होती है, लेकिन आ नहीं पाती कि अफसोस भर आता है मन में। हमारे परिवारों का कितना समय, कितनी शक्ति नष्ट हो जाती है इन झगड़ों में। और झगड़ा काहे का? विषय गिनाने बैठूं तो वक्त चाहिए। नहीं, नहीं, उतना धीरज मुझमें नहीं है, और भी किस्सम होगा?

लेकिन मैं तो कुछ नहीं सोचना चाहता था। मैं थका था, सोना चाहता था। अभी तक सो नहीं पाया। आकाश-पाताल, जाने क्या-क्या सोचता जा रहा हूं। यह सिलसिला क्या कभी खत्म हो पाएगा? अब तो मन की दूकान समेट लूं, तभी अच्छा। हां, मैं अब कुछ नहीं सोचूंगा। कमरे की खिड़की तो मैंने नहीं बन्द की, मन की खिड़की बन्द किए लेता हूं? मेरी पलकें भारी होती आ रही हैं—हां, अब शायद मैं सो जाऊंगा, अपनी कल्पनाओं से, अपने विचारों से, अपने सपनों से रात भर के लिए विदा लेता हूं—विदा!

—पटना से प्रसारित

सर्वोदय

जयप्रकाश नारायण



यह सर्वोदय विचार है क्या ? पहली बात यह समझ लेनी चाहिए कि यह कोई वाद नहीं है, जैसे कि कई प्रकार के वाद आज प्रचलित हैं । यह एक मुक्त विचार है । महात्मा जी ने स्वयं ज़ोर दे कर कहा था कि उन्होंने किसी भी प्रकार के वाद की स्थापना नहीं की है । वह तो केवल सत्य की खोज में लगे रहे थे । इसी शोध में उन्हें अहिंसा अथवा सर्वोदय का विचार मिला था ।

सत्य की शोध महात्मा जी के साथ समाप्त हो चुकी, या जो कुछ उन्होंने ढूंढ़ निकाला, उतना ही सत्य है, सो बात भी नहीं है, और न कोई सर्वोदय विचार वाला ऐसा कहेगा । सत्य की शोध मानव जीवन के प्रारम्भिक काल से चली आ रही है और जब तक मानव जाति कायम है, वह शोध चलती रहेगी । मानव की यह सब से बड़ी विशेषता है कि वह बराबर सत्य की खोज में लगा रहता है । यह उसका सहज स्वभाव है । जब आप का छोटा बच्चा आप से पूछता है कि 'बाबू जी यह क्या है ?'—तब वह सत्य की शोध ही कर रहा है । असत्य की शोध नहीं हो सकती, क्योंकि उसका अस्तित्व नहीं है । असत्य तो घर बैठे-बैठे गढ़ लिया जा सकता है, जैसा कि दुनिया में हर दिन होता है ।

सत्य की निरन्तर खोज करते रहना जहां मानव का सहज स्वभाव है, वहां यह भी सत्य है कि वह खोज अत्यन्त कठिन है और उसमें सब को एक जैसी सफलता नहीं मिलती । जितना ही मनुष्य अपने शरीर मन आदि पर काबू पा सकेगा, जितनी ही अविकल तथा निर्मल उसकी सत्य साधना होगी उतना ही वह अपनी शोध में आगे बढ़ेगा ।

साथ-साथ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि सत्य अनन्त है । इसलिए कोई भी मनुष्य पूर्ण सत्य तक पहुंच नहीं पाएगा, सत्य की खोज कभी समाप्त नहीं होगी ।

सर्वोदय विचार मानव जीवन, यानी सामाजिक मानव जीवन के सम्बन्ध का विचार है । मानव एक सामाजिक प्राणी है, और जहां भी वह पाया जाता है, छोटे-बड़े समूह बना कर रहता है । मानव जीवन समूह या समाज से अलग चल ही नहीं सकता । मनुष्य अकेला नहीं रह सकता । यदि मनुष्य का बच्चा समाज से अलग कर दिया जाए तो वह मर जाएगा और यदि किन्हीं असाधारण कारणों से वह बच भी जाए तो न वह मनुष्य की भाषा बोल सकेगा, न मनुष्य से कोई संस्कार ही उसे प्राप्त हो सकेंगे । वह निरा पशु होगा ।

परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि मनुष्य समाज में ही रहता है, पर वह अब तक यह सीख नहीं पाया है कि समाज में रहना कैसे चाहिए । यह सीखने में उसके लिए दिक्कत इस

कारण भी होती रही है कि मानव के समाज की सीमाएं बराबर बढ़ती गई हैं, यहां तक कि इस आणविक युग में पृथ्वी का कुल मानव समाज प्रत्येक मानव का समाज बन गया है। आज की दुनिया का प्रत्येक व्यक्ति पूरे मानव समाज का सदस्य बन चुका है। छोटे-छोटे समाजों में कैसे रहना चाहिए, यह भी जो मानव अच्छी तरह सीख नहीं पाया था उसे अब एक विशाल मानव परिवार का सदस्य बनना पड़ा है। विज्ञान ने सहजीवन के प्रश्न को व्यापक रूप दे डाला है। उधर सहजीवन की कला मानव ने अभी तक सीखी नहीं। नतीजा है आज का दिन-रात चलने वाला शीत युद्ध।

जब मनुष्य छोटे-छोटे समूहों में रहता था तब भी वह एक-दूसरे के साथ रहने की कला ठीक से नहीं जानता था। वह आपस में लड़ता था, एक-दूसरे को दुखाता था। यह सही है कि वह आपस में प्रेम भी करता था, परन्तु कुल मिला कर कहना पड़ेगा कि एक-दूसरे के साथ उसका व्यवहार अच्छा नहीं था। इसके कारण मानव जीवन में सुख और शान्ति का सदा अभाव रहा। मानव मात्र सुख और शान्ति का प्यासा रहा, परन्तु उसने यह जाना नहीं कि इन्हें प्राप्त कैसे किया जाए। दूसरों को दुखी बना कर अपने को सुखी बनाया जा सकता है ऐसा वह सोचता रहा। परन्तु उसके पास इस बात का कोई उपाय नहीं था कि दूसरे भी उसके साथ वैसा ही करें। अपने सुख के लिए दूसरों को दुखी बनाने के प्रयास का परिणाम यह हुआ कि मानव-जीवन से सुख का या तो लोप ही हो गया या वह क्षणिक और अस्थायी बना रहा। क्षणिक सुख को कौन सुख कहेगा? मैं यदि सुख से रहा और मेरे बच्चे दुख में पड़े, तो मेरे सुख का क्या मूल्य हुआ? हम तो अपने बच्चों के लिए ही जीते हैं न?

सुख-दुख का विवेचन अनादि काल से तत्वद्रष्टा करते आ रहे हैं और अनेक प्रकार से उन्होंने इस पहेली को समझाया है। इस विषय में सबसे गहरी और ऊंची बात जो उन्होंने बताई है वह यह है कि दूसरों के दुख को अपना दुख और सुख को अपना सुख मानो तो सदा सुखी रहोगे। अगर आज की भाषा में कहें तो ऐसा कहेंगे कि हमें सुख तभी मिलेगा जब समाज में सभी लोग सुखी होंगे। और चूंकि वर्तमान मानव समाज पृथ्वी व्यापी बन चुका है, इसलिए जब सारा विश्व मानव समाज सुखी बनेगा, तभी हम भी सुखी होंगे। जब सर्वत्र सुख होगा, शान्ति होगी तो कोई भी दुखी नहीं रहेगा, कोई अशान्ति न होगी। सुख क्षण-भंगुर नहीं, स्थिर और शाश्वत बनेगा, चिर शान्ति की स्थापना होगी।

सर्वोदय का यह मूल विचार है। इतना समझ लिया और मान लिया तो सर्वोदय विचार को मान लिया, ऐसा कहा जाएगा। अब आगे यह प्रश्न हल करने को रहेगा कि सभी लोग सुखी कैसे हो सकते हैं, सब का हित कैसे सध सकता है, सर्वत्र शान्ति कैसे स्थापित हो सकती है। इन प्रश्नों के भिन्न-भिन्न उत्तर हो सकते हैं, जिनकी सत्यता अनुभव और प्रयोग से ही सिद्ध हो सकती है। इसलिए सर्वोदय विचार में कोई कट्टरता नहीं है।

इन प्रश्नों का एक उत्तर जो सर्वोदय विचारक देते हैं वह इस प्रकार है—सबका हित तभी सिद्ध हो सकता है और सबको सुख प्राप्त हो सकता है जब हर व्यक्ति अपने सीमित हित, यानी स्वार्थ, का विचार छोड़ कर सब के हित के लिए कार्य करे। आज ऐसा नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि इस विचार को आदर्शवाद कहा जाता है और इसे अव्यावहारिक माना जाता है। आज तो हर व्यक्ति या हर परिवार अपने ही, निजी या पारिवारिक, हित का चिन्तन करता है और उसी के लिए पुरुषार्थ करता है। इसी को सहज मानव स्वभाव माना जाता है। लेकिन कोई भी ठीक-ठीक नहीं कह सकता है कि असल में मानव स्वभाव है क्या। वह कुछ भी हो, मानव के पास सहज स्वभाव के अतिरिक्त और उससे परे एक बहुत बडी वस्तु है,

जिसे बुद्धि कहते हैं। मनुष्य एक बुद्धिवान पशु है। इसका अर्थ यह है कि जो भी मानव स्वभाव है वह बुद्धि के अधीन है। यह देखा जाता है कि मनुष्य यदि किसी बात को बुद्धिपूर्वक ग्रहण कर लेता है तब उस पर वह अमल करता है, या करने का प्रयास करता है।

अब इस आणविक युग में मनुष्य यदि बुद्धि से काम लेगा तो यह बात उसकी समझ में आसानी से आ जावेगी कि यदि हर व्यक्ति अब भी अपने-अपने सुख और हित के लिए पुरुषार्थ करता रहेगा तो वह आपस में लड़ता ही रहेगा, एक दूसरे को दुखाता रहेगा और सताता ही रहेगा। तब यह पूछा जा सकता है कि हज़ारों वर्षों से जब ऐसा ही होता आया है तब आज इससे कौन-सी नई दुर्घटना होगी जो अब तक नहीं हुई है। मानव आपस में लड़ते हुए भी आज तक जीवित है, तो कल के लिए क्या खतरा है? आप सभी जानते हैं कि खतरा कौन सा है। खतरा सर्वनाश का है, क्योंकि यह तीर-धनुष, तोप-बन्दूक आदि का ज़माना नहीं है। यह हाइड्रोजन बम तथा स्पुतनिक का ज़माना है। यह आणविक युग है। अब आपस में लड़ने का निश्चित परिणाम सर्वनाश होगा। भावी युद्ध में किसी की भी जीत नहीं होगी। सबकी हार और सबका नाश होगा।

हर युग का अपना-अपना धर्म होता है, जिसे युग धर्म कहते हैं। इस आणविक युग का धर्म सर्वोदय है। सर्वोदय इस युग के लिए आदर्शवाद नहीं नितान्त व्यावहारवाद है, क्योंकि सर्वोदय ही इस युग में हमारी रक्षा कर सकता है। यदि सर्वोदय नहीं होता तो सर्वनाश निश्चित है। बीच का रास्ता विज्ञान ने बन्द कर दिया है।

—पटना से प्रसारित

गीत

सुमित्रा कुमारी सिन्हा



साधना के दिवस मेरे, कामना की रैन।

कर रही डगमग पगों से अडिग पथ की माप
अनमिले वरदान से मैं खोजती हूं शाप,
लगन राधा, लक्ष्य मोहन, हित हृदय का क्षीर
यत्न कर से मथ रही नवनीत है दृगनीर।
और, चलते जा रहे हैं भावना के सैन।
साधना के दिवस मेरे, कामना की रैन।

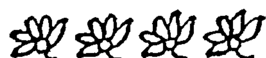
एक दिन, दुख पास मेरे आ गया घर छोड़,
और छिन में, युगों का बन, रम गया संग जोड़,
बाट तब से देखती, आए भटक सुख मीत,
औ' इसे बहका रही हूं दे मधुर डर प्रीत।
खीझ रूठू, रीझ बोलूं याचना के बैन।
साधना के दिवस मेरे, कामना की रैन।

अब यही क्रम, रात की मसि मे स्वरों को बोर,
आश औ' विश्वास के लिख गीत, कर दू भोर,
गीत जिनमे तृप्ति की हो छटपटाती प्यास
और जिनकी नीव पर रच दे भवन इतिहास।
कल खिले वन फूल, मुद आराधना मे नैन।
साधना के दिवस मेरे, कामना की रैन।

—प्रवासी भारतीयों के लिए प्रसारित

सब्ज़ी वाली

विद्या माथुर



इतने बड़े शहर के हृदय पर दनदनाती हुई रेलगाड़ी शोर मचाती चली आ रही थी परन्तु नागरिकों पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ रहा था। वे बेफिक्री के साथ लाइन पार कर रहे थे। रेलगाड़ी अभी आधा मील दूरी पर थी, इंजन ड्राइवर जानता था अतः शोर जारी रखा किन्तु स्पीड कम कर दी। अचानक उसकी निगाह एक व्यक्ति पर पड़ी जो अपने हाथों में कुछ वस्तु लिए लाइन पार कर रहा था कुछ गौर करने से प्रतीत हुआ कि कोई लड़की होगी। परन्तु उसकी बेफिक्री पर ड्राइवर चौक-सा गया। शायद बहरी हो। उसने स्पीड और कम कर दी। वह अब भी उसी प्रकार चल रही थी। कुछ क्षणों में आस-पास के लोगों की इकट्ठी चीत्कार के साथ ट्रेन रुकी और सबने एक चिरस्मरणीय दृश्य देखा कि केवल दो सैकिन्ड के छोटे-से टाइम ने उस व्यक्ति को रेल का शिकार बनने से बचा दिया।

सभी लोग स्तंभित रह गए। आश्चर्य से उनकी आंखें खुली रह गईं। रेल के दूसरी ओर के लोग अब भी यही समझ रहे थे कि वह अवश्य ही रेल के नीच होगी। ड्राइवर गाड़ी से उतरा और देखा कि वह एक छोटी कन्या नहीं वरन ६५ वर्ष की आयु वाली एक बुढ़िया थी, जिसके हाथों में आधा कटा हुआ कद्दू था। वह खड़ी रही और रेल गाड़ी चली गई। आस-पास के लोग अपने-अपने कामों में लग गए और उस बुढ़िया ने अपने हाथ का कद्दू वहां रखा और फिर लाइन पार करने लगी।

वह बुढ़िया थी, उसकी त्वचा में झुर्रियां पड़ गई थीं। किसी समय में वह चार फुट लम्बी रही होगी परन्तु अब तो कमर झुक जाने से केवल साढ़े तीन फुट ही रह गई है। गाड़ी भी उसकी टूटी-फूटी है परन्तु उस में सब्जी तो रखी जा ही सकती है। व्यापार तो कोई लम्बा-चौड़ा नहीं, पर हां दिन में चार पैसे अवश्य जुटा लेती है। यूं तो उसने कभी हिसाब-किताब सीखा नहीं परन्तु उसकी अर्न्तप्रेरणा भले और बुरे आदमी की पहचान अवश्य करा देती है।

जिस समय उसक प्राणों को खतरा हो वह शान्त रहती है, मानो उसे अपनी "मृत्यु पर विजय" का पूर्ण विश्वास हो। तांगा, मोटर, साइकिल, रिक्शा आदि गाड़ियों से वह बार-बार बचती जाती है। आंखों और कानों ने उसका अधिक साथ देना कम कर दिया है परन्तु वह इन तुच्छ बातों का विचार ही नहीं करती। करे भी तो क्यों! अन्य साधारण मनुष्यों की तरह यदि वह इस सत्य को सामने रखे कि उसकी आयु ६५ वर्ष की है, उसके कान-आंख-मस्तिष्क आदि शारीरिक अंग शिथिल पड़ गए हैं तो क्या वह सब्जी बेचने जा सकती है ?

उसके ग्राहकों में से एक वृद्धा ने उससे एक बार पूछा—अरी बुढ़िया ! तू क्यों जान दिए देती है ? क्या तेरे घर में और कोई कमाने वाला नहीं जो ऐसे हथेली पर जान लिए फिरती है ?

असाधारण घटनाओं को निर्लिप्त रूप से देखने वाली उस बुढ़िया ने इस समय आश्चर्य से इस ग्राहिका को देखा और बोली—क्यूं ? मेरे तो सब हैं, एक देवर है वह काम करता है। उसका बच्चा है, यही तेरे छोटे पोते के समान उम्रवाला होगा, उसी के लिए मैं सब्ज़ी बेचती हूं, मुझे तो अपने लिए कुछ नहीं चाहिए। बेचारे के मां नहीं है। बाप दे या न दे मुझे तो उसका पेट भरना ही है।

जीवन की आपत्तियों के शरों से विद्ध उसके मृतप्राय शरीर में इतनी कोमल आत्मा है। उसका वात्सल्य भाव उसके ज्योतिहीन शरीर में एक दीपक की तरह जल रहा है। ग्राहक उसके गिने-चुने हैं। वास्तव में उसे अधिक ग्राहक बनाने का शौक ही नहीं है। पर हां यदि किसी दिन उसके पुराने ग्राहक कहें कि आज उन्हें घर में सब्जी की आवश्यकता ही नहीं तो उसे ऐसी निराशा होती है मानो आज उसके हाथ के बने खाने को कोई अस्वीकार कर रहा हो। पहली बार प्यार से पूछती है—क्यूं ? जो पैसे न हों तो कल दे देना। सब्ज़ी तो ले लो। यदि इसके उत्तर में ग्राहक उचित कारण बता दे कि आज त्योहार है, व्रत है अथवा कहीं बाहर खाना है, तो वह एक ठंडी सांस भर कर ऐसे जाने लगती है मानो उसके प्रेम को ठुकरा दिया गया हो।

उसकी सब्जी ताज़ी और साफ कम मिलेगी, आंखों से कम दीखने के कारण मंडी में बहुत लोगों की बासी खराब सब्ज़ी वह ऊंचे मूल्य पर ले आती है और जब बाजार में बेचने जाती है तो उसे ग्राहकों के दाम सस्ता करवाने पर अचरज होता है। कहां तक कम करे वह ! भला वह अपनी मेहनत-मजूरी के पैसे भी बनाए या नहीं। कभी-कभी भावावेश में वह एक पैसा प्रति रुपया लाभ पर ही दे बैठती है और जब सन्ध्या को जाने लगती है तो पैसे गिन कर हैरान हो जाती है, तब एक बार फिर अपना बल इकट्ठा कर अपने सबसे अधिक दयालु ग्राहक पर दुबारा जा कर कहती—"क्यू ? कुछ और ले लो, आज मेरा धेला भी न बना, चाहे कल मत लेना।"

मन होता है कि पूछें इस बुढ़िया से—ओ बुढ़िया सब्जी खरीदने और बेचने में कष्ट के सिवाय तुझे और क्या मिलता है ? सड़ी सब्ज़ी ले जाती है जिसको बेचना भी कठिन हो जाता है, यदि बिक भी जाए तो लाभ काफी नहीं होता। इसमें तुझे किस प्रकार सन्तोष और सुख मिलता है ?

तो शायद वह उत्तर यूं देगी—सवेरे यह विचार कि मंडी जाना है क्या मेरे अन्दर प्रेरणा नहीं भरता, कि मैं कार्य करूं। मंडी जाना, दूर-दूर घरों में जाना, वहां मनुष्य मात्र की गंध, सारी ऋतुओं का अनुभव, सन्ध्या वापिस घर आ कर अपने उस लाड़ले बच्चे का मुख देखना, क्या इन सबमें सुख और सन्तोष नहीं भरा पड़ा है ?

सत्य कितना सुन्दर है ! इसका अनुभव करने वाले संसार में बहुत कम होते हैं, और यह बुढ़िया जो अज्ञानी, दरिद्र और निर्बल मानी जाती है उसमें मानव शक्ति का सत्य रूप, आत्म-विश्वास का भाव और वास्तविकता का मर्म कितने अनोखे रूप में भरा पड़ा है, यह केवल उसको गहराई से देखने वाले ही जान सकेंगे अन्यथा आत्म-बल की यह प्रतिमा आज भी अमुक बड़े शहर के बाज़ारों और घरों में डोलने वाली एक सब्ज़ी वाली बुढ़िया ही तो है !

—दिल्ली से प्रसारित

पारिभाषिक शब्दावली

डा० यदुवंशी



लगभग १५० वर्ष तक विदेशी शासन के अधीन रह कर १६४७ में हमारा देश आज़ाद हुआ। १६५० में हमारा संविधान बना और उसमें हिन्दी को संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया। देश के अलग-अलग राज्यों को यह अधिकार दिया गया कि वे या तो अपनी किसी प्रादेशिक भाषा या भाषाओं को या हिन्दी को अपने सरकारी काम-काज की भाषा बना सकते हैं। देश के गौरव और राष्ट्रीय हित दोनों ही की दृष्टि से यह निर्णय बहुत उचित था, क्योंकि कोई भी देश सच्चे और पूरे मानों में आज़ाद नहीं हो सकता जब तक उसकी शिक्षा और उसका चिन्तन किसी विदेशी भाषा में होता रहे।

परन्तु पिछले १५० वर्षों में विज्ञान की अद्भुत प्रगति के कारण मानव सभ्यता ने इतनी अधिक उन्नति की है, हमारा ज्ञान-भण्डार इतना बढ़ गया है और हमारा रोजमर्रा का जीवन इतना जटिल हो गया है कि वह भाषा, जिससे पहले हमारे सब काम निकल आते थे, अब हमारी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकती। हमारे देश की सभी भाषाओं के सामने यह एक बहुत बड़ी और गहरी समस्या है कि पिछले १५० वर्षों में हमारे देश का सारा काम-काज, पठन-पाठन और चिन्तन अंग्रेज़ी में होने के कारण हमारी अपनी भाषाओं का स्वाभाविक विकास रुक गया। इनमें साहित्य सृजन तो हुआ, परन्तु इस साहित्य की परिधि अत्यन्त सीमित रही। तेजी से आगे बढ़ते हुए मानव-ज्ञान के अनेक नए क्षेत्रों से ये भाषाएं अछूती रह गईं। इसलिए अब जब हम इन भाषाओं को अपनी आजकल की संस्कृति और विचारधारा की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना चाहते हैं तो हमें इस मौलिक तथ्य का सामना करना पड़ता है कि अपने इस नए पद को ग्रहण करने के लिए इन भाषाओं में आवश्यक शब्दावली का नितान्त अभाव है, और इस अभाव की पूर्ति हुए बिना ये भाषाएं हमारे राजकाज, हमारी शिक्षा और हमारे चिन्तन का समर्थ माध्यम नहीं बन सकतीं। इस भारी अभाव का अनुमान आप इस बात से लगा सकते हैं कि अकेले वनस्पति-शास्त्र में आज दस लाख के लगभग पारिभाषिक शब्द हैं, जबकि आधुनिक हिन्दी के समस्त शब्दों की गिनती दो-तीन लाख से ऊपर नहीं है। इसके अलावा विज्ञान इतनी तेज़ी से प्रगति कर रहा है कि हर रोज़ सैकड़ों नहीं बल्कि हज़ारों की संख्या में नए-नए शब्द बन रहे हैं। यहां मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि यदि हमारी भाषाएं अपने-अपने स्वाभाविक रूप से विकसित होती रहतीं और हमारे राजकाज, शिक्षा आदि का माध्यम बनी रहतीं, तो आज यह स्थिति पैदा ही न हुई होती।

हमारे ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ अंग्रेज़ी, रूसी, जापानी भाषाओं की तरह इन भाषाओं की शब्दावली का क्रमिक विकास होता रहता।

लेकिन ऐसा नहीं हुआ, और अब जब शब्दावली की यह समस्या हमारे सामने आ खड़ी हुई है तो हमें उसे सुलझाना ही पड़ेगा। इसके लिए हमारे संविधान ने हमें १५ वर्ष की अवधि दी है। १५० वर्ष की कमी को १५ वर्ष में पूरा करना कोई आसान बात नहीं है। और यदि इस अवधि के बीच हम यह काम सफलतापूर्वक पूरा कर सकें तो मानव भाषा के इतिहास में यह एक अनूठा चमत्कार होगा। परन्तु इस भारी चुनौती को हमने स्वीकार किया है और दृढ़ निश्चय हो कर हमने इस काम का बीड़ा उठाया है।

यहां हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता है योजनाबद्ध कार्य और सम्पूर्ण समन्वय। यह इसलिए कि इतने थोड़े समय में एक विशाल प्रामाणिक शब्दावली का विकास बिना योजना और सम्पूर्ण समन्वय के नहीं किया जा सकता। १९४७ के तुरन्त बाद अनेक संस्थाओं और राज्यों ने अपने नए उत्साह में अपना सब कामकाज हिन्दी में करने का प्रयत्न किया और इसके लिए अपनी-अपनी शब्दावली गढ़ ली। परन्तु इसका फल यह हुआ कि एक ही वस्तु या विचार या संकल्पना के लिए किसी ने कुछ और किसी ने कुछ शब्द बनाए, जिससे उन्हें एक-दूसरे को समझना भी कठिन हो गया। उदाहरण के लिए, अंग्रेजी शब्द Engineer का अनुवाद कहीं यन्त्री हुआ, कहीं अभियन्ता और कहीं इंजीनियर शब्द ही रखा गया। इससे एक भारी अव्यवस्था पैदा हो गई, और हमारी भाषाओं के स्वस्थ विकास के लिए यह एक घातक स्थिति थी।

इस अव्यवस्था को दूर करने और हिन्दी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं का स्वस्थ और वैज्ञानिक ढंग से विकास करने के लिए १९५० में भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय ने एक वैज्ञानिक शब्दावली बोर्ड की स्थापना की जिसके सदस्य देश के चुने हुए श्रेष्ठ वैज्ञानिक और भाषा-शास्त्री थे। इस बोर्ड को यह काम सौंपा गया कि वह हिन्दी व दूसरी भारतीय भाषाओं के लिए एक प्रामाणिक और सामान्य वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली तैयार करे। तमाम राज्यों से यह प्रार्थना की गई कि वे इस कार्य में अपना पूरा सहयोग दें और पृथक रूप से अपने-अपने यहां पारिभाषिक शब्दावली के विकास के कार्य को बन्द करके जो कुछ काम उनके अपने-अपने प्रदेशों में हो चुका हो उसको केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय के पास भेज दें। इसी प्रकार विश्वविद्यालयों व दूसरी गैर-सरकारी संस्थाओं ने भी जो काम किया था उसको भी केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने अपने पास मंगवा लिया। इतना ही नहीं, हिन्दी के अलावा दूसरी भारतीय भाषाओं में भी जो पारिभाषिक शब्दावली थी उसको उपलब्ध किया गया। इतना हो जाने पर बोर्ड ने कुछ सामान्य सिद्धान्त निर्धारित किए, जिनमें उन सब प्रक्रियाओं का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया जो कि प्रत्येक जीवित और प्रगतिशील भाषा के ऐतिहासिक विकास में काम करती ह और जिनको आधुनिक भाषा विज्ञान के विशेषज्ञों ने सर्वसम्मति से माना है।

इन सिद्धान्तों के अनुसार काम करते हुए सबसे पहले हिन्दी और दूसरी भाषाओं में उपलब्ध समस्त पारिभाषिक शब्दों का सम्यक् अध्ययन किया गया, और ऐसे जितने शब्दों में विशिष्ट और सटीक अर्थ व्यक्त करने की क्षमता थी उन सबको ग्रहण कर लिया गया। उदाहरण के लिए, Immigration के लिए हिन्दी में 'आवास', Brackets के लिए बंगला में 'बन्धनी', अर्थशास्त्रिक मानों में Net के लिए कन्नड़ म 'निवल', और Strait तथा Isthmus के लिए तमिल भाषा में हमें 'जल-सन्धि' और 'थल-सन्धि' शब्द मिले। इन सबको

अर्थों में ग्रहण कर लिया गया है। इसके साथ-साथ विभिन्न उद्योग-धंधों और शिल्पों की जो शब्दावली देश में प्रचलित है उसका संकलन करने का भी प्रयत्न किया जा रहा है, और अब तक के अनुभव से कहा जा सकता है कि यह खोज बहुत ही लाभप्रद सिद्ध होगी। केवल Shipping अर्थात नौनिर्माण के उद्योग में हमें सैंकड़ों ऐसे प्रचलित पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, जो इस उद्योग की आधुनिक शब्दावली तैयार करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे। इस प्रकार के शब्दों का भाषा के विकास में बड़ा महत्व होता है, क्योंकि ये भाषा का जन-जीवन से सीधा सम्पर्क स्थापित करते हैं तथा उसे पोषित करते हैं।

परन्तु इन दोनों साधनों से हमारी कुल आवश्यकताओं के एक थोड़े-से अंश की ही पूर्ति होती है। पारिभाषिक शब्दावली का अधिकांश क्षेत्र ऐसे शब्दों से भरा पड़ा है जो नितान्त नवीन वस्तुओं अथवा संकल्पनाओं के द्योतक हैं। इनके लिए हमारी भाषाओं का उपलब्ध शब्द-भण्डार काम नहीं देता, और हमें नए शब्दों का विकास करना पड़ता है। यह विकास अनेक प्रकार से किया जा रहा है। पहले तो जहां तक हो सकता है उपलब्ध शब्दों के योग से अथवा उपसर्ग, प्रत्ययों की सहायता से उन शब्दों में अभीष्ट नए अर्थ का समावेश किया जाता है। इस प्रकार Confederation के लिए राज्य-मण्डल, Affirmation के लिए 'अभिवचन', Allotment के लिए 'नियतन' और Integration के लिए 'समेकन' जैसे शब्दों का विकास किया गया है। दूसरे, जहां अर्थ-सुगमता की दृष्टि से उचित समझा गया है, वहां दो विभिन्न भाषाओं के सरल तथा प्रचलित शब्दों को ले कर संकर शब्द भी बनाए गए हैं। ऐसे संकर शब्दों का प्रत्येक जीवित भाषा में बाहुल्य रहता है और भाषा की पुष्टि और समृद्धि में ऐसे शब्द बड़ा योग देते हैं। अंग्रेज़ी भाषा इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। हिन्दी में इस प्रकार के नए संकर शब्दों के कुछ उदाहरण हैं Birth-rate के लिए 'जन्मदर', Meteorology के लिए 'मौसम-शास्त्र', Cease-fire के लिए 'युद्धबन्दी'। ये सब शब्द सुगम भी हैं और सटीक भी। तीसरे, कुछ परिस्थितियों में दूसरी भाषाओं के शब्दों का ज्यों का त्यों, अथवा उनके उच्चारण को हिन्दी उच्चारण के अनुकूल ढाल कर समावेश कर लिया गया है। दूसरी भाषाओं से शब्द ग्रहण करना प्रत्येक जीवित भाषा के विकास का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। जितनी अधिक पाचनशक्ति किसी भाषा में होती है, उतनी ही तेजी से वह अपने शब्द-भण्डार को समृद्ध करती है। यहां फिर अंग्रेज़ी भाषा का उदाहरण हमारे सामने है, जिसने बड़ी उदारता से और बिना संकोच संसार की लगभग प्रत्येक भाषा से भारी संख्या में शब्द ग्रहण किए हैं। परन्तु यह शब्द ग्रहण भी एक व्यवस्थित ढंग से किया जाना चाहिए। अतः इसके लिए कुछ नियम बनाए गए हैं और कुछ कसौटियां रखी गई हैं जिनके अनुसार ही दूसरी भाषाओं के शब्दों का हिन्दी में समावेश किया जा रहा है। इसमें पहले तो वे शब्द आते हैं जो व्यवहार से हिन्दी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं में रच-पच गए हैं और उनका एक संकलित अंग बन गए हैं। जैसे बैंक, लाइसेंस, कोरम इत्यादि। इन शब्दों का अब अनुवाद करके नए अपरिचित शब्द बनाना व्यर्थ और निष्फल प्रयास होगा। दूसरी श्रेणी में ऐसे शब्द आते हैं जो माप-तौल इत्यादि की इकाइयां हैं, अथवा किसी व्यक्तिविशेष के नाम पर बनाए गए हैं, अथवा प्रतीक शब्द हैं, जैसे मीटर, ग्राम, वोल्ट, फारेनहाइट, साइन, कोसाइन इत्यादि। तीसरी श्रेणी में ऐसे शब्द आते हैं जिनको हम अन्तर्राष्ट्रीय प्रचलन के शब्द कह सकते ह, क्योंकि अधिकांश भाषाओं में उनका प्रयोग होता है। विज्ञान के क्षेत्र में इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीयता को बड़ा महत्व दिया जाता ह और वहां यह एक प्रथा-सी बन गई कि किसी वस्तु या संकल्पना का आविष्कारक उसे जो नाम दे देता है समस्त संसार क वज्ञानिक उसी नाम को स्वीकार कर लत हैं, अपनी-अपनी

भाषाओं में उसका अनुवाद करने की कोशिश नहीं करते। निःसन्देह इस प्रकार के शब्दों की संख्या बहुत बड़ी है, और यदि हमें अपनी भाषाओं को अन्य प्रगतिशील भाषाओं की कोटि में ला कर खड़ा करना है तो हमें उन्हीं की तरह यह विशाल शब्द-भण्डार आत्मसात करना होगा।

अन्त में, जहां इन साधनों में से किसी से भी काम नहीं चला, तो नई संकल्पनाओं को व्यक्त करने के लिए नए शब्दों का निर्माण भी किया गया है। इस कार्य में मुख्यतः संस्कृत धातुओं को ले कर उनसे अभीष्ट अर्थ के द्योतक शब्द बनाए गए हैं। पर इनके बनाने में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि ये शब्द यथासम्भव सुबोध हों, उनका उच्चारण सरल हो, और वे हिन्दी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं के मुहावरे में ठीक बैठ सकें—जैसे Referendum के लिए 'परिपृच्छा', Aggression के लिए 'अग्रधर्षण', His Excellency के लिए 'परम श्रेष्ठ', His Majesty के लिए 'महामहिम' इत्यादि।

शब्दावली निर्माण का कार्य बड़ा विशाल है और इसमें पग-पग पर अनेक समस्याएं आ खड़ी होती हैं जिनका सन्तोषजनक हल निकाले बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते। फिर भी यह विश्वास किया जा सकता है कि इस वैज्ञानिक और व्यवस्थित ढंग से शब्दावली का विकास होने पर हमारी भाषाएं अल्पतम अवधि के भीतर पर्याप्त रूप से सशक्त और समृद्ध बन जाएंगी।

—लखनऊ से प्रसारित

जाड़े की धूप

शकुन्तला शर्मा



ओ जाग सुहागिन मान भरी।
सोन चिरैया नभ पिंजरे की धरती की ओ धूप परी ।
शय्या पर बैठी अलसाई
चुटकी बजा तनिक जमुहाई
जागी परिचारिका झटाझट
सिमटा कुहरे का अन्तर्पट
दाड़िम भर कर लाई जल घट
वैजन्ती लाई पीला पट
सूर्यमुखी के स्वर्ण कटोरे में कस्तूरी भरी-भरी ।
झुक-झुक जब देखे मतवारी
भू चूमें अलकें सोनवारी
झटका दे जब पीछे डारे
नभ में विगसे केसर क्यारी
छांह समेटती नीला लहंगा दुबकी दुबरी आंवरी ।
खूंट खिसक आंचल का आया
पकड़ उसे सागर मुसकाया
औचक खींचा गिरी गोद में
झट् ले जा तट पर बैठाया
कमल कली दौड़ी ले पांवरि गड़े न कहीं कुस-कांसरी ।
मीठी-मीठी, लौनी-लौनी
हलकी नरम गुलाबी रंग की
रूई फुई की ज्यों मृग छौनी
अभी चपल छू गई यहां तृण
वहां कुलांची जा दूजे क्षण
फिर बगिया के पास खड़ी कुछ निरख रही है डरी-डरी

—दिल्ली से प्रसारित

रात का आकाश

ओंकारनाथ श्रीवास्तव



[समय ३० मिनट]

पात्र :

पुरुष	प्रकाश
	रामनिवास
	रायबहादुर
नारी	रेखा
	शीला
बालक	मंजु

[संगीत]

प्रकाश— (बीमार स्वर) अस्त हुआ दिन, मस्त समीरण
मुक्त गगन के नीचे हम-तुम....
कहां चली गई वह अस्तप्राय दिन की शोभा, मस्त चाल से बहता हुआ समीर, खुला हुआ आकाश और उसके नीचे हम और तुम ! नही, नहीं, अब किसी 'तुम' की कल्पना भी अपराध है। दिन-भर जिन्दगी का भार ढोता हूं। ऊपर नजर उठाने की फुर्सत तक नही मिलती कि खुला हुआ आकाश देखू, उसमें समीर की मुक्त चर्या देखू, डूबते हुए सूरज की बहुरंगी आरती देखू। रात की अपराधी घड़ियों मे जब चारों ओर से अधकार घिर आता है, तब चारपाई पर पड़े-पड़े खिड़की से आसमान का एक छोटा-सा टुकड़ा दिखाई देता है। चौखटे में बंधा हुआ, कसा हुआ, रुद्ध, छोटा-सा आकाश और सहम-सहम कर, धीरे-धीरे बहता हुआ थका समीर....

रेखा— सुनो जी ! सुनते हो ? क्या सोच रहे हो ?

प्रकाश— कौन, रेखा ! हां, कहो।

रेखा— फिर तुम उसी तरह गुनने लगे !

प्रकाश— नही तो !

रेखा— देखो, मैं तुमसे बार-बार कहती हूं, अपनी यह मनहूस आदत छोड़ दो, नहीं तो एक दिन यह हम सबको रुला कर छोड़ेगी।

प्रकाश— क्या करूं, रेखा ! हरदम तो किसी न किसी काम में फंसा रहता हूं । मगर जब फुर्सत पा कर थोड़ी देर के लिए लेटता हूं तो न जाने कहां-कहां के अशुभ विचार मुझे घेरने लगते हैं, जैसे मुझे कोई अद्‌भुत बीमारी होती जा रही है ।

रेखा— कुछ नहीं, यह सब तुम्हारे मन की दुर्बलता है, और कुछ भी नहीं ।

प्रकाश— मन की दुर्बलता कोई चीज़ ही नहीं है क्या, रेखा ?

रेखा— मगर यह क्यों भूल जाते हो कि कमज़ोर से कमज़ोर मन में भी कुछ ऐसी जादू की शक्ति होती है कि वह सहसा करवट ले कर अपनी सारी कमज़ोरी पर विजय पा सकता है ।

प्रकाश— कभी मैं भी ऐसा ही सोचता था, मगर इस ज़िन्दगी ने मुझे ऐसा कर दिया है कि अब तो कोई सूरत ही नज़र नहीं आती । यों मैं कर्ज़दार नहीं, मेरे ऊपर कोई बड़े-बड़े बोझ नहीं, तुम्हारे जैसी पत्नी और मंजु जैसे बेटे बहुतों को नहीं नसीब होते, फिर भी जब मैं देखता हूं कि तुम्हारे चेहरे पर वह खुशी नहीं है, मंजु को भी कम ही सुविधाएं मिल पाती हैं, और समाज में हमारी इज्ज़त भी कुछ कम ही है, तो जैसे लगने लगता है कि हम कुछ कम जी रहे हैं, जैसे हमारी ज़िन्दगी अधूरी है !

रेखा— यह आज तुम्हें क्या हो गया है ! रोज़ तो कहा करते थे कि हमको दुनिया से क्या मतलब जब हमारी खुद एक छोटी-सी दुनिया है ।

प्रकाश— कहा था, रेखा ! और फिर भी कहूंगा । इस रोज़-रोज़ की गाड़ी को चलाने के लिए कोई ताकत तो चाहिए ही और वह ताकत सिवाय इस फिलासफी के और कहां मिलेगी ।

रेखा— तो क्या यह गलत है ?

प्रकाश— नहीं, रेखा ! यह फिलासफी गलत नहीं है । असल में हम छोटी-छोटी दुनिया वालों की यही फिलासफी है ।

रेखा— तो होगी । हम छोटे, हमारी दुनिया छोटी, हमारी फिलासफी छोटी, हमारा संतोष तो बड़ा है ।

प्रकाश— हां, रेखा ! मगर एक समय ऐसा भी आता है जब इस बड़े संतोष का सागर सूखने लगता है । उसमें उठने वाली छोटी-छोटी उमंगें उठना बन्द हो जाती हैं । खामोश पानी नीचे उतरने लगता है और थके-हारे मुसाफिरों के दुखते कूबड़ों की तरह छोटी-छोटी बदसूरत चोटियां उभरने लगती हैं । तब हमें लगता है कि क्या यही था जिसके लिए हम जिए ? जिस पर हमें नाज़ था, जिसके लिए हमने ज़िन्दगी को जीने लायक माना, जिस पर हमने अपने संतोष की मोटी चादर फैलाई ? वह सब कितना छोटा और बदसूरत था—सब कुछ कितना बेकार था ।

रेखा— तुम्हें क्या हो गया है ? तुम्हारी बातें—नहीं, नहीं—ऐसी बातें मत करो । हम जहां हैं वहीं सुखी हैं । जिस असंतोष को तुम अपने मन में जगा रहे हो, वह हमें तोड़ कर रख देगा ।

प्रकाश— टूट जाने में भी एक सुख है, रेखा ! क्योंकि जब तक हम बढ़ेंगे नहीं, तनेंगे नहीं, तब तक टूटेंगे भी क्या !

रेखा— प्रकाश ! कभी तुम्हीं मुझे ऐसी बातें कहने से रोका करते थे । धीरे-धीरे मैंने तुम्हारी तरह रहना सीखा । इस बड़ी भारी पराई दुनिया में एक अपनी छोटी-

M153Mof I&B—17

सी दुनिया की कल्पना संवारी। आज तुम्हीं अपने उन विचारों से इनकार कर रहे हो! सोचो, मैंने किस-किस तरह अपने को इस तरह की बनाया है।

प्रकाश— हां, रेखा! सचमुच मैंने तुम्हें अपनी बातों के जाल में खूब उलझाया है, मगर यह सब भूल जाओ। वह सब एक बहुत बड़ा धोखा था।

रेखा— धोखा! मैं समझी नहीं!

प्रकाश— हां, रेखा! मेरे जैसे निकम्मे लोग अपनी कमज़ोरियों पर पर्दा डाल कर, इस तरह के दर्शनों का जाल बुन कर अपने को और दूसरों को यों ही धोखा दिया करते हैं। ये लोग अपने छोटेपन को, अपनी सीमाओं को, तरह-तरह के जामे पहना कर बढ़ाया-चढ़ाया करते हैं, मगर ज्यों ही मौका मिलता है, ये अवसरों को दांत से पकड़ लेते हैं और पुरानी बातों को यों भूल जाते हैं जैसे कोई सांप कैंचुल फाड़ दे।

रेखा— मगर निश्चय ही ऐसे लोग हमारा सम्मान नहीं पा सकते।

प्रकाश— (हंस कर) हमारे सम्मान की भली चलाई। अरे, हमारी परवाह कौन करता है? हम हैं क्या?

रेखा— यदि हमारी कोई परवाह नहीं करता, तो हम भी किसी की परवाह नहीं करते, दूसरों की नज़रों में हम कुछ न हों तो न सही, हम अपनी नज़रों में तो पाक हैं। जब तक हम अपने अन्दर के परमात्मा के सामने सच्चे हैं, जब तक हमारे दामन पर दाग नहीं है, हमें छोटे हो कर रहना अखरता नहीं।

प्रकाश— हां, यह पाक दामन होने का घमंड भी हमीं लोगों की खास चीज़ है। अरे, ज़रा अपने चारों ओर देखो तो, यहां है क्या जिससे हमारे दामन पर दाग लगे। सुनो, रेखा! एक कहानी सुनोगी। आज मैंने अखबार में एक बड़ी बढ़िया खबर पढ़ी है।

रेखा— क्या खबर?

प्रकाश— सुनना चाहती हो तो शुरू से ही सुनो। जब मैं यूनिवर्सिटी में पढ़ता था तब इतना मामूली नहीं था जैसा कि अब हूं। पढ़ने में भी और रहन-सहन में भी मैं औरों से जरा बीस ही था। तब मेरे दोस्तों की गिनती भी काफी थी। तब मेरे काफी दोस्त हुआ करते थे। ऐसे ही दोस्तों में एक था रामनिवास।

रेखा— तुमने कभी-कभी ज़िक्र तो किया है।

प्रकाश— हां, मगर पूरी तरह नहीं, क्योंकि कभी ज़रूरत ही नहीं पड़ी। तो ये रामनिवास साहब मेरे साथ रहते, मेरे बूते ठाठ करते, और बदले में मुझे अच्छा-खासा फिलासफी का पाठ पढ़ाया करते···

[फ्लैश बैक]

रामनिवास— तुमको क्या फिकर, भई प्रकाश साहब! राय साहब के बेटे हो, पैसों की चिन्ता नहीं, पढ़ाई कर ही रहे हो, खुद भी कुछ न कुछ हो ही जाओगे।

प्रकाश— अमां, फिर तुमने वही बात शुरू कर दी। भई, मेरी समझ में नहीं आता कि अगर मैं, मान लिया, थोड़े आराम से ही रहता हूं, या यह कि मेरे बाप राय साहब हैं, या यह कि थोड़ी मेहनत करके मैं अपना कैरियर बना लेना चाहता हूं, तो भला इसमें ऐसा क्या हो गया कि तुम मुझे ताना दो!

रामनिवास— ताना ! —भला मैं और आपको ताना दूं ? कमाल करते हैं, प्रकाश साहब ! इस नाचीज़ की यह मजाल ! आप अपने सत्संग का मौका देते हैं, यही क्या कम है। कहां आप और कहां मैं !

प्रकाश— अच्छा, छोड़ो यह सब ! अब जल्दी से तैयार हो जाओ।

रामनिवास— क्यों, खैरियत तो है ?

प्रकाश— चाय है !

रामनिवास— किसकी ?

प्रकाश— आपकी और मेरी, और नहीं तो किसकी ।

रामनिवास— अख्वाह, आखिर किस खुशी में दे रहे हैं ?

प्रकाश— मैं नहीं दे रहा हूं, भाई। किसी ने दी है। मुझे इष्ट मित्रों सहित बुलाया है ।

रामनिवास— तो और सब भी जा रहे हैं क्या ? प्रेमदेव और भवानी शंकर तो अभी-अभी सिविल लाइन चले गए ।

प्रकाश— वे भी आ जाएंगे ।

रामनिवास— मगर किसने चाय दी है, यह तो बताओ ? आखिर कौनसी खुशी की बात है ?

प्रकाश— बात यह है कि मेरे फादर के एक फास्ट फ्रेंड हैं—रायबहादुर मनोहरदयाल साहब। बम्बई के एक बहुत बड़े ट्रस्ट के मैनेजर हैं। इलाहाबाद तशरीफ लाए हैं, मेरे दोस्तों से मिलना चाहते हैं।

रामनिवास— खामख्वाह !

प्रकाश— वह गूढ़ बात है। अभी चले चलो, बाद में बताऊंगा।

रामनिवास— ना भाई, अभी बता दो, बाद में जाऊंगा ।

प्रकाश— ज़िद करते हो ?

रामनिवास— हां, ज़िद ही समझ लो। तुम्हारी बात और है, मगर तुम्हारे साथ किसी और के यहां जाने की बात और है। मैं अपनी हैसियत समझता हूं और ज़रा बड़े आदमियों के नज़दीक सोच-विचार कर ही जाता हूं ।

प्रकाश— ऐसे नहीं होते बड़े आदमी कि नज़र पड़ते ही आपको निगल जाएं !

रामनिवास— दिए को अपने तले का अंधेरा कभी नहीं सूझता, प्रकाश साहब !

प्रकाश— क्या मतलब ?

रामनिवास— मतलब यह है कि तुम इन लोगों को समझ ही नहीं सकते, क्योंकि तुम खुद इसी क्लास के लोगों में से हो।

प्रकाश— यार, फिर लगा तू मार्क्सिज्म झाड़ने ! होंगे वो बड़े आदमी, तुम उनकी तरफ आंख उठा कर भी न देखना। बस, मेरे साथ बैठना, चाय पी कर लौट आएंगे।

रामनिवास— बिना सबब जाने मैं नहीं जाने का ।

प्रकाश— अच्छा, तो बता ही दूं ।

रामनिवास— हां ।

प्रकाश— खुश हो जाओगे ।

रामनिवास— बताओ भी ।

प्रकाश— देखो भाई, बात यह है कि रायबहादुर मनोहरदयाल साहब ज़रा सोशल वर्कर टाइप के आदमी हैं ।

रामनिवास— अच्छा !

प्रकाश— अपनी बिरादरी के लोगों का भला करने का उन्हें शौक-सा है।

रामनिवास— हूं!

प्रकाश— यार, अब भी नहीं समझे?

रामनिवास— कुछ शादी वगैरह का चक्कर है?

प्रकाश— कोई अपने भले के लिए नहीं, रायबहादुर साहब तो बिरादरी के भले के लिए यह ज़हमत उठाते हैं। भई, कोई अच्छा प्रामिजिंग लड़का दिखाई दिया, फिर चाहे उसके घर की हालत कुछ ढीली ही हो, किसी अच्छे घर में उसका सम्बन्ध करा दिया। दोनों का भला हुआ। किसी भले आदमी को अपनी लड़की के लिए अच्छा-सा लड़का मिल गया और किसी औसत दर्जे के होनहार आदमी को अपनी तरक्की करने का अच्छा-खासा मौका मिल गया।

रामनिवास— बस-बस, इस बिज़िनेस को मैं बखूबी समझता हूं, प्रकाश साहब! ज़्यादा बताने की ज़रूरत नहीं है।

प्रकाश— यानी?

रामनिवास— यानी कि अपनी मेहनत के बल पर अपने पैरों पर खड़े होने वाले गरीब नौजवानों के आत्म-सम्मान को कुचलने का यह सबसे अचूक तरीका बड़े आदमियों ने निकाला है।

प्रकाश— भला, सो कैसे!

रामनिवास— अंग्रेज़ी का मुहावरा है न—'टु निप इन द बड', वही काम हुआ यह तो। कोई गरीब नौजवान आगे बढ़ेगा और उसके सम्बन्ध अपने गरीब भाइयों से ही बने रहेंगे, तो निश्चय ही किसी अच्छी जगह पहुंचते ही वह अपने गरीब भाइयों का कुछ भला करेगा। इस तरह गरीबों का भला होने लगा तो अमीरों के बेवकूफ बेटों को कौन पूछेगा! इसीलिए बड़े आदमियों ने यह तरीका सोच निकाला है कि ऐसे नौजवानों को किसी तरह उनके वर्ग से अलग कर दिया जाए, तो बस पौ बारह हैं।

प्रकाश— अच्छा, यह तो हुआ डायलेक्टिकल मेटीरियलिज़्म। अब यह बताओ कि अगर किसी आदमी ने—मेरा मतलब है भले आदमी ने—आपको एक खुशगवार शाम के वक्त एक उम्दा-से होटल में चाय पीने के लिए बुलाया हो तो किस 'इज़्म' के बहाने उस निमंत्रण को टाला जा सकता है?

रामनिवास— प्रकाश साहब, माफ कीजिएगा, रंगसाज़ी में मैं आपसे बढ़ कर नहीं हूं। मगर, खैर, इतना जान लीजिए कि मैं इस चाय में शरीक नहीं हो सकूंगा।

प्रकाश— मगर मैं वादा कर चुका हूं।

रामनिवास— तो आप ही आइए।

प्रकाश— मैं तुम्हें साथ लाने का वादा कर चुका हूं!

रामनिवास— तो क्या हुआ!

प्रकाश— वादा तोड़ दूं अपना?

रामनिवास— अमां, वादा तोड़ने में इतना पसोपेश! आप अंग्रेज़ सरकार की नौकरी कैसे करेंगे?

प्रकाश— (डांट कर) आई से शट अप!

[फ्लैश बैक समाप्त]

रेखा— फिर क्या हुआ ? रामनिवास दावत में नहीं गए ?

प्रकाश— नहीं, रेखा ! हम लोगों की दोस्ती ऐसी नहीं थी। असल में जब दोस्तों को एक-दूसरे के ऊपर गुस्सा आने लगे तो समझ लो उनकी दोस्ती की गांठ इतनी मज़बूत हो गई है कि वे चाहें तो भी उसे तोड़ नहीं सकते। यही हालत मेरी और रामनिवास की थी। मैं रामनिवास के बिना नहीं रह सकता था, हालांकि उसके और मेरे विचारों में ज़मीन-आसमान का फर्क था।

रेखा— मगर यह तो तुम मानोगे ही कि रामनिवास बड़े खरे विचारों वाले थे।

प्रकाश— उसकी इसी खूबी की वजह से मैं उसके इतना निकट था।

रेखा— और तुम्हारी दोस्ती के कारण ही उन्हें अपने उसूलों से समझौता करना पड़ा, नहीं तो वे उस दावत में हरगिज़ न जाते।

प्रकाश— न जाते तो ही अच्छा होता, रेखा। वहां पहुंचने पर ही मुझे मालूम हुआ कि रामनिवास ने ठीक ही कहा था। रायबहादुर साहब इतने भोले नहीं थे जितना मैं उन्हें समझता था।

[फ्लैश बैक]

रायबहादुर— (हंसते हुए) वाकई, मिस्टर रामनिवास, आपकी ज़ेहनियत से मैं बहुत मुतअस्सिर हुआ। अरे भाई, हम तो पुराने लोग हैं—जब तक तुम जैसे नौजवानों के साथ बैठने का मौका न मिले, तब तक इन नए-नए खयालात का इल्म क्योंकर हो। मैं सचमुच आपसे मिल कर बहुत खुश हुआ।

रामनिवास— वाह, बाबू जी, आप तो शरमिन्दा करते हैं। आप जैसे बुज़ुर्गों के साथ बैठने का मौका ही कब मिलता है !

रायबहादुर— क्यों, भई प्रकाश साहब ! तुम तो कहते थे मिस्टर रामनिवास को पुराने लोगों से चिढ़ है ?

प्रकाश— जी मेरा मतलब है····

रामनिवास— प्रकाश क्यों बताएंगे, बाबू जी ! मैं ही बता दूं। बात यह है कि किताबी जानकारी अकसर अधूरी होती है। वैसे यह तो आप भी मानेंगे कि बड़े पेड़ की छाया में छोटे पेड़ ज़रा कम ही पनप पाते हैं, इसलिए नई पीढ़ियों का पुरानियों से कुछ कटे-कटे रहना किसी कदर मानी ज़रूर रखता है।

रायबहादुर— आपने बहुत पहुंच की बात कही, मिस्टर ! सचमुच दाद देनी पड़ती है। मगर मैं इसमें एक तरमीम किया चाहूंगा। वह ये कि बड़ा पेड़ छोटे पेड़ की छांह ज़रूर मार देता है लेकिन वह तभी जब छोटा पेड़ ज़रूरत से ज़्यादा उसके करीब हो, नहीं तो देखा गया है कि एक ही नस्ल के पेड़ एक-सी आबोहवा और देख-रेख के आदी होने की वजह से एक साथ रहने पर कुछ अच्छे ही बढ़ते हैं—देखिए, मैं आप ही की बात में ज़रा तरमीम कर रहा हूं। अपनी तरफ से मैं कुछ नहीं कहता। अपनी तरफ से तो मैं आप की यूनिवर्सिटी का ही मोटो दुहराता कि ···· 'कोतरामी तात आरबोरीज़' यानी 'जितनी शाखाएं उतने पेड़'। अरे भाई, ये पुराना और नया—ये है क्या ? यही न, जो आज नया है, वही कल पुराना हो जाएगा। पुराना कोई आसमान से तो टपकेगा नहीं—मगर खैर, मैं यह प्वाइंट प्रेस नहीं करूंगा।

प्रकाश— चाचा जी ! आप जो बहस छेड़ बैठे हैं वह हमारे रामनिवास साहब का खास सब्जेक्ट है । चाहे आधी रात हो जाए, यह मैदान छोड़ने वाले नहीं हैं ।

रायबहादुर— अमां हां—वो आप लोगों को देर हो रही है । मिस्टर रामनिवास, आपसे बहुत बातें करना चाहता था । खैर, फिर कभी । मगर मैं आपको इतना यकीन दिलाना चाहता था कि मैं बूढ़ा जरूर हूं लेकिन नई रोशनी का कायल हूं । अब देखो ये अपनी शीला है न, बाप होते हुए भी मैं इसको अपने ज्यादा नज़दीक नहीं रखता हूं ताकि इसके खयालात आज़ाद रहें । देखो भाई, अपने महात्मा गांधी जी भी कहते हैं कि आज़ादी तो खयालात की होती है । अभी पिछले साल तक हम लखनऊ में थे । ड्रामे में हिस्सा लेने के लिए पूछा । मैंने शौक से इजाजत दी । सोचा कि, चलो भाई, कुछ ज़बान बोलना आ जाएगी । वो बेटे, कौन-सा ड्रामा था जिसमें तुमने पार्ट किया था ?

शीला— जी 'आवाज़ें' ।

रायबहादुर— हां, अच्छा ड्रामा था, किसी मशहूर राइटर का था । भई, तुम कुछ बोल नहीं रहीं ? मिस्टर रामनिवास तो बहुत कुछ वही कह रहे हैं जो तुम कहा करती हो । भई, आजकल हर नौजवान के खयालात, ख्वाह वह किसी दर्जे के हों एकसां ही हैं । जहां योरप में एक जंग छिड़ी हुई है, वहां अपने हिन्दुस्तान में भी एक जंग छिड़ी हुई है । मगर यहां खयालात की टक्कर हो रही है ।

प्रकाश— चाचा जी !

रायबहादुर— अमां हां, चला जाए ! कहां जाओगे ? होस्टल ड्राप कर दूं तुम्हें ?

प्रकाश— नहीं चाचा जी, इन्हें कुछ काम है, हम लोग रिक्शे से चले जाएंगे ।

रायबहादुर— क्यों, मिस्टर रामनिवास ! कुछ जरूरी काम है ?

रामनिवास— कोई खास ज़रूरी तो नहीं, वैसे ही कुछ फाइल-पेपर वगैरह खरीदना था ।

रायबहादुर— अरे, तो रास्ते में खरीद लेना । आओ भाई, आ जाओ सब लोग ।

[मोटर का दरवाज़ा बन्द होता है, कार स्टार्ट । फ्लैश बैक संगीत मिक्स होता है । फ्लैश बैक समाप्त]

रेखा— आपके रामनिवास साहब तो पहली ही बार में फिसल पड़े ।

प्रकाश— फिसल पड़े ? अरे एकदम शराबोर हो गए । तुम विश्वास नहीं करोगी, रेखा, कि वह आदमी कितना बदला । रायबहादुर साहब से वो रब्त-ज़ब्त बढ़ा कि रामनिवास की तो काया पलट हो गई । रहन-सहन बदला, खयालात बदले, शक्ल-सूरत बदली और एक दिन ऐसा आया कि जिन्दगी ही बदल गई । सचमुच, तब से मैं नफरत करने लगा उस आदमी से ।

रेखा— ज़िन्दगी बदल गई ?

प्रकाश— हां, रेखा, एक दिन अचानक क्या सुनता हूं कि रायबहादुर की बेटी शीला और रामनिवास का इंगेजमेंट हो गया ।

रेखा— अंय, मगर उससे तो तुम प्रेम करते थे !

प्रकाश— मैं·····मम·····मैं नहीं प्रेम करता था । ·····किसने कहा तुमसे ?

रेखा— (हंस कर) किसी ने कहा हो, तुम इतना घबरा क्यों गए ?

प्रकाश— नहीं, नहीं कोई बात नहीं, कुछ यों ही । मगर मान लो, यह ठीक भी हो तो तुमको किसने बताया ?

रेखा— तुम्हारी ही बातों से मैं ताड़ गई।

प्रकाश— मैं समझा नहीं!

रेखा— इन मामलों में हम लोगों की बुद्धि जरा ज़्यादा तेज होती है।

प्रकाश— कैसे?

रेखा— अभी तुमने बताया कि रायबहादुर साहब और रामनिवास साहब में खूब बातें हुईं। मगर अपनी और शीला की नहीं कही। शायद रामनिवास को इतना अनुरोध करके साथ ले जाने का कारण भी यही था कि तुम बातूनी रायबहादुर साहब से बात करने वाला कोई आदमी ले जाना चाहते थे। कहो, ठीक कहती हूं कि नहीं?

प्रकाश— तुम जादूगरनी हो, रेखा! ताज्जुब है, तुम में इतनी समझ कहां से आ गई? मगर, रेखा, विश्वास करना मैं····

रेखा— यह मैं जानती हूं। मुझे तुम्हारे बारे में कभी इतना-सा भी सन्देह नहीं रहा। नहीं तो मैं इसी जिन्दगी को एक छोटी-सी दुनिया कैसे मान सकती थी? मुझे शुरू से ही तुम्हारे प्रेम पर पूरा विश्वास था।

प्रकाश— क्या होता है उस प्रेम से जब हमारी जिन्दगी अधूरी ही रही, हम जीते हुए भी अधूरे जिए?

रेखा— फिर वही बात! अच्छा, छोड़ो। यह तो बताओ कि तुमने शीला से कुछ कहा-सुना भी या इंगेजमेंट की बात सुनते ही हाथ पर हाथ धर कर बैठ गए।

प्रकाश— इंगेजमेंट की बात मुझे शीला ने ही बताई थी, रेखा। उफ! उस रात मैंने अपने को कितना बेवकूफ बनाया था। शाम बीत चुकी थी, सुहानी रात थी, मैं और शीला पार्क में टहल रहे थे, किसी पत्रिका में एक नया गीत छपा था।

[फ्लैश बैक]

प्रकाश— 'अस्त हुआ दिन मस्त समीरण
मुक्त गगन के नीचे हम तुम'·····क्यों शीला, कैसी पंक्तियां हैं····

शीला— बहुत सुन्दर, तुम मुझे लिख कर दे दो तो मैं इनकी ट्यूनिंग करूंगी।

प्रकाश— तुम्हारे पास नोटबुक है। चलो, उसी लैंप पोस्ट के नीचे बैठ कर लिख दूं। मुझे तो पूरा गीत याद है, कलम मेरे पास है·····देख लूं·····एं, अरे कलम क्या हुआ?

शीला— क्या हुआ?

प्रकाश— लगता है पोस्ट आफिस पर ही छूट गया।

शीला— क्यों?

प्रकाश— अरे दिन में तार देने गया था। वहीं छूट गया होगा।

शीला— तार देने? किसे?

प्रकाश— घर को। वही कुछ जायदाद का चक्कर है। पिता जी की मृत्यु के बाद से यह झंझट मेरे सिर आ पड़ा है। जब से नए लेजिस्लेशनों की हवा चली है, जायदाद के मामले बहुत ही उलझ गए हैं।

शीला— सचमुच, यह बड़ी भारी जिम्मेदारी तुम्हारे ऊपर आ गई।

प्रकाश— हां, शीला, मगर मैं अब शीघ्र ही इससे मुक्त होना चाहता हूं। सोचता हूं, जो थोड़ी-बहुत जायदाद है, वह चाचा जी के ट्रस्ट के नाम कर दूं, नहीं तो आगे-पीछे वह मेरे हाथ से तो निकल ही जाएगी।

शीला— मगर बाबू जी तो ट्रस्ट छोड़ने वाले हैं।

प्रकाश— क्यों ?

शीला— जी नहीं लगता। कहते थे कि इन गर्मियों में मेरी शादी करके रिटायर्ड ज़िन्दगी बिताएंगे।

प्रकाश— सच, शीला ! इन्हीं गर्मियों में ?

शीला— हां, बाबू जी प्रैक्टिकल आदमी हैं, वह कोई बात ज्यादा दिन तक नहीं टालते।

प्रकाश— मगर मुझे तो बिलकुल ही पता नहीं था !

शीला— हां, अभी फारमली एनाउन्स नहीं किया।

प्रकाश— तो, क्या तुम्हारा मतलब है······नहीं, नहीं ! तो कब तक एनाउन्स करेंगे ?

शीला— राम साहब उनके साथ ही बम्बई गए हैं, लौट कर एनाउन्स कर देंगे।

प्रकाश— तो क्या रामनिवास से ?

शीला— हां, मैंने अभी किसी से बताया नहीं है, नहीं तो यहां होस्टल की लड़कियों को तो और कोई बात ही नहीं मिलती, आज इसकी शादी कल उसकी शादी, शोर मचा देती हैं। तुम क्या सोचने लगे ?

प्रकाश— कुछ नहीं शीला···बड़ी खुशी की बात है। रामनिवास तो मेरा बड़ा पुराना दोस्त है। मैं चाचा जी के बारे में सोचने लगा था।

शीला— उनकी चिन्ता न करो, प्रकाश ! अगर वो ट्रस्ट से अलग हो गए तो भी तुम्हारी जायदाद का प्रबन्ध हो ही जाएगा। बाबू जी राम साहब को अपनी जगह लगाने वाले हैं। बात यह है कि वह ज़रा प्रैक्टिकल आदमी हैं····

प्रकाश— (जोर से हंसता है) प्रैक्टिकल, हा, हा ! तुमने कहा न, शीला, प्रैक्टिकल ! हा ! हा !!

शीला— प्रकाश ?

प्रकाश— प्रैक्टिकल, हा ! हा !! शीला·····हा ! हा !! ·······

शीला— क्या बात है, प्रकाश ?

प्रकाश— कुछ नहीं, शीला। सभी प्रैक्टिकल हैं। चाचा जी प्रैक्टिकल, रामनिवास प्रैक्टिकल, शीला प्रैक्टिकल, ओह ! वाह ! ए वर्ल्ड ऑफ़ प्रैक्टिकल्स !

शीला— डोन्ट बी सिली, प्रकाश, वाट ए जोक ?

प्रकाश— यस, शीला, वाट ए जोक—वाट ए प्रैक्टिकल जोक, हा ! हा !!

[फ्लैश बैक समाप्त]

प्रकाश— शीला मुझसे नाराज़ हो कर चली गई। मैं बड़ी देर तक पार्क की बैंच पर बैठा आसमान की ओर ताकता रहा। मेरे देखते-देखते जैसे वह आसमान सिमट कर एक टुकड़ा भर रह गया। मेरी जिन्दगी की धारा बदल गई। बड़े आदमियों के बारे में रामनिवास की जो धारणाएं थीं वे मेरी हो गईं। और हां, रामनिवास बड़ा आदमी हो गया।

रेखा— और शीला का क्या हुआ ?

प्रकाश— उस सारी कहानी से मेरा कोई वास्ता ही नहीं रह गया। कहा न, मैं कई सीढ़ी नीचे उतर आया। मेरे लिए वे सब अपरिचित, अनजान, और किसी दूसरी दुनिया के लोग हो गए। मगर रेखा ! तुमसे क्या बताऊं, दिन भर की दौड़-धूप के बाद जब रात को लेटता हूं और खिड़की से झांकता हुआ यह कसा-ठंडा रात

का आकाश मुझे दिखाई देता है, तब मेरा मन अजीब व्याकुलता से भर जाता है। विश्वास करो, रेखा ! मेरे मन में शीला के लिए अब अगर कुछ है तो घृणा ही। परन्तु उस दिन, उस रात मुझे जो करारी चोट लगी थी वह शायद अब तक अच्छी नहीं हुई है। बंधे हुए आसमान का छोटा-सा टुकड़ा और एक पुराने गीत की दो पंक्तियां···· (ठंडी आह भरता है) इनके अलावा मुझे अब उस जिन्दगी से कुछ भी लगाव नहीं रह गया है।

रेखा— रामनिवास की भी तुमने कोई खबर नहीं ली ?

प्रकाश— चाहता था कि न लूं, मगर आज के अखबार में····जरा उठाना तो वह अखबार···· देखो, देखो ! रेखा, यह छपा है उसका फोटो।

रेखा— क्या बहुत बड़े आदमी हो गए ?

प्रकाश— हां, बहुत बड़े आदमी। मुल्क के नामी-गरामी फरेबी, चालबाज़ और मक्कार ! यह देखो, ये सब छपे हैं उनके कारनामे, पूरे दो कालमों में। देश-विदेश में क्या-क्या ऐश नहीं किए इस आदमी ने ! और अब स्मगलिंग के एक बड़े गिरोह के नेता के रूप में गिरफ्तार हुए हैं ! कभी मैं सोचता हूं, एक रामनिवास वह था और एक रामनिवास यह है, एक प्रकाश वह था और एक प्रकाश यह है।

रेखा— प्रकाश जैसा भी हो, इस दुष्ट रामनिवास से हज़ार गुना अच्छा है।

प्रकाश— कैसे कहती हो, रेखा ! इसीलिए न कि आज वह पकड़ा गया है। यह तुम क्यों नहीं देखतीं कि उसने ज़िन्दगी से क्या-क्या वसूल किया। कितनी भरपूर ज़िन्दगी जी उसने ?

रेखा— क्या तुम्हारा मतलब है कि तुम्हें मौका मिलता तो तुम भी यही सब करते ?

प्रकाश— करने का सवाल नहीं है, रेखा ! सवाल है मौका मिलने का। मुझे मौका मिलता और मैं अपना दामन साफ रखता, यह कितने बड़े सन्तोष की बात होती। मगर मुझे मिला क्या ! एक प्राइवेट फर्म की छोटी-सी क्लर्की, हर साल दस-दस, पांच-पांच रुपये की तरक्की, कभी-कभी वह भी नहीं। और मैं, मेरी जिन्दगी, मेरी दुनिया सब सिकुड़ते चले गए। आज मैं हूं जिसकी एक छोटी-सी दुनिया है, यानी जो एक छोटी-सी दुनिया में कैद है, जिसका अपराध यह है कि उसने एक बड़े-से सन्तोष को अपने दिल में जगह दी थी।

मंजु— (चौंक पड़ता है) अम्मां, अम्मां, अम्मां !

प्रकाश— देखो, मंजु चौंक पड़ा।

रेखा— सपना देख रहा होगा······बेटा मंजु, बेटा, क्या बात है ?

मंजु— (सोते में) पानी।

रेखा— लो, पानी पी लो····सो जा, सो जा····

प्रकाश— रोशनी बुझा दो, रेखा ! उसकी नींद टूटती है।

(रेखा स्विच आफ़ करती है)

प्रकाश— अब तुम भी सो जाओ।

रेखा— सुनो ! क्या बहुत परेशान हो ?

प्रकाश— हां, रेखा ! नहीं जानता क्या कारण है, मगर कई दिन से लग रहा है जैसे मैं जिन्दगी की बाज़ी हार गया हूं। आज जब से यह खबर पढ़ी है, तब से रामनिवास और उसके कामों के प्रति मन में गहरी नफरत होते हुए भी मैं उससे कुछ जलने-

ना लगा हूं। तुमने देखा, रेखा ! फ्रंट पेज पर उसका फोटो छपा है। एक मैं हूं इतनी बड़ी दुनिया में एक गुमनाम आदमी, इस खिड़की के चौखटे में कसे हुए, रुंधे हुए अनन्त आकाश के एक बहुत छोटे टुकड़े की तरह।

रेखा— प्रकाश ! तुमने बड़ी व्यथा सही है, मैं तुमसे क्या कहूं। जिसने सही नहीं है, वह कहने का अधिकारी भी नहीं है। मैंने तो यहीं तुम्हारे पास सब कुछ पाया है। ज़रा सोचो, अगर तुम्हारी ज़िन्दगी ऐसी ही बेकार और व्यर्थ होती तो उसमें वह सब कहां से आता जो तुमने मुझे दिया है, जिसके बल पर हमने यह छोटी-सी, सुन्दर-सी दुनिया बनाई है।

प्रकाश— रेखा !

रेखा— इधर भी देखो, प्रकाश ! देखो, रुंधे हुए आकाश पर चांद चमकने लगा है। अब यह आसमान का टुकड़ा उतना बुरा नहीं लगता।

प्रकाश— सच, रेखा ! देखो, अपने मंजु पर पड़ती हुई यह चांदनी कितनी भली लग रही है। सचमुच यह जीवन भी क्या है जिसमें सब कुछ लुट जाने के बाद भी बहुत-बहुत बच रहता है।

रेखा— तुम्हें याद है ये पंक्तियां —

'दे रही कितना दिलासा
आ झरोखे से ज़रा-सा
चांदनी पिछले पहर की पास में जो सो गई है
रात आधी हो गई है।

[संगीत फेड आउट]

—दिल्ली से प्रसारित

इस्पातपुरी

रामवृक्ष बेनीपुरी



[प्रवेश संगीत, पहले ऊंचा फिर धीमा]

स्वर १— आज से ५० वर्ष पूर्व, बिहार के सिंहभूम जिले में, स्वर्णरेखा और खरकाई नदियों के संगम पर एक छोटा सा गांव था····· प्रकृति की गोद में, शान्त, हरा भरा। वहां मशीनों के कोलाहल से एक नया जीवन स्पन्दित हो उठा, भारत का पहला इस्पात कारखाना खुला और वहीं एक बड़ा सा सुव्यवस्थित शहर बस गया। ऐसा शहर जहां केवल लोहे के ही नहीं, उससे सम्बद्ध कई और उद्योग खड़े हो गए हैं। यही है वह शहर, जहां भारत के इस्पात निर्माण का इतिहास लिखा गया। यह इतिहास ५० वर्षों से भी पुराना है। यह दूरदर्शिता की कहानी है, साहस और धैर्य की कहानी है, जीवन और संघर्ष की कहानी है, यह इस्पात की कहानी है। और, यह कहानी भारत की इस्पातपुरी की हलचल और कोलाहल में प्रतिक्षण प्रतिध्वनित हो रही है।

ध्वनि— [प्रवेश संगीत विलय : कारखाने की आवाजें उभरती हैं, फिर मन्द हो कर चलती रहती हैं।]

स्वर २— यह इस्पातपुरी ! इस्पात के ताने-बाने में कहीं बड़े बड़े पाइप सिर उठाए खड़े हैं, तो कहीं बड़ी-बड़ी फैक्टरियों के क्रेन इधर से उधर सामान उठा कर रखते दिखाई दे रहे हैं। विशाल भट्ठियों से कहीं ज्वालाएं फूट रही हैं, तो घड़ी-घड़ी चिमनियों से रंग बिरंगा धुंआ निकल रहा है। मीलों दूर तक फैला हुआ इस्पात का यह विशाल कारखाना ! ·····एशिया के सब से बड़े कारखानों में इसकी गणना होती है। इस्पात का कारखाना···इस्पात का ही ढांचा, यहां-वहां, जहां-तहां इस्पात ही इस्पात है।

ध्वनि— [ट्रेन की ध्वनि उभरती है फिर मन्द होती है।]

स्वर २— विशाल ब्लास्ट फरनेस के पास मालगाड़ियों के डब्बों में कच्चे माल भर कर लाए जा रहे हैं। कच्चे माल : किसी डब्बे में पथरीले लोहे के लाल टुकड़े हैं, किसी डिब्बे में काला-काला कोयला है, तो किसी डिब्बे में चूने के छोटे-छोटे उजले टुकड़े हैं। इन तीनों को, यन्त्रों के सहारे से ही मिलाया जा रहा है। फिर भट्ठी में रखने के लिए, ऊपर लाया जा रहा है।

ध्वनि— [पृष्ठभूमि में कारखाने की ध्वनियां चलती रहती हैं, मिक्सिग, लोडिंग और ट्राली के प्रभाव]

स्वर २— ये कच्चे माल भट्ठी में गलाए गए। भट्ठी से ज्वाला फूट निकली। लगता है, आग का विशाल कड़ाह खौल रहा है। और, पलक मारते यह कैसा चमत्कार! उन टुकड़ों की जगह वह उजली, दहकती, चमकती धारा फूट निकली। उस भट्ठी ने, उस खौलते कड़ाह ने पथरीले लोहे, कोयले और चूने को इस तरल ज्वलन्त, प्रवाह-मय पदार्थ में बदल दिया। लेकिन यहां जिस ज्वलन्त धारा को आप देख रहे हैं, वह तो इस्पात का मैल है, जिसे बाहर फेंक दिया जाएगा। दूसरी ओर गला हुआ लोहा कड़ाह में भरा गया जैसे फुलझड़ियां फूट रही हों। कड़ाह रेल पटरी पर बेसमर कनवर्टर की ओर ले जाए जा रहे हैं।

ध्वनि— [क्रेनों और बेसमर कनवर्टरों की ध्वनियां मिलती है।]

स्वर २— बेसमर कनवर्टर! इस्पात के निर्माण का सबसे बड़ा चमत्कार तो यहां देखिए। बड़े-बड़े क्रेनों की सहायता से उस पर से वह कड़ाह उलटा जा रहा है और नीचे से हवा दी जा रही है। सारा कारखाना प्रकाशमय हो गया। उजली, दहकती, धारा गिर रही है और उससे लाल, पीली, नीली चिनगारियां फूट रही है। इस्पात में जो भी गन्दगी बची-खुची रह गई थी, वह इन चिनगारियों के रूप में उड़ रही है। प्रक्रिया के बारे में कारखाने के एक अधिकारी के० ई० वेकटरमण से पूछें · · · ·

प्रश्न—यह कौनसा प्लाण्ट कहलाता है?

उत्तर—इसे डुप्लेक्स प्लाण्ट कहते है।

प्रश्न—ये सामने आग की लपटें सी निकली आ रही है, यह कौनसी जगह है?

उत्तर—उसे कहते है बेसमर कनवर्टर।

प्रश्न—अच्छा, तो इसमें क्या काम होता है?

उत्तर—यहां पर पिग आयरन को ले कर के उस में जितनी अशुद्धियां है उन सब को शुद्ध किया जाता है। ब्लो करके उसे जला दिया जाता है और उसको हम लोग स्टील मे, इस्पात में बदल देते हैं।

स्वर २— और बेसमर कनवर्टर से उस कड़ाह को ले कर क्रेन बड़ी-बड़ी भट्ठियों की ओर जा रहा है, जहां किस्म-किस्म का इस्पात बनाया जाएगा।

ध्वनि— [क्रेन-ध्वनि कम हो कर विलय हो जाती है।]

स्वर २— पहले आग, फिर पानी। और आग, और पानी। कच्चा लोहा इस्पात तभी बनता है, जब उसे बार-बार तपाया जाता है, बार-बार पानी की फुहारों से ठंडा किया जाता है। वह देखिए, ठंडा किए जाने के बाद बड़ी-बड़ी सीलें पंक्तिबद्ध खड़ी हैं। किन्तु इन्हें अभी विश्राम कहां? हाथी की सूंड़ सा लटकता हुआ क्रेन आता है, इन्हें संभाल कर पकड़ता है, फिर रोलरों पर ले जा कर रख देता है। शिला आगे बढ़ती जाती है और बड़ी-बड़ी मशीनों से उसे ऊपर से दोनों बगल से ठोका जा रहा है, पीटा जा रहा है, दबाया जा रहा है, लम्बा किया जा रहा है। और बड़ी शिला लम्बे बीमों में बदलती जा रही है · · · · · ·

ध्वनि— [प्रेसिंग मिल और बिलेट मिलें चलती हुई, लोहा काटने की ध्वनि।]

स्वर २— फिर इन्हें टुकड़े-टुकड़े काट कर अलग-अलग विभागों में भेजा जा रहा है, जहां ये अनेक रूप धारण करेंगे। अलग-अलग यन्त्रों के सहारे कहीं इनसे रेल की पटरियां

बनेंगी तो कहीं रेल के चक्के बनेंगे, कहीं बड़े-बड़े बीम, तो कहीं पतली-पतली छड़ें बन जाएंगी। यहां मर्चेंट मिल में ऐंगल्स और छड़ें बन रही हैं, और उनको ठीक लम्बाई में काटा जा रहा है। और यहां दूसरी ओर आग की तरह दमकते हुए लोहों के टुकड़ों को बड़े-बड़े रोलरों के बीच दबा कर लोहे की चादरें बनाई जा रही हैं।

ध्वनि— [गाल्वनाइज़िंग प्लाण्ट की ध्वनि।]

इन लोहे की चादरों को औषधि के घोल में डुबा कर जस्ते का पानी चढ़ाया जाता है और उनसे कारोगेटेड शीट्स बनाए जा रहे हैं।

ध्वनि— [नालीदार चादरें दबाने की ध्वनि।]

स्वर १— विशाल मशीनों की जकड़ में एक ओर से इस्पात की तपी चमचमाती सफेद लाल सील पहुंची और कारखाने के दूसरे छोर पर उससे कहीं चादरें बन रही हैं और कहीं नल बनेंगे। खेती और कारीगरी के सारे औज़ारों के रूप धारण करते हुए भी इन्हें देर न लगेगी। आप अपने घर में तथा बाहर लोहे की जितनी भी चीज़ें देखते हैं, सब की जन्मभूमि यही इस्पातपुरी है।

ध्वनि— [साइरन और कारखाने की अन्य ध्वनियां।]

स्वर २— दोपहर का भोंपू बजा, मज़दूर अपनी शिफ्ट का काम समाप्त कर कारखाने से निकल पड़े और दूसरी शिफ्ट के मजदूर चले आ रहे हैं अपने कामों पर, कारखाना चौबीसों घण्टे चलता रहता है।

ध्वनि— [साइरन और कारखाने की अन्य ध्वनियां।]

स्वर १— तीन शिफ्टों में पैंतालीस हज़ार मज़दूर काम करते हैं इस कारखाने में और साल भर में यहां दस लाख टन इस्पात पैदा किया जाता है। दस लाख टन इस्पात यानी, पौने तीन करोड़ मन। किन्तु, इस कारखाने से सम्बद्ध और बहुत से काम बाहर होते हैं, जिन सबको मिला कर लगभग एक लाख मजदूर यहां रोज़ी पा रहे हैं। मज़दूर, फिर उनके बाल बच्चे, और इंजीनियर, डाक्टर, दूकानदार, कुल मिला कर ढाई लाख की आबादी है इस इस्पातपुरी की। और, ये लोग भारत के कोने-कोने से आए हैं।

स्वर २— यह एक ऐसी पुरी है जिसे मद्रासी, मराठी, गुजराती, पंजाबी, उड़िया, बंगाली, बिहारी······सब अपनी पुरी कह सकें। ज़रा कारखाने की कैंटीन में चलें, तो हमें इसका पता लग जाए······

ध्वनि— [कारखाने की ध्वनियों का विलय, कैंटीन की ध्वनियां उभरती हैं।]

प्रश्न—क्या नाम है आपका ?

उत्तर—बदरू दूजन।

प्रश्न—हां, आप कहां के रहने वाले हैं ?

उत्तर—यहां से ३१५ माइल है।

प्रश्न—क्या नाम है आपके गांव का ?

उत्तर—लखमनिया।

प्रश्न—आप यहां क्या काम करते हैं ?

उत्तर—मैं मैकेनीकल फिटर हूं।

प्रश्न—और ये आपके साथ खड़े सरदार जी कहां से आए हैं ?

उत्तर—मैं अमृतसर से आया हूं।
प्रश्न—बहुत दूर से आए है आप ? क्या काम करते है ?
उत्तर—मैं यहां पर ऐयस्लाय हूं।
प्रश्न—आप का क्या नाम है भाई साहब ? आप कहां से आए है ?
उत्तर—उस्मान। मै मद्रास से आया हूं।
प्रश्न—क्या काम करते हैं ?
उत्तर—मैं रीगरर का काम करता हूं।
प्रश्न—अच्छा, अभी दोपहर के खाने का वक्त हो गया है। आप लोग रोज यहीं आ कर खाना खाते हैं ?
उत्तर—जी हां, रोज़ ही।
प्रश्न—कितने घंटे काम करते है आप लोग ?
उत्तर—आठ घंटे की तो ड्यूटी होती है।
प्रश्न—और आप भाई साहब ?
उत्तर—मेरा नाम रहमान है। मै अलीगढ़ से आया हूं।
प्रश्न—अलीगढ़ से। और आप भाई साहब ?
उत्तर—मैं पेशावर का रहने वाला हूं।
प्रश्न—अच्छा, तो यहां सब लोग जमा हो गए है।

ध्वनि— [कैंटीन की ध्वनियां उभर कर विलय।]

स्वर १— कश्मीर से ले कर कन्याकुमारी तक देश के सभी भागों से आए हुए लोग यहां काम करते हैं.... केवल देश के ही नहीं, विदेशों के भी.... और आश्चर्य की बात यह है कि यह पुरी सिर्फ पचास वर्षों की है। आज जहां एक विशाल इस्पातपुरी है, पहले वहां आदिवासियों का साकची नामक एक छोटा सा गांव था। आदिवासियों का छोटा सा गांव, अपने आप में मग्न ! जहां आदिवासी बच्चे बांसुरी बजाया करते, आदिवासी नर-नारी नाच-गान में मस्त रहते......

ध्वनि— [वंशी ध्वनि और आदिवासी नृत्य।]

स्वर २— इस नगरी के निर्माण के प्रारम्भिक वर्षों की कहानी यहां के वयोवृद्ध सज्जनों से सुनिए......आप है, नागपुर निवासी श्री गोपाल वैद्य। २७ फरवरी १९०८ में जब साकची में कारखाने का पहला खूंटा गड़ा, तब वे यहीं थे........

प्रश्न—वैद्य साहब आप यहां किस साल से आए थे ?
उत्तर—हम १९०७ के दिसम्बर में यहां पर आए।
प्रश्न—तो यहां पर क्या घना जंगल था ?
उत्तर—नहीं, विशेष घना जंगल तो नहीं, मामूली जंगल था।
प्रश्न—और लोगों की कैसी बस्ती थी उस समय ?
उत्तर—पच्चीस-तीस घरों की लोगों की बस्ती थी।
प्रश्न—बिरली बस्ती थी ?
उत्तर—नहीं, नहीं बिजली बत्ती नहीं थी। बिरली बस्ती थी। जैसे धावकारी है, वैसे ही तीस-तीस घर की छोटी-छोटी बस्ती थी।

स्वर १— इतना ही नहीं, आवागमन के साधनों की भी कमी थी। बैलगाड़ी के द्वारा ही भारत के प्रथम लोहा कारखाने की निर्माण-सामग्रियां लाई जाती थीं। उन दिनों सड़कें

कच्ची थीं। स्टेशन को जाने वाली एक सड़क १६०६ में बन गई थी।

स्वर २— इसी साल सरदार प्रतापसिंह यहां आए, तब यही हाल था।

उत्तर—जब मैं पहले शुरू में यहां आया तो स्टेशन से सिर्फ एक सड़क आती थी, एक रेलवे सड़क आती थी, इसी रेलवे सड़क से लोग आते थे, दिन को तो अकेले भी चले आते थे परन्तु रात को आने में डर लगता था। उस वक्त गाड़ी रात में ही ज्यादा आती थी। रात में अगर कोई आता तो पहले से ही चिट्ठी पा कर पांच-सात आदमी मिल कर उस आदमी को लाने जाते थे और किसी को जाना होता तो पांच-पांच सात-सात आदमी उसे गाड़ी में चढ़ाने को जाते थे।

प्रश्न—और आजकल क्या हालत है ?

उत्तर—और आजकल तो महाराज, बच्चे खेलते फिरते आनन्द लेते हैं, कोई पूछता नहीं। और उन जानवरों का तो निशान तक नहीं है।

स्वर १— जंगल में मंगल······इस कहावत को यथार्थ किया है इस इस्पातपुरी ने, इस्पातपुरी ने या इस्पात ने ? निस्सन्देह इस्पात ने ! यदि इस्पात न होता, तो यह इस्पातपुरी कैसे बसती ? और हमारे देश के लिए इस्पात कोई नई चीज़ नहीं। ऋग्वेद में लोहे की चर्चा है। भीम की लौह गदा को कौन भूल सकता है ? फिर धृतराष्ट्र ने भीम की लौह मूर्त्ति का ही तो आलिंगन किया था। क्या इससे सिद्ध नहीं कि हम महाभारत काल में ही लोहे की मूर्तियां बनाना जान गए थे। 'सुश्रुत' में लौह भस्म के गुण बताए गए हैं। इतिहासकाल में राजा पुरु ने सिकन्दर को एक भारी भरकम लौहखंड ही भेंट में दे कर प्रसन्न किया था। और दिल्ली के कुतुबमीनार के आंगन में स्थित चन्द्रगुप्त का लौहस्तम्भ, क्या इस्पात ढालने की हमारी कला का कीर्ति स्तम्भ नहीं है ? किन्तु काल चक्र की गति कौन समझे, कौन जाने ?

ध्वनि— [टाइम गांग चलता रहता है।]

स्वर १— हमारी यह कला उस गति में न जाने कहां खो गई। सदियों पर सदियां बीतीं। हम गुलाम हुए। गुलामी ने और भी बंटाढार किया। हमारी उस कला की निशानी के रूप में कुछ तलवारें बची थीं, १८५७ के विद्रोह के बाद उन्हें भी चूर-चूर कर डाला गया। किन्तु चूर करने वालों को भी उन तलवारों की धातु पर कम आश्चर्य नहीं हुआ।

ध्वनि— [इस्पात पर हथौड़े की ध्वनियां और टाइम गांग धीमे स्वर से चलता रहता है।]

स्वर ३— अरे यह कौन सी कला है ? कहां से ऐसा पानी चढ़ा इन पर। लचीलेपन में जो बेंत को मात दे और काट में छुरे के कान काट ले। वाह री कला ! किन्तु युग-पुरुष कह रहा था ······

स्वर ४— अब कला नही, विज्ञान चाहिए। व्यक्तिगत कारीगरी नहीं, औद्योगिक क्रान्ति चाहिए। हां, कला नहीं, विज्ञान। व्यक्तिगत कारीगरी नहीं, औद्योगिक क्रान्ति। योरप में औद्योगिक क्रान्ति का दौरदौरा है। भारत, तुझे भी आगे बढ़ना है। इस ओर बढ़ो, उन्नति के शिखर पर चढ़ो, बढ़ो, बढ़ो, बढ़ो !!

स्वर १— औद्योगिक क्रान्ति। क्या बिना इस्पात के औद्योगिक क्रान्ति सम्भव है ? भारत का एक सपूत ऐसा सोच रहा है। वही सपूत, जिसकी सूझ ने इस जंगल में मंगल मनाया जाना सम्भव किया, जिस घटना की स्वर्ण जयन्ती है यह इस्पातपुरी।

[टाइम गांग विलय]

वह सोचता है और उसके चिन्तन को पंख दे देता है, एक जर्मन भूगर्भशास्त्री का यह कथन कि भारत में लोहे की कमी नही है। हमारा इतिहास यही बताता है और विदेशी भूगर्भशास्त्री यही कहता है। लेकिन भारत गुलाम जो है, बीस साल तक वह स्वप्नदर्शी कोशिश करता है, तब कही लोहे के अनुसन्धान के लिए उसे सरकारी आज्ञापत्र मिल पाता हैं। आज्ञापत्र मिलते ही वह अमेरिका जाता है ।

स्वर २— अमेरिका मे क्या हुआ, इसकी कहानी टाटानगर के शिक्षा विभाग और सहकारिता के उपनिर्देशक श्री मादन अच्छी तरह जानते है ······

मादन—अमेरिका मे अमेरिका के उद्योगपतियों ने उनको एक भारी डिनर दिया और उसमें उन्होने बहुत आदमियों से जान पहचान की और उसके बाद वे परिन साहब से मिलने गए। वे एक बहुत बड़े साइंटिस्ट थे। स्टील प्लांट के इंजीनियर थे। चार्ल्स पेज पैरिन उनका नाम था। उनके साथ की एक मुलाकात की कहानी तो शायद आपने सुनी होगी कि ताता साहब उनके कमरे मे दाखिल हुए, एक दो मिनट तक सिर्फ उनके सामने ताकते ही रह गए, न सलाम किया और न कुछ किया, सिर्फ कहा, तुम पैरिन हो ? उन्होंने कहा, जी हां, मैं पैरिन हूं। हां, तब तो मुझे विश्वास है कि मै तुम्हारे समान ही आदमी खोजता था। आज मिल गया और वही एक दो घण्टे की बात में ही काम शुरू हो गया। कितनी बड़ी योजना, और जब दो बड़े आदमी मिलते हैं तो कितनी जल्दी वह तय हो जाती है। यह देखने लायक चीज है।

स्वर १— लेकिन बीच मे एक दुर्भाग्य आ कूदता है। वह स्वप्नदर्शी औद्योगिक अग्रदूत श्री जमशेदजी नसेरवान जी टाटा पैरिन को भारत भेज कर स्वयं जर्मनी जाता है कि वहां के कारीगरों और इंजीनियरों की भी मदद ली जा सके, किन्तु वही उसकी मृत्यु हो जाती है। क्या अब यह काम बन्द कर देना पड़ेगा ?

स्वर २— नही, उसके वंशधर तय करते है कि हम इस काम को पूरा करके ही दम लेंगे। अमेरिकन भूगर्भशास्त्री की मदद से भारत के कोने-कोने मे छानबीन की जाती है। किन्तु कही उपयुक्त स्थान नही मिलता।

मादन—दो साल बीते, तीन साल बीते लेकिन कही आयरन ओर तो पाया नही गया, निराश हो गए सब और दोराब जी ताता ने आखिर यह निश्चय किया कि अब यह सब छोड़ ही देना पड़ेगा। छोड़ देने के लिए वे, जिसको प्रोस्पेक्टिग लाइसेंस कहते है, सब वे कागज वापस देने के लिए, वे किसी नागपुर के छोटे आफिस में गए। वे अफसर साहब नही थे, यह हिन्दुस्तान की एक खुशनसीबी है। थोड़ी देर ठहरना पड़ा तो दोराबजी ताता ने सोचा, नजदीक मे एक म्यूजियम है वहां जा कर देखें। ऐसे ही कोई खास मतलब तो था नही। इधर-उधर देखते-देखते किसी एक नक्शे पर नजर पड़ी। और वहां एक नक्शे पर किसी पुराने जियोलोजिस्ट ने एक छोटा सा बिन्दु रख दिया था। उस बिन्दु का मतलब था लोहा। तो वे दौड़े फिर वेल्डर को बुलाने। भाई चलो,

हमने एक और जगह देखी है, जहां हम लोगों ने अभी तक जांच नहीं की। तुमको वहां जा कर देखना होगा और वही प्रोस्पेक्टिंग लाइसेन्स वापस ले कर दोराव जी और वेल्डर उस इलाके में लोहा खोजने चले। खोजना क्या, जवरदस्त भारी पहाड़ पड़ा हुआ था। यह अजीव-सा हमारा मुल्क है कि बड़े-बड़े पहाड़ भी इसमें खो जाते हैं। तो जाते के साथ, थोड़ी-सी जांच करते ही वेल्डर को पता लग गया कि लाखों टन, करोड़ों टन आयरन उस पहाड़ में है।

स्वर १— कच्चे लोहे का तो पहाड़ ही मिल गया। लेकिन इस्पात वनाने के लिए तीन चीज़ें और चाहिएं। खास किस्म का कोयला, चूना और प्रचुर परिमाण में पानी। यहां तो उस समय इनका अभाव था। तो क्या किया जाए ? संयोग देखिए, एक भारतीय भूगर्भशास्त्री पी० एन० वोस सूचना देता है—मयूरभंज में कच्चे लोहे की कमी नहीं। और यहां निकट ही कोयला भी मिलेगा, चूना भी। मध्यप्रदेश से अनुसन्धान-कर्त्ताओं का काफला विहार उड़ीसा की ओर चला। और आते ही उन्होंने तय कर लिया, सीनी नामक एक स्थान में इस्पात का कारखाना खोला जाए।

स्वर २— इस स्थान का नाम कम्पनी के प्रोस्पेक्टस में दे दिया गया। यह स्थान सब प्रकार से उपयुक्त था, किन्तु पानी का क्या हो ?

मादन— सीनी के पास एक छोटी-सी नदी है, लेकिन वह नदी इतने बड़े कारखाने के लिए काफी नहीं थी। इस वात का ही सिर्फ एक सवाल रह गया वाकी तो वहुत सुन्दर जगह थी सीनी, चूंकि सीनी के दक्षिण में आयरन मिलता, सीनी के पश्चिम में लाइम स्टोन मिलता, सीनी के उत्तर में कोयला मिलता। शायद ही सारी दुनिया में इस्पात के कारखाने की ऐसी कोई जगह होगी, जिसके इतने करीव आप सव चीज़ों को पाएं। लेकिन पानी की तकलीफ के कारण वे थोड़ी देर सोचते रह गए। वात तो यह थी कि हमारे प्रोस्पेक्टस में सीनी का नाम दाखिल भी हो चुका था। तव भी आखिर यह तय हो गया कि सीनी से कुछ मील दूर जाना पड़ेगा और साकची नाम के एक छोटे-से गांव में वेल साहव पहुंचे, जहां दो नदियां मिलती हैं—स्वर्णरेखा और खरकाई।

स्वर १— पानी की खोज में अमेरिकी विशेषज्ञ मि० वेल्डर घोड़े पर निकले, स्वर्णरेखा नदी की धार पकड़ कर आगे वढ़े और अचानक वहां आ गए, जहां स्वर्णरेखा नदी खरकाई नदी से मिलती है। थोड़े ही प्रयत्न से एक वांध तैयार कर यहां पानी का अक्षय भण्डार प्राप्त किया जा सकता है। इसी स्थान पर साकची नामक गांव था, उसके निकट ही काली माटी नामक स्टेशन। प्रोस्पेक्टस वदल गया, साकची का भाग्य खुला, काली माटी के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का मार्ग खुला। इस्पात के उत्पादन के लिए ऐसा स्थान अन्यत्र कम मिलेगा। एक ओर कच्चे लोहे की खान हैं, एक ओर कोयला ही कोयला है और एक ओर चूना। पानी की भी कमी नहीं। कच्चा लोहा, कोयला, चूना, पानी और इन चारों के सम्मिलन का फल इस्पात !

ध्वनि— [कारखाने की ध्वनियां धीमी हो कर चलती रहती हैं।]

स्वर १— किन्तु इस कारखाने के लिए तो बड़ी पूंजी चाहिए। पूंजी के लिए १९०७ में एक कम्पनी खड़ी की जाती है। किन्तु सन्देह है—क्या भारत में इतनी पूंजी मिल

सकेगी ? क्यों न लन्दन की पूंजी लाई जाए ? किन्तु लन्दन से निराशा ही निराशा मिलती है। तब भारत ने पुकार की जाती है, उस भारत से, जिसके कण-कण में राष्ट्रीयता तरंगे ले रही थी, जो 'बाल', 'पाल', 'लाल' का भारत था। दादाभाई नौरोजी ने जिसे 'स्वराज्य' का मन्त्र दिया था और जिस 'स्वराज्य' को लोकमान्य तिलक ने अपना जन्मसिद्ध अधिकार माना था। बम्बई मे शेयर बेचने की घोषणा होती है और तीन महीने के अन्दर ही, आठ हजार भारतीय, कम्पनी के दो करोड़ रुपये के शेयर खरीद लेते है, और १६०८ से, बड़ी धूमधाम से, इस्पातपुरी का निर्माण शुरु हो जाता है।

ध्वनि— [कारखाने की ध्वनियां धीमी हो कर चलती रहती है।]

स्वर १— इसके पहले भी इस्पातपुरी बनाने की कई चेष्टाएं हो चुकी थी, दक्षिण मे सलेम, वेपुर और पोर्तो नेवो मे; उत्तर में कुमाऊं पर्वतश्रेणी में; पश्चिम वारोरा और इन्दौर में; पूरब वीरभूम और रानीगंज में। ये सारे प्रयत्न निष्फल जा चुके थे, अतः बड़ी सावधानी से काम शुरु किया गया। संसार भर से योग्यतम इंजीनियरों और कारीगरों को बुलाया गया। निर्माण को तीन भागों में विभक्त कर एक भाग अमेरिकन विशेषज्ञों को, दूसरा भाग जर्मन विशेषज्ञों को और तीसरा भाग अंग्रेज विशेषज्ञों को सौंपा गया। तीन वर्षो तक दिन रात काम करने के बाद १६११ के दिसम्बर में लोहे की ढलाई शुरु हुई और फरवरी १६१२ में इस्पात की पहली सील कारखाने के बाहर आई। उस दिन सचमुच जंगल मे मंगल मच गया।

ध्वनि— [कारखाने की ध्वनियां उभर कर मंद हो कर चलती रहती है।]

स्वर ३— टाटा का इस्पात : यह भी कोई चीज है। कितना इस्पात तैयार करेगा टाटा ? मै उसे खा भी लूं, तो क्या भूख बुझेगी ?

स्वर १— एक अंग्रेज इंजीनियर व्यंग्य से कहता है। किन्तु कितना आश्चर्य ? १६१४ में पहला विश्वयुद्ध जब छिड़ता है, तो टाटा का इस्पात ही रेल के रुप में मैसोपोटामिया पहुंच कर अंग्रेजी साम्राज्य की रक्षा करता है।

जादू वह जो सर पर चढ़ के बोले ! युद्ध की समाप्ति के बाद वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड इस इस्पातपुरी मे कृतज्ञता प्रगट करने को पहुंचते है और इस इस्पातपुरी को नया नाम देते है···· जमशेदपुर : टाटानगर—

जहां कारखाना है, वह जमशेदपुर। जो स्टेशन है, वह टाटानगर। साकची, जमशेदपुर बना : काली माटी, टाटानगर।

ध्वनि— [कारखाने की ध्वनिया उभर कर विलय]

स्वर २— प्रथम विश्वयुद्ध की सफलता आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। विस्तार की महान योजना शुरु की जाती है। दो करोड़ की पूजी को दस करोड़ तक बढ़ा दिया जाता है, एक लाख टन इस्पात के उत्पादन को पांच लाख टन तक पहुंचा दिया जाता है। नई-नई मशीनें मंगाई जाती है : इस्पात की नई-नई चीजें तैयार की जाती है। उस विस्तार योजना की एक झलक सरदार ज्वाला सिंह दे रहे है ?

ज्वालासिंह—जी हां, मेरे सामने १६१२ से क्योंकि मुझे याद है छोटी उमर मे ही एक ब्लास्ट फरनेस चल रही थी और दूसरी मेरे सामने चली है, उसके बाद बाकी रोलिंग मिल या स्टील फरनेस तमाम जैसे ये सिलसिला है, वह चालू हो गई और उसके बाद मैंने १६२० से कुछ ठेकेदारी

का काम शुरू किया क्योंकि कम्पनी की एक्सटेंशन हो रही थी तो उस एक्सटेंशन में कुछ कोक ओव्वन्स का हिस्सा, और कुछ ब्लास्ट फरनेस और मिले। ये एक्सटेंशन में थीं मगर वह एक्सटेंशन होते हुए भी कम्पनी की स्कीम हो गई ग्रेड-ग्रेड एक्सटेंशन बनाने की, जिसमें मोटर हाउस वगैरह और मर्चेन्ट मिल, रोलिंग मिल, शीट मिल, ये सब उसमें हुई तो अब यह प्लांट बन जाने के बाद तो अब नया प्लांट भी बन रहा है ।

स्वर १— विस्तार योजना चालू ही थी कि संसार व्यापी मंदी का दौरदौरा शुरू हुआ । अमेरिका तक के बड़े-बड़े बैंक फेल हो गए। संसार की बड़ी-बड़ी कंपनियों का दिवाला पिट गया। भारत की प्रथम इस्पातपुरी पर भी संकट की घटाएं मंडराने लगीं। इस संकट की ओर देश के नेताओं का भी ध्यान गया। पं० मोतीलाल नेहरू जी के प्रयत्नों के कारण टाटा के इस्पात को सरकारी संरक्षण प्राप्त हो सका। धीरे-धीरे संकट टला। संकट टलते ही फिर विस्तार की धुन सवार हुई। नए विस्तार के लिए अनुसंधान की आवश्यकता थी, १९३६ में एक रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना की गई।

मादन—१९३७ में हमारी नई लेबोरेटरी बनी। और उस लेबोरेटरी ने, इस दूसरे वर्ल्ड वार में जबरदस्त काम किया। समय आया कि जब हमसे कहा गया कि भाई, आर्मर प्लेट बनाओ। हमारे पास बहुत किस्म की सुविधाएं नहीं थीं, लेकिन हमने बना कर ही छोड़ा। यूरोप से कोई चीज नहीं आती थी, और खास करके मैगनेट स्टील बनाने की जरूरत हुई। होइस्टीकल स्टील बनाने की जरूरत पड़ी। जो-जो हमसे मांगा गया, सो-सो हमारे साइंटिस्टों ने दिया। दो-दो पांच-पांच महीने में तैयार करके दिखलाया ।

स्वर १— द्वितीय महायुद्ध के दरम्यान ही इस्पातपुरी का उत्पादन दस लाख टन तक पहुंच गया। देश स्वतन्त्र हुआ, प्रथम पंचवर्षीय योजना बनी और देश में इस्पात की आवश्यकता बढ़ी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ६० लाख टन इस्पात देश में पैदा करने का निर्णय किया गया, इसके एक-तिहाई का जिम्मा जमशेदपुर ने लिया। तीस महीने के अन्दर ही अपने दस लाख टन के उत्पादन को बीस लाख टन कर देने के लिए उसने दृढ़ संकल्प कर लिया और उसे पूरा कर वह संसार को चकित करने जा रहा है ....।

ध्वनि— [कारखाने की ध्वनियां धीमी हो कर विलय ।]

स्वर २— किन्तु इस्पात के उत्पादन के साथ ही साथ सबसे पहले अपने देश में ऐसे आदमी तैयार करने चाहिएं, जो इस उद्योग को चला सकें, विकसित कर सकें। यही कारण है कि कारखाने की स्थापना के प्रारम्भ में ही ऐसे आदमियों के शिक्षण के लिए एक ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट की स्थापना की गई। उस शिक्षण संस्था के पहले बैच में शिक्षा पाने वालों में एक श्री हरवंश लाल कोछड़ थे, जो आज असिस्टेंट जनरल सुपरिंटेंडेंट हैं ।

कोछड़— हर साल २४ लड़के लिए जाते थे और तीन साल का कोर्स पूरा करने के बाद १० या १२ लड़के पास करते थे क्योंकि तीन साल के अन्दर

कम्पनी एक इम्तहान लेती थी जिसमें हर विद्यार्थी को पास होना पड़ता था और इस इम्तहान में हर साल १० या १२ लड़के तीन साल में पास होते थे और सन् १६२१ से ले कर अब तक करीबन ४५० विद्यार्थी पास कर चुके हैं और कारखाने के अन्दर जो हर बड़े-बड़े ओहदे है, नौकरियां हैं, जिम्मेवारियों के काम हैं, उन पर हम सब काम कर रहे हैं।

स्वर १— इस्पातपुरी ने केवल इस्पात ही नहीं पैदा किया है, उसने मनुष्य भी तैयार किए हैं···· ··प्रशिक्षित एवं योग्य मनुष्य, जो भारत के विभिन्न भागों में होने वाले नव-निर्माण के महान कार्यो में योग दे सकें। यह इस्पातपुरी सुदृढ़ इस्पाती मनुष्यों की जननी है, लेकिन इसने सदा यह ध्यान रखा है कि यह इस्पातपुरी सिर्फ इस्पात-पुरी न रहे, बल्कि इसका रूप, उद्यानपुरी का हो, जहां जिन्दगी तरह-तरह के खेल-कूदों के रूप में लहराए तथा हर धर्म के लोग अपने-अपने ढंग से पूजा-उपासना कर सकें। इसकी चिन्ता इसके संस्थापक को प्रारम्भ से ही थी। १६०२ में ही जमशेद जी ने अपने पुत्र दोराब जी को लिखा था····

स्वर ४— 'इस पर खास ध्यान रखना कि सड़कें चौड़ी हों और उनके किनारे तुरत बढ़ने वाले छायादार वृक्षों की कतारें हों। बगीचों और मैदानों के लिए खुली जगहें रखने पर भी खास ध्यान रखना। फुटबाल, हॉकी तथा पार्कों के लिए जगहें सुरक्षित रखी जानी चाहिएं। हिन्दुओं के मंदिरों, मुसलमानों की मस्जिदों और ईसाइयों के गिरजाघरों के लिए उपयुक्त स्थान अभी निश्चित करके रखना भी आवश्यक है।'

स्वर १— और संस्थापक की इस भावना को सदा ही ध्यान में रखा गया है। १६१६ में ही, जब विश्वयुद्ध चल रहा था, इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री और समाजसेवी श्री सिडनी वेब और उनकी पत्नी बेट्रिस वेब को इस इस्पातपुरी के लिए जनकल्याण-योजना तैयार करने को कहा गया और भारत के सुप्रसिद्ध जन सेवक ठक्करबापा को १६१८ में बुला कर यहां जनकल्याण के कामों का शुभारंभ कराया गया। यह इस्पातपुरी विहार में खेल-कूद का प्रमुख केन्द्र रही ह। इसके खिलाड़ियों ने देश में काफी नाम कमाया है। स्वास्थ्य रक्षा और चिकित्सा के उत्तमोत्तम प्रवन्ध भी आप यहां पा सकेंगे। महिलाओं के कल्याण के लिए भी प्रारम्भ से ही चेष्टा रही है। यह इस्पातपुरी एक औद्योगिक नगरी है। इसकी रीढ़ तो हैं यहां के मज़दूर।

स्वर २— युग की पुकार पर ध्यान रख मज़दूर और मालिक के सम्बन्ध में भी इन इस्पात-पुरी ने एक आदर्श पेश किया है। श्री राजीव लोचन वर्मा वर्क्स यूनियन के उपाध्यक्ष हैं।

वर्मा— ३५ हज़ार मज़दूरों क इस बड़े कारखाने में स्वभावतः कुछ न कुछ समस्याएं बराबर पैदा होती रहती हैं। उन को सुलझाने के लिए विभिन्न स्तर पर कई संयुक्त कमेटियां बनाई गई हैं, जिनके सभी सदस्य मज़दूर ही हैं। कम्पनी ने यह माना है कि वह कोई भी कार्य, जिसका मज़दूरों के ऊपर कोई भी प्रभाव पड़ता है, बिना यूनियन से मशविरा किए नहीं करेगी।

इससे भी आगे बढ़ कर यूनियन ने कारख़ाने के चलाने में मजदूरों का सहयोग हो, इसकी ओर कदम उठाया है जो कि इस देश में पहला है ।

स्वर २— इस पुरी का कुछ ऐसा खिंचाव है कि जो यहां आया, बस गया। ऐसे हज़ारों परिवार हैं जो दो-तीन पुश्तों से यहां बसते आए हैं। ऐसे ही परिवारों में है सरदार प्रताप सिंह का परिवार । आप, आपके बेटे, आपके पोते, तीन पुश्त इस इस्पात-पुरी से सम्बद्ध रहे हैं—और वह भी एक ही काम में। पोते सरदार हरि सिंह तो हाल ही में जापान से क्रेन की ट्रेनिंग ले कर आए हैं। ज़रा इन तीन पुश्तों से मिलिए और इस्पातपुरी के पचास वर्षों की ज़िन्दगी की एक सरस झांकी पाइए · · · · ·

[सरदार प्रताप सिंह, ज्वाला सिंह और हरि सिंह के साथ भेंट वार्ता ।]

प्रश्न— आप काफ़ी बुज़ुर्ग हैं । आपकी क्या उमर होगी ?

प्रताप— उमर जी, अस्सी बरस से ऊपर · · · · ·

प्रश्न— अच्छा तो आप यहां कौनसा काम किया करते थे ?

प्रताप— हमने क्रेन का ही पहले शुरू में काम किया। पहले जर्मन का आदमी था, वह क्रेन ले कर आया था। और उसके पास मैं गया। वह काम छोड़ कर चला गया तो मुझे इधर आपरेशन वाले ने भी वही काम दिया ।

[ज्वाला सिंह]

प्रश्न— तो आप भी वही काम कर रहे हैं उसी खाने में, उसी डिपार्टमेंट में जहां आपके पिता जी काम करते थे ?

ज्वाला— उस डिपाट में यानी इलेक्ट्रिक डिपाट में क्रेन सेक्शन में मेरे पिता जी ने भी काम किया और मैं भी बहुत साल से उसी सेक्शन में काम कर रहा हूं ।

[हरि सिंह]

प्रश्न— तो यानी आप की तीन पुश्तें तो इसी काम में लगी हुई थीं ?

हरि— जी। मेरे दादा जी भी यहीं थे, पिता जी अभी हैं और मैं उसी डिपार्ट-मेंट में हूं ।

प्रश्न— बहुत खुशी हुई आपसे मिल कर ।

हरि— शुक्रिया ।

स्वर १— किन्तु यह इस्पातपुरी तो हमारे देश में बनने वाली अनेक इस्पातपुरियों की अग्र-दूतिका मात्र है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में साठ लाख टन इस्पात पैदा करना है। यह इस्पातपुरी हमें बीस लाख टन दे देगी, लेकिन बाकी ४० लाख टन के लिए हम भिलाई (मध्य प्रदेश), रूरकेला (उत्कल), और दुर्गापुर (बंगाल) में तीन इस्पातपुरियों का निर्माण कर रहे हैं। तीनों में ज़ोरों का काम हो रहा है और आशा की जाती है, १९५८-५९ तक इनमें उत्पादन प्रारम्भ हो जाएगा। किन्तु जग-न्नाथ का रथ यहीं नहीं रुकेगा, अभी कितनी इस्पातपुरियां भविष्य के गर्भ में ही अंगड़ाइयां ले रही हैं ।

स्वर ४— कभी सोने का युग रहा हो, यह इस्पात का युग है। जहां इस्पात, वहां उद्योग! जहां उद्योग, वहां वैभव ! हम नए वैभवशाली भारत के निर्माण में लगे हुए हैं। यह इस्पातपुरी उस वैभवशाली भारत की ओर अंगुलि निर्देश करती है। इस्पात पर आधारित वैभवशाली भारत की ओर लक्ष्य कर हमारे प्यारे प्रधानमंत्री श्री जवाहर-लाल नेहरू ने हाल में कहा है · · · · · ·

[१६ दिसम्बर १९५७ को भिलाई में दिए गए प्रधानमन्त्री श्री नेहरू के भाषण का एक अंश ।]

प्रधानमन्त्री—"बगैर लोहे के आजकल की दुनिया नही चलती । दोनों चीजें आवश्यक है आजकल की दुनिया में—एक लोहा और एक बिजली की शक्ति । जिन देश में यह दोनों चीजें अधिक है वो तरक्की करेगा, जिसमे नही है वो दुर्बल रह जाएगा । तो इसलिए हमने उपाय ढूढ़े, इस शक्ति को बढाने के लिए बिजली की और बड़ी-बड़ी योजना बनीं, वहां भाखड़ा-नंगल, हीराकुड और दामोदर और क्या-क्या बनी । बिजली पैदा हो वहां, और नहरें—किसानों के लिए पानी भी आए । फिर लोहे की कमी रही, फिर सारे देश में जगह ढूंढ़ी गई कि लोहे के कारखाने बनें । और आखिर बहुत जांच पड़ताल कर के निश्चय हुआ कि एक भिलाई में बने और दूसरा रूरकेला में बने, तीसरा दुर्गापुर बंगाल में वहां बने । तीन-तीन क्योंकि हम जल्दी बढ़ना चाहते हैं न । वो एक नए भारत को बनाना है, नए भारत की एक तसवीर आप देख सकते है । हिन्दुस्तान बदल रहा है और उसका रूप कुछ आप भिलाई में देखें, कुछ रूरकेला में देखें, या कुछ और और बहुत जगहें आप देखें ।"

ध्वनि—[संगीत क्रमशः विलय]

विज्ञान की प्रगति से कला की हानि होती है

कु० कमला; मोहन राकेश; डा० एल० डी० महाजन; विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक'



बटुक—कमला जी, हमारे एक ओर कलाकार राकेश जी विद्यमान हैं और दूसरी ओर विज्ञान में अभिरुचि रखने वाले महाजन साहब। आप तो जानती ही हैं कि आज की इस वैज्ञानिक उन्नति को देख कर भावुक हृदय कलाकार अपने को कुछ दबा-दबा-सा अनुभव करता है। ऐसा लगता है कि जैसे-जैसे विज्ञान की प्रगति होती जाती है, वैसे-वैसे कला का मार्ग अवरुद्ध होता जाता है। मैं नहीं कह सकता कि इस सम्बन्ध में इन दोनों बन्धुओं के क्या विचार होंगे? आपके क्या विचार हैं कमला जी? क्या आप भी विज्ञान की प्रगति से कला का मार्ग अवरुद्ध होता मानती हैं?

कमला—जी हां, बटुक जी! मेरे विचार में विज्ञान की उन्नति कला की स्वतन्त्र प्रगति में अवश्य बाधा डालती है। मैं विज्ञान और कला को दो भिन्न-भिन्न मार्ग समझती हूं जो कहीं मिल नहीं सकते। कला कल्पना-लोक की वस्तु है तो विज्ञान ठोस सत्य में विचरता है। कलाकार कला की उपासना स्वांतः सुखाय करता है जबकि वैज्ञानिक अपने वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा उपयोगितावाद में विश्वास करता है। मैं कला को सौन्दर्य मानती हूं। कलाकार सौन्दर्य-लोक का प्राणी है किन्तु दूसरी ओर वैज्ञानिक शुष्क यथार्थ में जीता है।

राकेश—देखिए कमला जी, मैं विज्ञान और कला के सम्बन्ध में आप के इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं। मैं तो समझता हूं कि वैज्ञानिक और कलाकार दोनों ही सत्य के उपासक हैं। जहां वैज्ञानिक सत्य की खोज करता हुआ नए-नए उपकरण कलाकार के सामने प्रस्तुत करता है, वहां कलाकार उन को अपनी अनुभूति से और सौन्दर्य-दृष्टि से एक नई सार्थकता प्रदान कर देता है। सौन्दर्य-लोक इस लोक से हट कर किसी और ग्रह पर तो नहीं है। यहीं हमारे चारों ओर सुन्दर और असुन्दर सब कुछ बिखरा पड़ा है। जीवन में से असुन्दर को निकाल फेंकने का प्रयत्न वैज्ञानिक भी करता है और कलाकार भी। इसीलिए मेरी दृष्टि में तो इन दोनों के कृत्य में किसी विरोध को देखना गलती है। क्यों महाजन साहब?

महाजन—राकेश जी, मैं आप से सहमत हूं। कला और विज्ञान दोनों साथ-साथ आगे-पीछे तरक्की करते रहे हैं और आगे भी करेंगे। इसलिए यह सोचना ठीक नहीं है कि विज्ञान ने कला का गला घोंट दिया है। यह विचार भी गलत है कि विज्ञान से किनारा करने पर ही स्वर्ण-युग का उदय हो सकता है। असलियत तो यह है कि विज्ञान ने कला की बहुत सहायता की है। विज्ञान और कला के बीच कोई खाई नहीं है, दोनों एक-दूसरे के संगी और साथी हैं।

कमला—लेकिन महाजन साहब, मैं आपके इस मत से सहमत नहीं हूं। विज्ञान ने जीवन को बहुत कोलाहलपूर्ण और आडम्बरयुक्त कर दिया है। कला की उन्नति के लिए जिस शांत वातावरण की आवश्यकता है, वह इस वैज्ञानिक युग में सम्भव नहीं। कला-साधना के लिए कलाकार को समय चाहिए किन्तु आज कलाकार कुछ समय के लिए भी एकान्त वातावरण में बैठ कर अपनी कला-देवी की उपासना नहीं कर सकता।

राकेश—कमला जी, आप की यह बात मुझे नहीं जंचती। केवल कलाकार ही नहीं, वैज्ञानिक भी अपनी साधना के लिए उसी तरह समय चाहता है और यह समझ में नहीं आता कि आज के युग में यदि एक वैज्ञानिक भूख-प्यास भूल कर दिन में सोलह-अठारह घण्टे का समय अपनी प्रयोगशाला में बिता सकता है, तो एक कलाकार के लिए ही दिन के बीस घण्टे क्यों गायब हो गए हैं। मैं तो समझता हूं कि हमें इस प्रश्न पर इस दृष्टि से विचार करना चाहिए कि क्या वैज्ञानिक प्रगति से मनुष्य की मूल भावनाओं में कोई अन्तर आया है? क्या जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में होने वाली उसके मन की प्रतिक्रियाएं बदल गई हैं? क्या उसकी सौन्दर्य लिप्सा या सौन्दर्य की खोज पहले से कम हो गई है? विज्ञान ने क्षति पहुंचाई है तो आखिर कहां?

बटुक—राकेश जी, और बात तो मैं नहीं कह सकता, लेकिन जहां तक जीवन की मूल भावना का प्रश्न है, मैं समझता हूं कि विज्ञान इसमें अवश्य बाधक होता है। जीवन की मूल भावना है— अनेकता में एकता के दर्शन।

राकेश—और यदि कोई इस मूल भावना से ही सहमत न हो?

बटुक—यह तो व्यक्तिगत बात हो गई। समष्टिरूप में हमें जीवन के इस सत्य को स्वीकार करना ही होगा कि एकता ही जीवन का मूल मन्त्र है। कला का ध्येय भी यही है। अनेकता में एकता की दृष्टि से जीवन को समग्र मान कर सृष्टि मात्र में उसकी अनुभूति, यह कला का कार्य है। विज्ञान इस कार्य को इसलिए नहीं कर पाता कि वह सत्य को खण्डित रूप में देखना चाहता है और खण्डित रूप में देखने के कारण ही विज्ञान विध्वंस की ओर ले जाता है। मेरी निगाह में तो बहुत ही कम ऐसे वैज्ञानिक हुए हैं जो कला की विशुद्ध निर्माणमयी वृत्ति ले कर चले हों।

महाजन—बटुक जी, आप यह कैसे कह सकते हैं कि संसार में ऐसा कोई वैज्ञानिक नहीं जो कला में रुचि रखता हो? आप को मालूम होगा कि हमारे प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० एस० एस० भटनागर बड़े वैज्ञानिक होने के साथ-साथ उर्दू के एक कवि भी थे। उन्होंने उर्दू कविता में कुछ पुस्तकें भी लिखी हैं। हमारे देश के नोबेल लारिएट सर सी० वी० रमन संगीत में रुचि रखते हैं। विज्ञान ने कला की प्रगति में बहुत सहयोग दिया है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन ने सफेद रोशनी को सात रंगों में बांटा और चित्रकला के लिए यह उन की बहुत बड़ी देन है। संगीत में भी वैज्ञानिकों ने काफी से ज्यादा काम किया है। उन्होंने संगीत के नादों का विश्लेषण किया और यह पता लगाया कि स्वरों की मधुरता का क्या कारण है।

कमला—परन्तु महाजन साहब, आज विज्ञान की सहायता के कारण संगीत की प्रगति में जो बाधा आ रही है, यदि मैं उसके एक दो उदाहरण दे दूं तो कदाचित आप मेरी बात से सहमत हो जाएंगे। बिजली की सहायता से आज वाद्यों को बजाया जाता है। इलेक्ट्रिक-गिटार इस का एक नमूना है। उंगलियों की चुस्ती और कलाकार की फुर्ती को पनपने का अवसर न दे कर अब यह काम बिजली से कर लिया जाता है। बताइए, वादक अपनी कला की उन्नति की साधना ऐसी दशा में कैसे कर सकता है? माइक्रोफोन ने आज गायक की कला को भी धक्का पहुंचाया है। गले की आवाज में गायन आदि का सौन्दर्य न माइक आदि से ठीक सुनाई देता है और न

नूल आवाज़ श्रोताओं तक पहुंचती है। महाजन साहब, आप ने चित्रकला के क्षेत्र में वैज्ञानिक के सहयोग की बात कही है। लेकिन क्या कैमरा के आविष्कार ने चित्रकला के पूर्ण विकास को नहीं रोक दिया है। राजा रवि वर्मा या कालिदासकालीन भारत में ऐसे चित्रकार हुए हैं जो अपनी तूलिका द्वारा प्रकृति के या मानव-लोक के किसी भी दृश्य का सही सजीव चित्र खींच सकते थे और देखने वाला दंग रह जाता था। किन्तु आज कैमरे का बटन दबा कर जब संसार की किसी भी चीज़ का रंगीन या सादा चित्र खींचा जा सकता है तो कलाकार उसके लिए अपना अमूल्य समय क्योंकर खोना चाहेगा ?

राकेश—कमला जी, इससे तो लगता है कि आप को विज्ञान की प्रगति से कला की हानि का डर नहीं वरन कलाकार की रोज़ी छिनने का डर है। आप की बात से तो ऐसा प्रतीत होता है कि आप यह स्वीकार करती हैं कि विज्ञान की प्रगति द्वारा कला के क्षेत्र में वह सब उपलब्धियां अनायास ही हो जाती हैं जिनके लिए पहले बहुत परिश्रम करना पड़ता था। क्या इसी से कला की हानि हुई ? यह तर्क तो आप की बात के विपक्ष में जाता है।

कमला—यह उपलब्धियां यंत्र की हैं, मनुष्य की अपनी साधना का परिणाम नहीं।

राकेश—कमला जी, तूलिका भी एक यंत्र है और उसे छूने वाला अपने व्यक्तित्व के स्पर्श से निर्जीव रंगों को सजीव कर देता है। कैमरा भी एक यंत्र है और उसे हाथ में लेने वाला कलाकार भी अपने व्यक्तित्व के स्पर्श से बहुत-कुछ कर सकता है। मैं समझता हूं कि वैज्ञानिक प्रगति ने आज कला को जनसाधारण के बहुत निकट ला दिया है। हम आज के ही नहीं वरन सदियों पहले के कलाकारों की रचनाओं से आज घर बैठे परिचित हो जाते हैं, उनके सम्बन्ध में एक निश्चित दृष्टि बना सकते हैं—और इस तरह आगे के क्षेत्र में और नए प्रयोगों के सम्बन्ध में अपनी एक धारणा भी बना सकते हैं। कला का यह व्यापक प्रचार और प्रसार उन लोगों के लिए इस तरह के विकास की सम्भावनाओं का मार्ग प्रशस्त कर खोल देता है जिन में रचनात्मक प्रतिभा है। इस तरह मैं समझता हूं कि जिस बात से आप को शिकायत है, शायद वह अपने में कला को और जीवन को विज्ञान की एक बहुत बड़ी देन है।

बटुक—राकेश जी, आप ने जो कहा है, वह एक तटस्थ व्यक्ति की भांति कहा मालूम होता है। एक साधक की दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो कहना होगा कि विज्ञान कलाकार की प्रेरणा को आलसी बना देता है। उदाहरण के रूप में चित्रपट के आविष्कार ने अभिनय कला को ठेस पहुंचाई है। कलाकार को बार-बार अभ्यास द्वारा अपनी कला का विकास करने का मार्ग नहीं मिल पाता। एक बार जो चित्र जैसा भी प्रिंट हो गया, वैसा ही चलता रहता है।

राकेश—यहां मैं एक बात कहना चाहता हूं बटुक जी। एक बार जैसा प्रिंट हो गया ठीक है—आप की इस बात से चित्रपट का कोई भी अभिनेता आप से कदापि सहमत नहीं होगा, क्योंकि उसे एक-एक शाट के लिए सारा-सारा दिन कवायद करनी पड़ती है और अपनी पूरी चतुराई से कैमरा की आंख का सामना करते हुए भाव-प्रदर्शन करने पर भी बार-बार सुनना पड़ता है—'कट'।

बटुक—आप की बात से तो यही लगता है कि कलाकार का प्रयत्न कैमरे के कारण असफल होता है न कि उसकी निजी कला की अभिव्यक्ति के कारण। तो क्या कलाकार को अपनी स्वतन्त्र कला से अलग हो कर कैमरे का दास हो जाना चाहिए ?

राकेश—मेरा यह मतलब कभी नहीं था कि उसमें अपराध कैमरे का होता है, बल्कि यह कि चित्रपट के कलाकार को भी बहुत साधना करनी पड़ती है; कई बार उसकी साधना

रंग मंच के किसी भी नए या पुराने सधे हुए कलाकार की साधना से किसी भी रूप में कम नहीं होती। मैं तो यह जानता हूं कि विज्ञान की प्रगति ने कला को क्षति पहुंचाई है तो आखिर कहां ? और किस रूप में ?

कमला—राकेश जी, आप एक कलाकार होने के नाते यह स्वीकार नहीं करना चाहते कि जो कलात्मक रचना आप इस वैज्ञानिक युग में हिन्दी जगत को दे पा रहे हैं, यदि इन वैज्ञानिक आविष्कारों का जमघट आप के सामने न होता तो उससे अधिक सुन्दर कला आप की कलम से निकलती।

राकेश—और शायद कुछ भी न निकलता।

कमला—मेरे विचार में तो विज्ञान ने कला को यंत्रवत बना दिया है। नाट्य-कला और चित्रकला आदि की बात तो क्या, आप वास्तुकला को ही देखें। आज रेखागणित की सहायता ने जो कबूतरखाने उच्च अट्टालिकाओं के स्थान पर खड़े नजर आते हैं और जो एक बरसात का पानी नहीं सहार सकते—यही आज के विज्ञान की वास्तुकला का नमूना है। प्राचीन काल की भवन-निर्माण कला के उच्चतम नमूने बड़े-बड़े ऐतिहासिक भवनों के रूप में सदियों की वर्षा-धूप को सहते हुए आज भी उसी प्रकार सिर ऊंचा किए खड़े हैं। इससे ऐसा लगता है कि सुन्दरता की दृष्टि से अथवा उपयोगिता की दृष्टि से तो विज्ञान ने भवन-निर्माण कला को तनिक भी ऊंचा नहीं उठाया।

महाजन—कमला जी, मैं आप से सहमत नहीं। विज्ञान ने भवन-निर्माण कला को कोई हानि नहीं पहुंचाई। वह तो कलाकारों का ही कसूर है। वैज्ञानिकों ने उन्हें साधन-मात्र दिए हैं, वे जिस तरह चाहें उन्हें प्रयोग में लाएं।

बटुक—महाजन साहब, विज्ञान ने जो साधन दिए हैं वे जड़ हैं। इसीलिए उसने कलाकार जो जड़ को भी चेतन रूप दे देता है, को भी जड़ बनाने की चेष्टा की है। इस प्रकार विज्ञान की प्रगति ने स्पष्टतः ही कला को आघात पहुंचाया है।

राकेश—बटुक जी, कमला जी ने जो बात कही है, उसे मैं एक अंश तक स्वीकार करता हूं। परन्तु आप ने जो बात कही कि वैज्ञानिक प्रगति ने कलाकार को भी जड़ बना देने का प्रयत्न किया है, इससे मैं सहमत नहीं हूं। यह ठीक है कि ज्यों-ज्यों साधनों का विकास होता है, त्यों-त्यों कला के क्षेत्र में नए-नए प्रयोग किए जाते हैं। इन प्रयोगों में से कुछ प्रयोग हलके स्तर के हों, यह संभव है। जिस तरह की भवन-निर्माण कला की कमला जी ने चर्चा की, वह तो मुझे भी नहीं सुहाती। परन्तु कला का एक यही तो क्षेत्र नहीं है, और इस क्षेत्र में भी केवल एक यही तो प्रयोग नहीं है। हमें तो जीवन के व्यापक संदर्भ को दृष्टि में रख कर ही सोचना चाहिए। मैं तो समझता हूं कि चित्रकला की साधना में अपना पूरा समय और पूरा व्यक्तित्व होम कर देने वाले और इसी तरह दूसरी कलाओं में अपने जीवन को समर्पित कर देने वाले बहुत-से कलाकार आज भी हैं और उन के कृतित्व को जड़ कह कर हम निस्संदेह उन के साथ न्याय नहीं करते।

बटुक—मेरा यह आशय नहीं था। अधिक बहस में न जा कर मैं आप के ही एक भारी भरकम शब्द को लेता हूं—जीवन का व्यापक संदर्भ। इस की विस्तृत व्याख्या करते हुए मैं यह कहूंगा कि प्रकृति जिस की गोद में मानव मात्र का—चाहे वह कलाकार हो चाहे वैज्ञानिक,—विकास होता है, उसके प्रति एक वैज्ञानिक की दृष्टि बड़ी निर्मम होती है और कलाकार की बड़ी ममतापूर्ण। जिस वनस्पति की पत्तियां, पुष्प आदि कलाकार के मन को मुग्ध करती हैं और उसके दुख की साथी बन जाती हैं, उसी को एक वैज्ञानिक कुचल कर मसल देता है और

उसके विकास और ह्रास की जांच-पड़ताल करने में लग जाता है। विज्ञान के इस निर्मम प्रहार से निश्चय ही कलाकार की उस संवेदनात्मकता को चोट पहुंचती है, जो मानव-मात्र का गुण है।

राकेश—बटुक जी, यह तो कभी भी नहीं कहा गया था कहा जा सकता कि वैज्ञानिक और कलाकार दोनों एक ही मनोभूमि और भाव भूमि से संचालित हो कर जीवन को देखते हैं।

बटुक—ज़ाहिर है कि दोनों के रास्ते अलग-अलग हैं।

राकेश—मैं इसे भी अस्वीकार नहीं करता, परन्तु मुझे यह स्वीकार नहीं कि एक का रास्ता दूसरे के रास्ते को मिटा कर चलता है। मैं तो समझता हूं कि विज्ञान अपने इस निर्मम निर्मग विश्लेषण के मार्ग पर चलता हुआ ही कलाकार को संवेदना के लिए नई-नई भूमियां प्रस्तुत करता चलता है। जो रंग एक चित्र में जीवन फूंकते हैं, वे अपने में अलग पड़े हुए निर्मम निर्मग रंग ही तो हैं। परन्तु इससे उनकी कला की आत्मा के साथ कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता।

बटुक—यदि आप के कहने का यह आशय है कि प्रत्येक विज्ञान का प्रयोग सिद्ध परिणाम कला का रूप हो जाता है.........

राकेश—रूप नहीं, सामग्री।

बटुक—तब मुझे कोई आपत्ति नहीं, कमला जी को हो तो हो।

कमला—मेरा तो यह मत कि विज्ञान कला की उन्नति में गतिरोध उत्पन्न कर रहा है, अब भी उसी प्रकार दृढ़ है जितना कि इस परिसंवाद से पूर्व था।

राकेश—कमला जी, मैं आपके मत की तो नहीं, परन्तु आप की दृढ़ता की प्रशंसा करता हूं।

कमला—यह दृढ़ता ही तो कला की उन्नति की साधक है।

राकेश—इस का तो यह मतलब है कि कला-साधना और हठधर्मी एक ही चीज़ का नाम है।

कमला—आप जैसा समझें।

महाजन—बटुक जी ने अभी फ़रमाया कि कला और विज्ञान के दो अलग-अलग रास्ते हैं, लेकिन मैं यह कहना चाहता हूं कि रास्ते अलग होंगे लेकिन उद्देश्य दोनों का एक ही है। विज्ञान का कला पर बहुत प्रभाव है, किन्तु दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं। ये अलग-अलग नहीं रह सकते। कला और विज्ञान दोनों को एक साथ जुड़ कर रहना होगा, तभी दोनों प्रगति कर सकते हैं।

बटुक—ठीक है, आप की बात समझौता करने को कहती है। मैं समझता हूं कि जिस प्रकृति से हम सम्बद्ध हैं, उस का मस्तिष्क में प्रतिबिम्ब विज्ञान है और हृदय में प्रतिबिम्ब कला है। हृदय और मस्तिष्क दोनों का योग ही जीवन है। कला और विज्ञान, जीवन को पूर्णता देते हैं।

—जालन्धर से प्रसारित

इन पत्रिकाओं को अपने वाचनालय में सम्मिलित कीजिए